राही मासूम रज़ा के सृजन का आलोचनात्मक अध्ययन

(RAHI MASOOM RAZA KE SRIJAN KA ALOCHNATMAK ADHAYAN)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

कला संकाय

शोधार्थी

अनुकृति तम्बोली

शोध पर्यवेक्षक

डॉ. शशिप्रकाश चौधरी

सह आचार्य

हिन्दी विभाग

राजकीय कला महाविद्यालय कोटा

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

वर्ष 2021

प्रमाण–पत्र

मुझे यह प्रमाणित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि शोध–प्रबंध **''राही मासूम रज़ा के सृजन का आलोचनात्मक अध्ययन''** शोधार्थी **अनुकृति तम्बोली (RS/1437/16)** ने कोटा विश्वविद्यालय, कोटा के कला संकाय में पीएच.डी. (हिन्दी) के नियमानुसार निम्नलिखित आवश्यकताओं के साथ मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है –

1. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार कोर्स वर्क किया है।
2. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के 200 दिन के आवासीय आवश्यकता नियम को पूर्ण किया है।
3. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार समय–समय पर अपने कार्य का प्रगति प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है।
4. शोधार्थी ने विभाग एवं संस्था प्रधान के समक्ष अपना शोधकार्य प्रस्तुत किया है।
5. शोधार्थी ने यू.जी.सी. से अनुमोदित शोध–पत्रिका में शोध–पत्र का प्रकाशन किया है।

मैं इस शोध प्रबंध को कोटा विश्वविद्यालय, कोटा की पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि प्रदत्त किये जाने हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की अनुशंसा करता हूँ।

दिनांक :

शोध पर्यवेक्षक

डॉ. शशिप्रकाश चौधरी
सह आचार्य, हिन्दी विभाग
राजकीय कला महाविद्यालय
कोटा (राजस्थान)

ANTI-PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that Ph.D. Thesis titled **''राही मासूम रज़ा के सृजन का आलोचनात्मक अध्ययन''** by **Anukriti Tamboli (RS/1437/16)** has been examin by us with the following anti-plagiarism tools. We undertake the follows:

a. Thesis has significant new work/Knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim for previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.

b. The work presented is original and own work of the author (i.e. there is no plagiarism). No ideas, processes. Results or words of other have been presented as author's own work.

c. There is no fabrication of data or result which have been complied and analyzed.

d. There is no falsification by manipulation research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or result such that the research is not accurately represented in the research record.

e. The thesis has been checked using '**Urkund**' software and found within limits as per HEC plagiarism policy and instructions issued from time to time.

(Anukriti Tamboli)
Research Scholar
Place : Kota
Date : 08.01.2021

(Dr. Shashi Prakash Choudhary)
Research Supervisor
Place : Kota
Date : 08.01.2021

शोध सार

प्रस्तुत शोध प्रबंध में राही मासूम रज़ा के साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। राही मासूम रज़ा का साहित्य मानवीय संवेदनाओं का साहित्य है। 'आधा गाँव' विभाजन की समस्या पर लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास में जिस अंचल विशेष का वर्णन किया गया है वह अद्वितीय है। 'आधा गाँव' राही मासूम रज़ा का हिन्दी में प्रथम उपन्सास है। प्रथम उपन्यास में उन्होंने जिस परिपक्वता का परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है। राही मासूम रज़ा शब्द चित्र बनाने में माहिर थे। उन्होंने शिया मुसलमानों के जीवन का जो कैनवास रचा है वह अद्‌भूत है। विभाजन का अवसाद और दुःख उनके उपन्यासों का स्थाई भाव है। उनके लेखन में हमें स्थान–स्थान पर मानवीय सरोकारों के दर्शन होते हैं। आपातकाल पर लिखित उनका उपन्यास 'कटरा बी आर्ज़ू' अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का ज्वलंत उदाहरण है। उन्होंने इस उपन्यास के माध्यम से आपातकाल की वास्तविक स्थिति का वर्णन किया है। 'क्रांति–कथा 1857' स्वाधीनता संग्राम पर लिखा गया महाकाव्य है। उन्होंने पद्यमयी भाषा में क्रांति–कथा का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत किया है। भाषा पर राही मासूम रज़ा का अप्रतिम अधिकार था। उनकी भाषा में लचीलापन था। 'महाभारत' के संवादों में इसी कुशलता के दर्शन होते हैं। वे भाषा के मनोविज्ञान को भलीभांति समझते थे। सिने संवाद लेखक के रूप में उन्होंने भारतीय सिनेमा में कई नवीन आयाम स्थापित किए। राही मासूम रज़ा की किस्सागोई की शैली असाधारण थी। इसी कारण उन्होंने दृश्य माध्यमों में कई अभूतपूर्व योगदान दिए। उन्होंने उर्दू में भी लेखन किया। वे कई छद्‌म नामों से भी रचनाएँ लिखते थे। उनकी वैज्ञानिक दृष्टि ऐसे तन्तु ढूँढ लाती थी, जो पाठक को चकित कर देती है। उनके रचना कर्म में विविधता है। साहित्य से लेकर सिनेमा तक, उनका संसार विविधवर्णी है। गंगौली से लेकर बम्बई तक राही मासूम रज़ा के रचनात्मक जीवन में जो उतार–चढ़ाव आए हैं, उनके विविध आयामों से प्रस्तुत शोध प्रबंध सुसज्जित है।

घोषणा शोधार्थी

मैं, अनुकृति तम्बोली (शोधार्थी, हिन्दी विभाग) यह घोषणा करती हूँ कि मेरा यह शोध प्रबन्ध ''राही मासूम रज़ा के सृजन का आलोचनात्मक अध्ययन'', जो मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया है, यह मेरा अपना शोध कार्य है। मैंने यह शोध कार्य डॉ. शशिप्रकाश चौधरी, सह आचार्य (हिन्दी) के निर्देशन में पूर्ण किया गया है। यह मेरा अपना मौलिक कार्य है। मैंने अपने विचारों को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है और जहाँ दूसरे विचारों व शब्दों का प्रयोग किया है। वह मेरे द्वारा मान्य स्त्रोतों से लिया गया है। अपरिहार्य स्थिति में ली गई ऐसी हर सामग्री का यथास्थान संदर्भ एवं आभार व्यक्त कर दिया गया है। जो इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि मैंने विश्वविद्यालय के सभी अकादमिक नियमों का निष्ठा एवं ईमानदारी से पालन किया है तथा किसी तथ्य को गलत रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। मैं समझती हूँ कि मेरे द्वारा किसी भी नियम का उल्लंघन हुआ हो तो, मेरे खिलाफ प्रशासनिक कार्यवाही की जा सकती है। मेरे खिलाफ जुर्माना भी लगाया जा सकता है। यदि मैंने किसी स्त्रोत से बिना उसका नाम दर्शाये या जिस स्त्रोत से अनुमति की आवश्यकता हो, बिना अनुमति के लिया हो।

दिनांक :
स्थान :

अनुकृति तम्बोली
शोधार्थी
(RS/1437/16)

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी अनुकृति तम्बोली (RS/1437/16) द्वारा दी गई उपर्युक्त सभी सूचनाएँ मेरी जानकारी के अनुसार सही हैं।

दिनांक :
स्थान :

शोध पर्यवेक्षक
डॉ. शशिप्रकाश चौधरी
सह आचार्य, हिन्दी
राजकीय कला महाविद्यालय,
कोटा (राजस्थान)

आमुख

यह अनुसंधान हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार और सिनेकर्मी राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व एवं उनके सम्पूर्ण अवदान का विहंगावलोकन एवं विश्लेषण है। राही मासूम रज़ा अप्रतिम प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। उन्होंने अलीगढ़ विश्वविद्यालय से बतौर अनुसंधायक के रूप में अपने अकादमिक जीवन की शुरूआत की थी। राही मासूम रज़ा औपनिवेशिक दौर के सर्वाधिक षड्यंत्रकारी विभाजन के गवाह हैं। भारत का विभाजन एक ऐतिहासिक दुर्घटना है। उन्होंने इस विभाजन को देखा और इसके परिणामों को भुगता है। वे लगातार विपरीत परिस्थितियों से जूझते रहे। इन्हीं संघर्षों एवं विघटनों का परिणाम 'आधा गाँव' नामक कालजयी उपन्यास है। उनकी लेखनी में एक विद्रोह का स्वर मुखर रहता है। उन्होंने साहित्य की हर विधा में अपना रचनाकर्म किया है, जैसे–उपन्यास, नाटिका, कहानी, महाकाव्य, कविता, शायरी। यह उनके जीवन की यात्रा का प्रथम पड़ाव था। जीवन यात्रा के द्वितीय पड़ाव में उनकी रचनात्मक पारी लम्बी है। 1967 के बाद जब उन्होंने अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग से इस्तीफा दिया तो उनके जीवन के नए संघर्षों की शुरुआत हुई। बम्बई सतरंगी बम्बई जिसका सपना सभी देखते हैं। जब वह बम्बई गए तो शुरुआती दिन बड़े कष्टप्रद थे, फिर भी उन्होंने अपना रचना कर्म नहीं त्यागा। उन्होंने वहाँ सिने संवाद लेखक के रूप में स्वयं को स्थापित किया। जीवन की इस यात्रा में धर्मवीर भारती और कमलेश्वर दो ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने राही मासूम रज़ा का मनोबल बढ़ाया। इसके बाद राही मासूम रज़ा ने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। उन्होंने पच्चीस वर्षों से अधिक सिनेमा में संवाद लेखक के रूप में कार्य किया। उन्हें तीन प्रतिष्ठित फिल्मों के लिए सिने संवाद लेखक का पुरस्कार प्रदान किया गया। फिल्म के संवाद लेखन तक ही नहीं बल्कि दूरदर्शन के प्रतिष्ठित धारावाहिक 'महाभारत' की पटकथा और संवाद लेखन का कार्य भी राही मासूम रज़ा ने ही किया था। इसके अतिरिक्त 'नीम का पेड़' धारावाहिक की पटकथा और संवाद भी राही मासूम रज़ा ने ही लिखे थे।

साहित्य और सिनेमा दोनों ही विधाओं में राही मासूम रज़ा ने अपनी अमिट छाप छोड़ी। सिनेमा में निरन्तर कार्य करते हुए भी वे साहित्य को प्राथमिकता देते थे। उनका रचनाकर्म अनवरत चलता रहा। राही मासूम रज़ा सामासिक संस्कृति के पक्षधर थे। वे गंगा को अपनी माता मानते थे। वे कहते थे, ''मैं तीन माँओं का बेटा हूँ, नफीसा बेगम, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी और गंगा। यह सीन : 75 (उपन्यास) अपनी तीनों माँओं को भेंट करता हूँ। नफ़ीसा बेगम मर चुकी हैं। अब साफ याद नहीं आतीं। बाकी दोनों माँए जिन्दा हैं और याद

भी हैं।'' राही मासूम रज़ा को गंगा मइया से बहुत प्रेम था, शायद इसीलिए 'महाभारत' की पटकथा और संवाद लिखते समय भीष्म उनकी चेतना में सबसे अधिक रहे। उन्होंने 'वसीयत' नाम से एक कविता लिखी थी। यह कविता उनकी मनःस्थिति का जीवन्त सबूत है।

''मुझे ले जाके गाज़ीपुर में गंगा की गोद में सुला देना।
वो मेरी माँ है, वह मेरे बदन का जहर पी लेगी।
मगर शायद वतन से दूर, इतनी दूर मौत आए
जहाँ से मुझको गाज़ीपुर ले जाना न मुमकिन हो तो
फिर मुझको
अगर उस शहर में छोटी–सी इक नदी भी बहती हो
तो मुझको उसकी गोदी में सुलाकर
उससे कह देना
कि गंगा का बेटा आज से तेरे हवाले है।''

राही मासूम रज़ा का लेखन धार्मिक ध्रुवीकरण के विरूद्ध एक सतत संघर्ष है। वे सामासिक संस्कृति को हिन्दुस्तान की विरासत मानते थे। उनकी लेखन से यह बात प्रबल रूप से स्पष्ट होती है कि वे विभाजन के विरूद्ध थे। देश की अराजक स्थिति उन्हें बहुत विचलित करती थी। वे कभी भी असत्य के विरूद्ध आवाज़ उठाने से नहीं डरते थे। फिर चाहे वो विभाजन हो, आपातकाल हो, 1986 के सिक्खों के नरसंहार हों, वे कभी भी अपना लेखकीय कर्त्तव्य निभाने से नहीं चूके। वे राष्ट्र को धर्म से ऊपर मानते थे। वे भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता थे। परम्परागत भारतीय मानस में उनकी पैठ गहरी थी। राही मासूम रज़ा एक ऐसे लेखक थे, जिन्होंने अपनी मसि से साहित्य ही नहीं अपितु सिनेमा में भी अपना रचनात्मक और स्मरणीय योगदान दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में राही मासूम रज़ा के सम्पूर्ण साहित्य को अध्ययन का आधार बनाया गया है। इसके साथ ही सिनेमा और दूरदर्शन में उनके योगदानों का विवेचन भी किया गया है। मेरी जानकारी के अनुसार राही मासूम रज़ा के सम्पूर्ण साहित्य के साथ उनके भारतीय सिनेमा में योगदान को लेकर कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। जब मेरा मन शोध करने के लिए प्रवृत्त हुआ तो किस विषय, किस कवि या लेखक पर यह कार्य करना चाहिए? यह प्रश्न मेरे लिए महत्त्वपूर्ण था। फिर जब मैंने राही मासूम रज़ा पर अपना शोधकार्य करने की मानसिकता बनाई तो मेरे गुरुजी डॉ. शशिप्रकाश चौधरी सर ने इस कार्य पर मोहर लगा दी। राही मासूम रज़ा के साहित्य पर शोध करने का एक प्रमुख कारण उनकी भाषा भी थी। उनकी भाषा में जो विविधता है, वह अवधी मिश्रित भोजपुरी का प्रयोग

करते हैं, तो 'महाभारत' के संवादों में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का। उनकी रचनात्मकता का कोई अनन्वय नहीं है। वे उर्दू में भी अपनी रचनात्मकता सिद्ध कर सकते हैं और हिन्दी में भी। हिन्दी साहित्य में ऐसे लेखक कम ही हुए हैं जो ऐसी रचनात्मकता का परिचय देते हैं। इस अर्थ में वे प्रेमचंद के वंशधर हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबंध का अध्ययन आठ अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। राही मासूम रज़ा का सफर गंगौली से बम्बई तक का कैसा था। इसका अध्ययन इस अध्याय का विवेच्य है। बचपन से वे किन परिस्थितियों से प्रभावित थे। उनकी राजनीतिक विचार धारा क्या थी? वे कौनसी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण उन्हें अलीगढ़ विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। मूलतः इस अध्याय में उनकी सम्पूर्ण जीवन यात्रा का विवेचन और विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में 'आधा गाँव' के रचना प्रक्रिया की विवेचना की गई। विभाजन भारतीय उपमहाद्वीप की एक त्रासदी है। इस त्रासदी से भारतीय समाज किस प्रकार पीड़ित था। 'आधा गाँव' उपन्यास में शिया मुसलमानों के आन्तरिक जीवन की पीड़ा उनके अनुभवों का चित्रण किया गया है। इसके साथ ही विभाजन पर लिखित प्रमुख पाँच उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।

तृतीय अध्याय में राही मासूम रज़ा द्वारा लिखित उपन्यास 'कटरा बी आर्ज़ू' की समीक्षा की गई है। इसके साथ आपातकाल पर हिन्दी साहित्यकारों की क्या प्रतिक्रियाएँ थीं, उसका अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में 'क्रांति कथा 1857' का अध्ययन किया गया है। राही मासूम रज़ा ने 'क्रांति कथा 1857' महाकाव्य को सर्वप्रथम उर्दू में लिखा था। इसके पश्चात् इसका लिप्यन्तरण किया गया। भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है।

पाँचवें अध्याय में राही मासूम रज़ा के भारतीय सिनेमा में योगदान का अध्ययन किया गया है। उन्होंने जब 'महाभारत' के संवाद लिखे तो उनको किन–किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा तथा धारावाहिक लेखन में भी राही मासूम रज़ा की क्या भूमिका रही, उसकी विवेचना की गई है।

छठे अध्याय में राही मासूम रज़ा के लिखे उपन्यासों की कथाभूमि की समीक्षा की गई है। उन्होंने अलग–अलग विषयों पर उपन्यास लिखे हैं, जिसका सम्पूर्ण विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

सातवें अध्याय में राही मासूम रज़ा के स्तम्भ लेखों अर्थात् कथेतर गद्य का अध्ययन किया गया है। उन्होंने 'सारिका', 'गंगा', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', और 'प्रतिमान' विभिन्न पत्रिकाओं में स्तम्भ लिखे। इन स्तम्भों का संकलन 'सिनेमा और संस्कृति', 'लगता है बेकार गए हम', 'खुदा हाफ़िज कहने का मोड़' पुस्तकों में किया गया है।

आठवें और अंतिम अध्याय 'उपसंहार' है, जिसमें समस्त अध्यायों का निष्कर्ष एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इस शोध प्रबंध के अंत में राही मासूम रज़ा द्वारा हस्तलिखित आलेख की प्रतिलिपि भी सम्मिलित की गई है। अंत में सहायक संदर्भ ग्रंथों की सूची भी प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में उर्दू के शब्दों को उसके हिज्जे और नुक्ते के मूल रूप में ही रखा गया है।

इस शोध प्रबंध की यात्रा में मेरे गुरुजी डॉ. शशिप्रकाश चौधरी ने पूरे मनोयोग से मार्गदर्शन किया, फिर चाहे वह पुस्तकों को लेकर हो या किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति से मिलना हो। मैं जब भी गुरुजी के पास जाती तो वह मेरा मनोबल बढ़ाते और कहते, ''बेटा पीएच. डी. एक तपस्या है।'' उनका आशीर्वाद मुझ पर शुरू से ही रहा है। जब भी शोध करने में कठिनाई या विमुख होने की स्थिति आती तो वे कहते, ''बेटा तुम्हारे हीरो राही मासूम रज़ा हैं। उनके साथ न्याय तुम ही कर सकती हो।''

मेरे पिता डॉ. प्रकाश कुमार तम्बोली और माता श्रीमती रेणुका तम्बोली ने कदम–कदम पर मेरी परछाई बन कर साथ दिया। मेरे भाई अनुराग और बहिन अनुजा ने भी मनोबल बढ़ाने में कोई कमी नहीं रखी। मेरे चाचा जी डॉ. प्रदीप कुमार तम्बोली (सह आचार्य वाणिज्य महाविद्यालय, कोटा) और चाची जी डॉ. अनिता तम्बोली (सह आचार्य जा. दे.ब.कन्या महाविद्यालय, कोटा) तथा डॉ. रामलाल कुमावत (सह आचार्य वाणिज्य कन्या महाविद्यालय, कोटा) के मार्गदर्शन से मैंने अपनी शोध यात्रा को पूर्णाहुति तक पहुँचाया। आज ईश्वर की कृपा से मेरा यह कार्य पूर्ण हो गया। इस यात्रा में डॉ. कुँवरपाल सिंह जी की सगुण स्मृति नमिता सिंह जी से मिलने अलीगढ़ भी गई, जहाँ मुझे राही मासूम रज़ा के बारे में कई महत्वपूर्ण तथ्यों का पता चला। मैंने नमिता सिंह जी का एक लम्बा साक्षात्कार भी लिया। इसके अतिरिक्त मैंने जोधपुर की यात्रा भी की। जोधपुर विश्वविद्यालय और 'आधा गाँव' उपन्यास का नाभिनाल संबंध रहा है। जब 'आधा गाँव'' को नामवर सिंह जी ने

जोधपुर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगवाया तो एक विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसके साक्षी रहे प्रो. जहूर खाँ मेहर (आचार्य, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय)। प्रो. जहूर खाँ से मिलने का सौभाग्य स्व. जुगल परिहार जी ('माणक' पत्रिका–उपसंपादक) के सानिध्य से मिला। प्रो. जहूर खाँ मेहर ने उन महत्वपूर्ण घटनाओं से मेरा परिचय करवाया, जिनसे इस विवाद को तूल मिला था। जोधपुर विश्वविद्यालय उन दिनों 'आधा गाँव' के कारण अखिल भारतीय चर्चाओं के केन्द्र में रहा। संभवतया 'आधा गाँव' ऐसी पहली कृति थी, जिसका विवाद सम्पूर्ण साहित्य में चर्चा का विषय रहा था।

इस शोध प्रबंध को पूर्ण करने में मुझे चार वर्षों का समय लगा। इस यात्रा में जिन मित्रों, सहयोगी और परिवार जनों ने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से साथ दिया, मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

दिनांक :

अनुकृति तम्बोली
शोधार्थी
हिन्दी विभाग
राजकीय कला महाविद्यालय,
कोटा (राज.)

राही मासूम रज़ा

1 सितम्बर 1927 – 15 मार्च 1992

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय **1—20**

राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं सृजन

व्यक्तित्व — 1.1 नाम, जन्मतिथि एवं जन्म स्थान

1.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि

1.3 शिक्षा—दीक्षा एवं कार्यक्षेत्र

1.4 विचार एवं संस्कृति

1.5 विविध पुरस्कार, सम्मान एवं उपलब्धियाँ

कृतित्व — 1.6 लेखन की ओर रूझान एवं युगीन परिवेश

1.7 अध्यापन कार्य

1.8 सिनेकर्म एवं दूरदर्शन धारावाहिक लेखन

1.9 उपन्यास एवं कथेतर आख्यान

1.10 स्तम्भ लेखन

द्वितीय अध्याय **21—50**

विभाजन की त्रासदी पर राही मासूम रज़ा का सृजन — 'आधा गाँव'

2.1 आधा गाँव की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

2.2 गंगौली की झाँकी

2.3 विभाजन का दर्द

2.4 राही मासूम रज़ा का भाषा प्रयोग

2.5 विभाजन पर रचित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

2.6 'आधा गाँव' उपन्यास एवं पाठ्यक्रम विवाद

तृतीय अध्याय **51—70**

संकटकाल और साहित्य—राही मासूम रज़ा की दृष्टि में

3.1 कटरा बी आर्ज़ू — आपातकाल का साहित्यिक अभिलेख

3.2 आपातकाल — भारत के लोकतंत्र का काला अध्याय

3.3 आपातकाल की भयावता व आमजन की प्रतिक्रिया

3.4 आपातकाल की कचोटती याद — राही मासूम रज़ा की दृष्टि में

3.5 आपातकाल — अभिव्यक्ति के खतरे

3.6 आपातकाल — हिन्दी साहित्यकारों के प्रतिरोध एवं समर्पण

चतुर्थ अध्याय **71—91**

राही मासूम रज़ा की चिन्तनभूमि में 'क्रांति कथा—1857'

4.1 1857 — जातिय प्रतिरोध एवं संघर्ष का संयुक्त मोर्चा

4.2 'क्रांति—कथा 1857' की मनोभूमि

4.3 1857 की ऐतिहासिक जनक्रांति

4.4 1857 आमजन की भागीदारी

पंचम अध्याय **92—106**

दृश्य माध्यमों के प्रयोगधर्मी पुरुष — राही मासूम रज़ा

5.1 मैं समय हूँ — गंगौली का राही मासूम रज़ा

5.2 महाभारत — संवाद लेखन एक चुनौती

5.3 सिनेकर्म सेमिक्रिएटिव कार्य — राही मासूम रज़ा की दृष्टि में।

5.4 सिनेमा और संस्कृति — समन्वय की चुनौती

5.5 राही मासूम रज़ा का हिन्दी सिनेमा को योगदान

षष्टम् अध्याय **107–148**

राही मासूम रज़ा के उपन्यासों की कथाभूमि की समीक्षा

6.1 हिम्मत जौनपुरी
6.2 टोपी शुक्ला
6.3 दिल एक सादा कागज
6.4 असंतोष के दिन
6.5 ओस की बूँद
6.6 सीन पिचहत्तर
6.7 नीम का पेड़

सप्तम् अध्याय **149–157**

राही मासूम रज़ा के कथेतर गद्य

7.1 सिनेमा और संस्कृति – वैचारिकी
7.2 लगता है बेकार गए हम – व्यंग्यात्मक निबंध
7.3 ख़ुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़

अष्टम् अध्याय – उपसंहार **158–161**

शोध सार **162–166**

संदर्भ ग्रन्थ सूची **167–171**

शोध आलेख –

(i) पत्रिका 'अक्सर'–''यात्रा वृतान्त 'आधा गाँव' के खोये पलों की खोज में जोधपुर प्रवास''
(ii) पत्रिका 'दृष्टिकोण'–''राही मासूम रज़ा की चिन्तन भूमि में क्रांतिकथा–1857''

परिशिष्ट –

(अ) स्व. कुँवरपाल सिंह जी की पत्नी श्रीमती नमिता सिंह जी से राही मासूम रज़ा के संदर्भ में लिया गया साक्षात्कार का सार
(ब) राही मासूम रज़ा द्वारा हस्तलिखित कुछ आलेख
(स) साक्षात्कार के छायाचित्र

***

प्रथम अध्याय

राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं सृजन

व्यक्तित्व – 1.1 नाम, जन्म तिथि एवं जन्म स्थान

1.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि

1.3 शिक्षा–दीक्षा एवं कार्यक्षेत्र

1.4 विचार एवं संस्कृति

1.5 विविध पुरस्कार, सम्मान एवं उपलब्धियाँ

कृतित्व – 1.6 लेखन की ओर रूझान एवं युगीन परिवेश

1.7 अध्यापन कार्य

1.8 सिनेकर्म एवं दूरदर्शन धारावाहिक लेखन

1.9 उपन्यास एवं कथेतर आख्यान

1.10 स्तम्भ लेखन

व्यक्तित्व

1.1 नाम, जन्म तिथि एवं जन्म स्थान :–

आंचलिक उपन्यास के प्रयोक्ता, सिनेकर्मी, संवाद लेखक एवं प्राध्यापक राही मासूम रज़ा का अवतरण 1 अगस्त, 1927 को हुआ था, परन्तु हाई स्कूल के प्रमाण पत्र के अनुसार यह तिथि 1 सितम्बर, 1927 है। इस संबंध में स्वयं राही मासूम रज़ा ने कहा है, ''राजकमल वालों ने मेरी उम्र एक महीना कम कर दी है। मेरा जन्म 1 सितम्बर को नहीं, 1 अगस्त, 1927 को हुआ था। इसी तारीख को मैं चुपचाप अपना जम्मदिन भी मनाता हूँ।''[1] राही मासूम रज़ा का जन्म उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर के बगुही गाँव में नाना के यहाँ हुआ था। जन्म से ही राही मासूम रज़ा को प्रगतिशील व धार्मिक वातावरण का सानिध्य मिला। राही मासूम रज़ा का जन्म के समय नाम सय्यद मासूम रज़ा आबिदी रखा गया था, जो कालान्तर में परिवर्तित होकर राही मासूम रज़ा हो गया।

1.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि :–

राही मासूम रज़ा के पिता सय्यद बशीर हुसैन आबिदी थे। जो उत्तर प्रदेश के प्रसिद्व वकील होने के साथ–साथ गंगौली के ज़मींदार भी थे। ''उनके पिता ने गाज़ीपुर में गंगा के किनारे चौबीस कमरों का मकान बनाया था। जिसमें तीन बड़े आँगन थे।''[2] राही मासूम रज़ा की माता नफ़ीसा बेगम थीं। जिनकी मृत्यु राही मासूम रज़ा के बचपन में ही हो गई थी। इसके बाद ''राही का लालन पालन उनकी दादी ने किया था। जिसे वह दद्दा के नाम से पुकारते थे।''[3] उन्होंने 'सीन–75' उपन्यास की भूमिका में लिखा है,''मैं तीन माँओं का बेटा हूँ। नफ़ीसा बेगम, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी और गंगा। यह 'सीन–75' अपनी तीनों माँओं को भेंट करता हूँ। नफ़ीसा बेगम मर चुकी हैं। अब साफ़ याद नहीं आती। बाकी दोनों माएँ जिन्दा हैं और याद भी है।''[4] राही मासूम रज़ा जीवन के अंतिम समय तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय और गंगा को अपनी माँ मानते रहे और उनके लेखन से यह कभी दूर नहीं हो पाईं। वह मानते थे कि जो कुछ भी है वह उनकी माता के आशीर्वाद से है।

राही मासूम रज़ा के चार भाई व पाँच बहनें थीं। राही मासूम रज़ा अपने चार भाइयों में दूसरे स्थान पर आते है। ''बड़े भाई प्रो. मूनिस रज़ा, उनसे छोटे प्रो. मेंहदी रज़ा और सबसे छोटे अहमद रज़ा हैं। प्रो. मूनिस रज़ा आरम्भ में कम्यूस्टि पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गए और उन्होंने किसान और मज़दूर आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाद में वह जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय दिल्ली के कुलपति और समाज विज्ञान

संस्थान के अध्यक्ष रहे। जुलाई, 1994 में उनका देहान्त हो गया। प्रो. मेहन्दी रज़ा भूगोल विभाग के अध्यक्ष रहे और अब सेवानिवृत्त होकर अलीगढ़ में ही रह रहे हैं। चौथे भाई डॉ. अहमद रज़ा अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष वांशिगटन में भारतीय विभाग के प्रभारी रहे। उनकी गणना देश के प्रमुख अर्थशास्त्रियों में होती है।''[5] ''राही मासूम रज़ा की पाँच बहनें हैं, बाकरी बेग़म, क़मर जहाँ, मैहर जहाँ, अफ़सरी बेगम तथा सबसे छोटी बहन सुरय्या।''[6] ''मुनिस रज़ा और राही मासूम रज़ा ने अपनी छोटी बहन (सुरय्या) को विश्वविद्यालय की शिक्षा दिलवायी और वह इतिहास में एम.ए. व पीएच.डी. हैं और पढ़ा रही हैं। दोनों भाइयों ने आबिदी परिवार की सारी रूढ़ियों, बंधनो को तोड़कर बहिन की नौकरी करने में मदद की। हालाँकि उनके परिवार का भारी विरोध था। सुरय्या के इन कारनामों का जिक्र 'आधा गाँव' में कई बार आया है।''[7]

''राही मासूम रज़ा का विवाह 18 वर्ष कि आयु में परिवार की सहमति से फैजाबाद की महरबानों के साथ हुआ।''[8] जिसकी अवधि मात्र तीन वर्ष थी, क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की समानता नहीं थी। इस कारण विवाह विच्छेद हो गया। ''राही मासूम रज़ा ने दूसरा विवाह श्रीमती नैय्यर जहाँ के साथ 1965 के अंत में किया। उनके पहले पति कर्नल युनूस से तीन लड़के हैं। नदीम जो फ़िल्मी फोटोग्राफार हैं और उनकी पत्नी पार्वती खान पॉप–सिंगर हैं। दूसरे पुत्र इरफ़ान खान उद्योगपति हैं और मुम्बई में रहते हैं। तीसरे पुत्र आफ़ताब एक विदेशी बैंक में अधिकारी है और हांगकांग में रहते हैं। राही की एकमात्र पुत्री मरियम रज़ा अपने पति मज़ाज मूनिस के साथ अमेरिका में रहती हैं।''[9] नैय्यर जहाँ से विवाह के बाद अलीगढ़ विश्वविद्यालय में राही मासूम रज़ा का विरोध बहुत बढ़ गया। नैय्यर जहाँ रामपुर के घराने की बेटी थी। वर्तमान में राही मासूम रज़ा पत्नी नैय्यर रज़ा अमेरिका में अपनी बेटी मरियम के पास रहती है। आजकल उनकी तबियत बहुत खराब है। वे अभी वेन्टीलेटर पर चल रही हैं।

राही मासूम रज़ा विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में अस्थायी प्राध्यापक के रूप मे कार्य कर रहे थे। जब विश्वविद्यालय में उनका साक्षात्कार स्थायी प्राध्यापक के लिए हुआ तो उन्हें चयन समिति द्वारा निष्कासित कर दिया गया चूंकि यह सब प्रायोजित था और इसका आधार सिर्फ यह था कि उन्होंने नैय्यर जहाँ से विवाह कर लिया था। अंत में राही मासूम रज़ा ने मुक़दमा भी किया परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। राही मासूम रज़ा ने बहुत प्रयास किये कि वह दिल्ली या लखनऊ में प्राध्यापक हो जाएँ, परन्तु उन्हें किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली। ''राही मासूम रज़ा सारी जिन्दगी टीचर की हैसियत से रहना चाहते थे। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी उन्हें बहुत अज़ीज थी। अलीगढ़ छोड़ने का मलाल

उन्हें जिन्दगी भर रहा।''[10] नैय्यर जहाँ से विवाह के बाद उनको समाज से निष्कासित भी कर दिया गया था। दोनों के परिवारों से किसी प्रकार की सहानुभूति उन्हें प्राप्त नहीं थी। हालाँकि उन्हें दिल्ली आकाशवाणी में आठ सौ रूपये की मासिक नौकरी जरूर मिली, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं की। सन् 1967 में राही मासूम रज़ा अलीगढ़ से बम्बई चले गये। बम्बई लिए उनके नया संघर्ष था। ''प्रसिद्व निर्माता निर्देशक आर. चन्द्रा अलीगढ़ के थे और राही से परिचित थे। उन्होंने बम्बई में भाग्य आजमाने की सलाह दी।''[11] यह ऐसा समय था जब हिन्दी साहित्य के कई प्रतिष्ठित साहित्यकार, संवाद लेखक के रूप में अपनी पहचान बनाने की कोशिश कर रहे थे। प्रेमंचद से लेकर फणीश्वरनाथ 'रेणु' तक, परन्तु राही मासूम रज़ा एकमात्र व्यक्ति थे जो बम्बई में रहे और जिन्होंने सफल संवाद लेखक के रूप में पहचान बनाई। ''कृष्ण चंदर के अतिरिक्त उन्हें सब अपना विरोधी समझने लगे। जो शायर थे वह कहने लगे तुम शायरी नहीं डायलॉग लिखो और संवाद लेखकों ने शायरी नहीं संवाद लेखन के क्षेत्र में भाग्य आजमाने की सलाह दी। केवल हिन्दी के दो साहित्यकारों ने राही की बहुत मदद की कमलेश्वर और 'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती।''[12] इन विपरित परिस्थितियों के पश्चात भी राही मासूम रज़ा ने संघर्ष का मैदान नहीं छोड़ा, उन्होंने संघर्षों की आग में तप कर स्वयं को पारस बना लिया।

1.3 शिक्षा–दीक्षा एवं कार्यक्षेत्र :–

राही मासूम रज़ा की प्रारंम्भिक शिक्षा गाज़ीपुर के राजकीय विद्यालय से शुरु हुई। यू.पी. बोर्ड से हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। शेष उच्च शिक्षा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पूर्ण की, परन्तु 14 वर्ष की आयु तक बीमार पड़ने के कारण पढ़ाई का सिलसिला बनता बिगड़ता रहा। उन्हें बचपन में अस्थिक्षय रोग हो गया था। जिसके कारण शिक्षा नियमित नहीं हो पाई। राही मासूम रज़ा को शायरी का शौक बचपन से था। ''शायरी के साथ राही स्वाध्याय भी करते थे और हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की लेकिन टी.बी. की बीमारी ने फिर हमला बोला। इस बार राही कश्मीर भेजे गये और तीन साल तक उनका इलाज चलता रहा। कश्मीर में राही ने शायरी में परिवर्तन किया। अब प्रकृति भी उनकी शायरी का हिस्सा हो गई। कला का भी उनकी शायरी पर व्यापक प्रभाव पड़ा। देश की विख्यात चित्रकार किशौरी पौल के सानिध्य और मित्रता का व्यापक प्रभाव पड़ा। वर्षों वह उनकी निकटतम मित्र रही और एक दूसरे की रचनाओं और कृतियों को प्रभावित किया।''[13] उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा अलीगढ़ विश्वविद्यालय से पूरी की। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग से राही मासूम रज़ा ने 1963 में अपना शोध कार्य 'तिलिस्मे होशरूबा में भारतीय संस्कृति और सभ्यता' के अध्ययन पर पूर्ण किया।

''1949–1950 में कुछ दिनों यू.पी. यूनियन बैक में नौकरी की।''[14] राही मासूम रज़ा के पिता के दोस्त जो बैंक में अधिकारी थे, उनकी मदद से यह नौकरी लगी। राही मासूम रज़ा का मन विपणन क्षेत्र में नहीं लगा। इस कारण उन्होंने यह नौकरी छोड़ दी। इसके पश्चात् उन्होंने अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के रूप में चार वर्ष अध्यापन कार्य किया। राही मासूम रज़ा की पहचान उर्दू शायर के रूप में हो चुकी थी। राही मासूम रज़ा का व्यक्तित्व शायराना था। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में राही उर्दू विभाग में अस्थायी प्राध्यापक थे, उनकी नियुक्ति स्थायी नहीं थी। 1965 में जब राही मासूम रज़ा ने नैय्यर जहाँ से विवाह कर लिया तब विश्वविद्यालय में तूफान आ गया। राही के व्यक्तित्व से सभी ईर्ष्या करते थे, अब उनको एक जरिया मिल गया राही मासूम रज़ा के खिलाफ षड्यंत्र करने का। जब राही मासूम रज़ा ने स्थायी नियुक्ति के लिए साक्षात्कार दिया, तब उन्हें अंतिम सूची में चयनित नहीं किया गया। ''इसके लिए वे अली यावर जंग (तत्कालीन कुलपति) प्रो. आले अहमद सुरूर (तत्कालीन विभागाध्यक्ष) प्रो. नुरूल हसन (तत्कालीन डीन, कला संकाय) को जिम्मेदार मानते थे, इन पर वे जीवन पर्यन्त व्यंग्य करते रहे। उन्हें विश्वविद्यालय से निकालते समय ये आरोप लगाया गया था कि उन्होंने साक्षात्कार बहुत खराब दिया है, इससे राही बहुत व्यथित थे। चयन समिति में प्रोफेसर मसुद हसन खाँ (उस्मानिया विश्वविद्याललय हैदराबाद), प्रो. अख़तर उरेनवी बाहरी विशेषज्ञ थे। जिस भी व्यक्ति को निकालना होता है तो कह दिया जाता है कि साक्षात्कार खराब दिया है। भारत के विश्वविद्यालयों में यह परम्परा आज भी जारी हैं।''[15] अंत में वह हार कर बम्बई चले गए। आरम्भ के वर्ष राही मासूम रज़ा के संधर्ष भरे थे। ''वहाँ उनके पाँच साल बहुत बुरे गुजरे। आर्थिक अभाव एवं दूसरी परेशनियाँ थी।''[16] संघर्ष, राही मासूम रज़ा का आजीवन दूसरा पर्याय बन कर रहा। राही मासूम रज़ा को अलीगढ़ छोड़ने का दुःख आजीवन रहा। इस विषय में उनकी पत्नी नैय्यर रज़ा कहती हैं, ''नहीं मुझे अलीगढ़ छोड़ने का कतई मलाल नहीं। जो कुछ हुआ अच्छा ही हुआ। मासूम ने अगर अलीगढ़ न छोड़ा होता तो वे वो राही न होते जो वे अदब में आज हैं। रोजी–रोटी से लेकर लेखक के रूप में स्थापित होने तक के लिए जो उन्होंने स्ट्रगल किया, उसने अदब में एक लेखक के रूप में तथा सामाजिक और संस्कृति के क्षेत्र में एक चिन्तक और विचारक के रूप में हिन्दुस्तान को एक अमर व्यक्तित्व दिया है।''[17]

1.4 विचार एवं संस्कृति :–

राही मासूम रज़ा को बचपन से ही समृद्व वातावरण मिला। राही मासूम रज़ा का पैतृक घर गंगौली में दक्षिण पट्टी के शिया सय्यदों में सबसे बड़ा था। उनकी परवरिश ऐसे

उन्मुक्त वातावरण में हुई थी, जहाँ राष्ट्र सर्वोपरि और व्यक्तिगत–जातिगत विभिन्नताएँ, राष्ट्र की विशेषताओं की तरह देखी जाती थी। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी के घड़े को अपने अनुसार ढाल कर मनचाहा रूप प्रदान करता है। उसी प्रकार राही मासूम रज़ा को संघर्ष और विपरीत परिस्थितियों ने अपनी आँच में पका कर मजबूत व्यक्तित्व प्रदान किया। राही मासूम रज़ा ज़मींदार परिवार से थे, इसलिए उनके व्यक्तित्व में आत्मसम्मान की झलक स्वाभाविक थी। जब अलीगढ़ विश्व विद्यालय में पाँच वर्ष के अध्यापन कार्य के बाद उन्हें विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया तब उन्होंने उर्दू विभाग पर मुकदमा भी किया। उनके व्यक्तित्व में कर्मठता थी। ''छोटे जमींदारों की दुनिया में जैसी आन–बान, रोब दाब और सज–धज होती है, किसी से अपने को छोटा न समझना, किसी से मरऊब न होना, किसी के आगे सिर नहीं झुकाना, किसी के आगे न गिड़गिड़ाना राही मासूम रज़ा का बुनियादी किरदार था। किसी से दबते नहीं थे। बड़े से बड़े अदीब या शायर या प्रोडयूसर डायरेक्टर से उनके ताल्लुकात बराबरी के ताल्लुकात था। उनका ये अंदाज उम्र भर कायम रहा।''[18]

राही मासूम रज़ा को उर्दू का ज्ञान घर पर ही प्राप्त हुआ था। बचपन से ही उर्दू शायरी लिखने लगे थे। गंगौली में मुहर्रम पर मजलिस पढ़ने की अपनी एक अलग परम्परा रही है। जिसका वर्णन 'आधा गाँव' में बखूवी किया गया है। मजलिस में नोहा पढ़ना उनका बचपन से शौक रहा है। बाल्यकाल मे अस्थिक्षय रोग हो जाने के कारण ज्यादातर समय घर पर ही व्यतीत हुआ। घर पर रहते हुए भी वह पुस्तकें पढ़ते थे। जब वह बीमारी से ठीक हुए तो उनकी व्यापक शिक्षा प्रारम्भ हुई। धार्मिक शिक्षा के लिए मौलवी उन्हें घर पर पढ़ाने आते थे। उन्होंने 'महाभारत' का उर्दू में संस्कारण भी पढ़ लिया था। जिसका प्रतिफल हमें 'महाभारत' के संवाद लेखक के रूप में मिला। राही मासूम रज़ा बचपन से ही विद्याव्यसनी थे। उनके विचारों को उनके आस–पास के वातावरण ने समृद्व किया।

राही मासूम रज़ा समन्वित संस्कृति के पक्षधर थे। उन्होंने विस्थापन के दर्द को झेला था। वे कहते थे कि 1947 को भारत का विभाजन होना शुरू हुआ है। जो न जाने कब तक होता रहेगा। उनके लेखन में सांझी विरासत के दर्शन हर जगह देखने को मिलते हैं। राही बड़े जीवट के व्यक्तित्व थे। उन्होंने कभी परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं किया। जो भी कहा वह डंके की चोट पर कहा। ''उनकी शख्सियत में बग़ावत का रूझान उस जमाने में भी था, यानि किसी दूसरे के पीछे न चलना, बल्कि अपना रास्ता खुद बनाने की हिम्मत। ये कहा जा सकता है कि वो रैडिकल थे। सरेआम अपनी राय का का इज़हार कर सकते थे। सख्त से सख्त और कड़वी से कड़वी बात कहने की हिम्मत थी। रवायतों को तोड़ने में उन्हें मज़ा आता था।"[19] राही मासूम रज़ा स्वाभिमानी और प्रगतिशील व्यक्ति

थे। असगर वजाहत ने राही मासूम रज़ा से हमारी मुलाकात कुछ इन शब्दों में करवाई है, ''राही मासूम रज़ा के दुश्मनों की कमी नहीं थी। क्यों न होती एक तो नामी गिरामी शायर, दूसरे चाल में वो लड़कपन की लड़कियाँ फ़िदा हो जाये, तीसरा ये के मुंह खोले तो फूल झड़े, चौथा ये कि अगर किसी को छेड़ दे तो जिन्दगी भर तड़पा – तड़पा फिरता रहे, अब ऐसे आदमी के दुश्मन नहीं होंगे तो क्या हमारे आपके होंगें।''[20] ''उनकी चाल में हल्की सी लंगड़ाहट हुआ करती थी, इस लंगड़ाहट को कुछ इस तरह भी कहा जा सकता है कि मेरे महबूब की चाल में है जो लंगड़ापन। कहने का मतलब यह है कि इस आदमी की चाल का लंगड़ापन एक अदा थी।''[21]

राही मासूम रज़ा की वैचारिक पृष्टभूमि, उनके व्यक्तिगत और सामाजिक संघर्षों से निर्मित थीं। उनका व्यक्तित्व उदार था। राजनीति के मुद्दों पर भी उनकी पैनी नजर रहती थी। वह किसी तथ्य को जब तक गहराई से विचार कर नहीं सोचते थे, तब तक उसकी सहमति नहीं देते थे।

1.5 विविध पुरस्कार, सम्मान एवं उपलब्धियाँ :–

राही मासूम रज़ा को हिन्दी लेखन में कोई पुरस्कार नहीं मिला, परन्तु फिल्मों में संवाद लेखक के रूप में उन्हें तीन बार फिल्मफेयर पुरस्कार मिला। प्रथम पुरस्कार 1979 में 'मैं तुलसी तेरे आँगन की' के लिए, द्वितीय पुरस्कार 1986 में 'तवायफ़' के लिए एवं तृतीय पुरस्कार 1992 में 'लम्हें' के लिए प्रदान किया गया।

सन् 1992 में मेवाड़ फाउण्डेशन, उदयपुर का ''हकीम खाँ सूरी'' पुरस्कार राही मासूम रज़ा को दिया गया। यह पुरस्कार देश में सद्भावना व समन्वय के लिए दिया जाता है। यह उनका जीवित रहते हुए अन्तिम सम्मान था।

किसी लेखक की उपलब्धि मात्र पुरस्कार तक सीमित नहीं रहती अपितु वह पाठकों के ऊपर और समाज के ऊपर निर्भर करती है। प्रेमचंद, निराला और मुक्तिबोध को भी कोई पुरस्कार नहीं मिला परन्तु उनकी उपलब्धि समाज के निर्माण में झलकती है।

कृतित्व

1.6 लेखन की और रूझान एवं युगीन परिवेश :–

राही मासूम रज़ा बचपन में अस्थिक्षय रोग से पीड़ित थे। इस कारण उनकी प्राराम्भिक शिक्षा विधिवत रूप से नहीं हो पायी। राही विद्या व्यसनी बचपन से ही थे। राही मासूम रज़ा के पिताजी ज़मींदार होने के साथ वकील भी थे। इस कारण उन्हें यह सम्पदा अपने पुरखों से मिली थी। बीमारी के दिनों में राही घर में रखी सारी पुस्तकें पढ़ते रहे। इससे राही मासूम रज़ा का लेखन कौशल विकसित हुआ। घर की सभी प्रकार की पुस्तकें पढ़ने के लिए मंगवाई जाने लगीं। ''उनका दिल बहलाने के लिए और कहानी सुनाने के लिए कल्लू कक्का रखे गए। राही मासूम रज़ा ने यह स्वीकार किया कि कल्लू कक्का न होते तो मुझे कहानी की सही पकड़ कभी नहीं आती।''[22] पठन कौशल से ही राही मासूम रज़ा के लेखन कौशल का भी विकास होने लगा। बचपन से ही राही मासूम रज़ा उर्दू शायरी भी करने लगे। समकालीन परिवेश का राही मासूम रज़ा के लेखन पर बहुत प्रभाव पड़ा। देश का विभाजन और सांस्कृतिक विघटन उन्होंने देखा, इसी कारण उनका व्यक्तित्व विद्रोही हो गया। वह युगीन परिस्थितियों से टकराने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने समझौता करना नहीं सीखा इसी कारण जब वह अलीगढ़ विश्वविद्यालय में षड़यंत्र के शिकार हुए तो उन्होंने किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया।

राही मासूम रज़ा विद्यार्थी जीवन से ही राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने लगे थे। वह कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। विद्रोही विचार उन्हें विरासत में मिले थे। ''राही उन दिनों पढ़ाई के साथ–साथ कम्युनिस्ट पार्टी में भी काम किया करते थे। कम्युनिस्ट पार्टी ने तय किया कि गाज़ीपुर नगर पालिका के अध्यक्ष पद के लिए कामरेड पब्बर राम को खड़ा किया जाए। पब्बर राम भूमिहीन मजदूर थे। राही और मूनिस रज़ा दोनों कामरेड पब्बर राम का कार्य करने लगे। उसी समय कांग्रेस ने राही के पिता श्री बशीर हसन आबिदी को अपना उम्मीदवार घोषित कर दिया। दोनों भाइयों के सामने धर्म संकट पैदा हो गया। दोनों मिलकर अपने पिता के पास गए और उन्हें समझाया कि वे चुनाव में खड़े न हों। बशीर साहब ने कहा मैं 1930 का कांग्रेसी हूँ। कांग्रेस का अनुशासित सिपाही हूँ। पार्टी ने जो आज्ञा दी है उसका मैं उल्लंघन नहीं करूँगा। राही ने कहा, हमारी भी मजबूरी है कि हम आपके खिलाफ पब्बर राम को चुनाव लड़ाएँगे हो सकता है आप चुनाव हार जाएँ। राही घर से सामान उठाकर पार्टी ऑफिस में चले गए और कामरेड पब्बर राम को जिताने में जुट गए। जब चुनाव परिणाम आए तो सब स्तब्ध रह गए कि एक भूमिहीन मजदूर जिले के

सबसे प्रसिद्ध वकील को भारी बहुमत से पराजित करने में समर्थ रहा। राही अपने पिता की बहुत इज्जत किया करते थे। बाप–बेटों में बहुत मुहब्बत थी जो जीवनपर्यन्त रही, लेकिन सिद्धान्त का मसला था, जहाँ बाप–बेटे की मुहब्बत भी सिद्धान्तों के आगे हार गई।''[23]

यहाँ पर राही मासूम रज़ा 'टोपी शुक्ला' बन गए, क्योंकि टोपी शुक्ला ने भी निष्पक्षता के साथ कल्लन का साथ दिया था। जो उसके भाई मुन्नी बाबू और भैरव के विपक्ष में चुनाव लड़ने के लिए खड़ा हुआ था। राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व का यही गुण थे, वे पारिवारिक और व्यावसायिक उद्देश्यों को बिल्कुल अलग–अलग रखा करते थे।

"1962 मे जब चीन और भारत में युद्व हुआ तो मासूम रज़ा का वामपंथी आन्दोलन से मोह भंग हो गया। युद्व के समय वामपंथी बुद्विजीवियों के सामने राष्ट्रीयता–अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न आया और उस पर गंभीर चर्चा हुई। इस स्थिति में एक कम्युनिस्ट की क्या भूमिका होगी, जब अपने देश का संघर्ष एक समाजवादी देश से हो। इसी बहस और विचार ने पार्टी को दो हिस्सों में विभाजित करने में महत्पूर्ण भूमिका अदा की, हालाँकि इसके और भी अनेक कारण थे। उनका विचार था कि चीनी शासकों ने कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्वान्तों को ताक़ पर रख दिये थे वे अपने राष्ट्रीय संकट को सर्वोपरि मान रहे थे। उन्होंने इस स्थिति पर एक नाटक भी लिखा था जो विश्वविद्यालय में खेला गया था। जिसमें कृष्णा मेनन मुख्य अतिथि के रूप में पधारे थे लेकिन इस स्थिति में भी उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी नहीं छोड़ी। जब 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हो गया तो राही की तरह के लेखक और बुद्धिजीवी किसी भी पार्टी में नहीं गये। वे इस विभाजन को भारत के वामपंथी और जनतांत्रिक मूल्यों की त्रासदी मानते थे। उनका विचार था कि इस विभाजन से विशेष रूप से हिन्दी प्रदेशों में प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक शक्तियाँ मजबूत होगी। उन्होंने इस स्थिति पर एक शेर लिखा–

हमारी आबला पाई का जिक्र कर दीजिए।
थका हुआ जो कोई इंकलाब मिले।।''[24]

जहाँ तक लेखन का सवाल है, ''1944 में लाहौर के एक रिसाले 'नफ़ासियात', जिसके सम्पादक शेर मुहम्मद अख्तर थे, में राही मासूम रज़ा की पहली कहानी 'तन्नू भाई' के नाम से छपी।''[25]

राही मासूम रज़ा ने विद्यार्थी जीवन में कई छद्म नाम से रचनाएँ लिखीं। ''इलाहाबाद में उनकी मुलाकात उर्दू के मशूहर पब्लिशर अब्बास हुसैनी जो उर्दू में 'निकहत' नाम का महाना निकालते थे। इसके अलावा वो 'जासूसी दुनिया' और 'रूमानी दुनिया' नाम

की दो किताबें हर महीने शाया करते थे। राही भाई 'शाहिद अख्तर' के नाम से रूमानी दुनिया के लिए नाविल लिखा करते थे।''[26] वे घण्टों लिखा करते थे। 'आधा गाँव' इसी प्रौढ़ता का जीवंत उदाहरण है। राही मासूम रज़ा जो भी लिखते प्रमाण के साथ लिखते। उन्होंने आन्तरिक जीवन को जिस सुन्दरता और यथार्थता के साथ 'आध गाँव' में रेखांकित किया है, वह हिन्दी साहित्य की दुर्लभतम कड़ी है। हिन्दी साहित्य में फणीश्वरनाथ 'रेणु' का मेरीगंज और राही का गंगौली आँचलिकता का प्रस्थान बिन्दु है।

राही मासूम रज़ा अलीगढ़ 1956–1957 में आए थे। इससे पहले वह इलाहाबाद में रहते थे। राही की पहचान उर्दू शायर के रूप में हो चुकी थी। मुहर्रम में मरसिया और नौहा पढ़ने का संस्कार उन्हें बचपन से ही था। इलाहाबाद आने के बाद मुशायरों में भी उनकी उपस्थिति होती चली गई। ''उनकी आवाज में जादू था, उनका तरन्नुम अनोखा था। एक तो अच्छी शायरी दूसरे अच्छी आवाज़।''[27] अलीगढ़ में वह अपने बड़े भाई प्रो. मूनिस रज़ा के पास रहते थे। वे अपना रास्ता स्वयं बनाने में विश्वास रखते थे। वहाँ कई बड़े और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ रहे, परन्तु उनके बड़े भाई प्रो.मूनिस रज़ा का उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ा हैं।

राही मासूम रज़ा ने सांस्कृतिक विघटन का कारण औपनिवेशिक ताकतों को माना। उन्होंने प्रश्न किया, "क्या रसखान का नाम काटकर कृष्ण भक्ति काव्य इतिहास लिखा जा सकता है? क्या तुलसी की रामायण में आपको कहीं मुगल दरबार की झलकियाँ दिखलाई नहीं देती? क्या आपने अनीस के मरसिये देखे? देखे होंगे तो आपको यह भी मालूम होगा कि इन मरसियों के पात्रों के नाम भले ही अरबी हो परन्तु वह है अवध नगरी के नागरिक।''[28] राही मासूम रज़ा ने सामासिक भारत का स्वप्न देखा। उनका भारत विश्व गुरू है, अखण्ड हैं। उनके विचारों से स्पष्ट है कि धर्म के नाम पर वैमनस्य फैलाने वाले लोगों से वह सख्त नफरत करते थे। राही मासूम रज़ा के पुरखे तुलसी और ग़ालिब दोनों हैं। वह भाषा और संस्कृति का सामंजस्य बना कर रखना चाहते थे। राही का जीवन कटु अनुभवों का सार है। 'टोपी शुक्ला' उपन्यास में जब बलभद्र नारायण शुक्ला एक महाविद्यालय में साक्षात्कार देने जाता है तो उससे भी इसी प्रकार के प्रश्न किए जाते हैं। राही मासूम रज़ा का विद्रोह टोपी शुक्ला के माध्यम से स्पष्ट दिखाई देता है।

राही मासूम रज़ा के अन्तर्मन का द्वन्द्व उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। फिर चाहे उन पर अश्लीलता का आरोप लगे या भाषा का वह अपना मत पूर्णतः स्वतंत्र और बिना किसी दबाव के रखते हैं। समकालीन परिस्थितियाँ ही लेखक को प्रतिक्रियाएँ देने पर मजबूर करती हैं और सामाजिक परिवेश उसको झकझोरता है। उन्होंने परिस्थितियों के

साथ कभी समझौता नहीं किया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में षडयंत्र के बाद उन्होंने नियति को स्वीकार कर लिया और अपना संघर्ष जारी रखा।

1.7 अध्यापन कार्य :–

राही मासूम रज़ा 1955–1956 में अलीगढ़ आ गये थे। उन्होंने 1963 में अपना शोध प्रबंध 'तिलिस्मे होशरूबा में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन' विषय पर लिखा इसके पश्चात् राही मासूम रज़ा अलीगढ़ विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग में अस्थायी प्राध्यापक हो गए। उन्होंने प्राध्यापक बनने के बाद उर्दू के पाठयक्रम में कई बदलाव किए। उन्होंने ऐसे पाठयक्रम निर्माण किया जो छात्रों के नवीन ज्ञान के लिए बहुत महत्वपूर्ण था। उन्होंने उर्दू और फ़ारसी लिपि के कई पूर्वाग्रहों का खण्डन किया। चूंकि उर्दू वाले कवि राही मासूम रज़ा को एण्टी उर्दू मानते थे पर वो एण्टी उर्दू थे नहीं। उनके लिए हिन्दी और उर्दू एक ही माँ की दो संतानों के समान थीं। वे एक लोकप्रिय प्राध्यापक सिद्ध हुए। ''उन्होंने पाठयक्रम में महत्वपूर्ण परिवर्तन कराए, एक सौ नम्बर का प्रश्नपत्र हिन्दी साहित्य का रखा, जिसे वह स्वयं पढ़ाते थे। एक साल में यह पाठयक्रम बहुत लोकप्रिय हुआ। इसी तरह के प्रयास हिन्दी में भी करने के प्रयास हुए कि उर्दू के महत्वपूर्ण रचनाकारों को पढ़ाए जाएँ। हिन्दी वालों ने सिद्धान्त रूप में तो बात मान ली, लेकिन व्यवहार में साकार नहीं किया। बहुत बाद में नज़ीर अकबरवादी को हिन्दी के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया। जो हिन्दी का बहुत ही लोकप्रिय पाठ्यक्रम है लेकिन उर्दू से राही के जाने के बाद यह कोर्स आगे नहीं चला।''[29]

राही मासूम रज़ा को पढ़ने–लिखने का शगल बचपन से ही था। लिखना उन्होंने 1944 से ही प्रारम्भ कर दिया था। ज़मींदार मुस्लिम परिवार से होने के कारण मज़लिस में नज़्म सुनाते अपने बड़ों को देखते थे यह संस्कार उन्हें बचपन से ही प्राप्त हो गए थे। राही मासूम रज़ा जब अपने शोध प्रबंध पर कार्य कर रहे थे, तब उनके शोध निर्देशक, और उर्दू के प्रसिद्व आलोचक प्रो. आले अहमद सुरूर को लोगों ने भड़काया की राही मासूम रज़ा अपना शोध कार्य नहीं कर रहे हैं। तब राही ने अपने शोध प्रंबध व उससे संबंधित पुस्तकें बक्से में भरकर अपने निर्देशक के पास पहुँचे और बोला, साहब, देख लिजिए यह रहा मेरा काम। राही मासूम रज़ा 1955–56 में जब अलीगढ़ आए तो, अलीगढ़ वामपंथी राजनीजि का गढ़ था। राही मासूम रजा वामपंथी विचारधारा से प्रभावित थे, तभी तो उन्होंने निकाय चुनाव में पब्बर राम का सहयोग दिया था। कुँवरपाल सिंह भी वामपंथी विचारधारा के समर्थक थे। दोनों में धनिष्ठ मित्रता अलीगढ़ विश्वविद्यालय में ही हुई। कुँवरपाल सिंह इस

संदर्भ में कहते है, "मैं देहात से एक किसान परिवार से था और राही एक प्रसिद्ध वकील के बेटे व उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे, मेरी खड़ी बोली पर भी ब्रजभाषी का व्यापक प्रभाव था। मेरे शीन, काफ़ को दुरूस्त करने के लिए बहुत दिनों तक प्रयास होते रहे। राही और उनके मित्रों ने बड़ी मुश्किल से इस कार्य में सफलता मिली। मैं उनके व्यंग्य–बाण सहता रहा, वे प्रयास करते रहे।"[30] अलीगढ़ विश्वविद्यालय में राही मासूम रज़ा और कुँवरपाल सिंह दोनों ने मिलकर 'संगम' नाम की एक संस्था बनाई, जिनमें हिन्दी–उर्दू के साहित्यिक कार्यक्रम हुआ करते थे।

कुँवरपाल सिंह ने ही राही मासूम रज़ा के लेखों, निबंधों का संग्रह किया हैं। जब राही मासूम रज़ा ने 'आधा गाँव' लिखा तो उपन्यास की लिपि फारसी थी। उपन्यास का फारसी लिपि से देवनागरी लिपि में रूपान्तरण किया गया। कुँवरपाल सिंह और राही मासूम रज़ा दोनों ने मिल कर इसका अनुवाद किया। इस प्रसंग में स्वयं कुँवरपाल सिंह जी ने कहा है, "'आधा गाँव', फारसी लिपि में लिख गया, मैंने और राही ने साथ मिलकर इसका देवनागरी में लिप्यन्तरण किया। इसके एक–एक पात्र, घटना और भाषा पर बहस होती थी। कथा के ट्रीटमेन्ट, गालियों तथा प्रेम प्रसंगों को लेकर विवाद कभी–कभी झगड़े में भी परिवर्तित हो जाता था। इस लिप्यन्तरण में कई व्यापक परिवर्तन भी हुए हैं। जब प्रकाशन के लिए यह उपन्यास जाने लगा तो राही ने एक कागज दिया, कहा कि इसे भी पाण्डुलिपि के साथ जोड़ दो। मैंने पढ़ा तो आश्चर्यचकित रह गया। मैंने सोचा भी नहीं था कि राही इन शब्दों में मुझे स्मरण करेंगे। केवल यही पृष्ठ राही ने अपने हाथ से देवनागरी लिपि में लिखा था। यह उपन्यास सर्वप्रथम कमलेश्वर के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने अक्षर प्रकाशन से 1966 में छपा। बाद में इस उपन्यास का दूसरा संस्करण 1971 में राजकमल प्रकाशन से छपा।"[31] 'आधा गाँव' उपन्यास लिखने में राही मासूम रज़ा को 30 मास का समय लगा। इस समयावधि में कुँवरपाल सिंह ही उनके आधे सफ़र के पुरे साथी थे।

मैं 30 मई 2019 को अपनी शोध यात्रा के लिए अलीगढ़ गई थी। अलीगढ़ में मैं नमिता सिंह से मिली। उनसे राही मासूम रज़ा के संबंध में कई जानकारियाँ प्राप्त हुईं। उन्होंने बताया कि कुँवरपाल सिंह ने राही मासूम रज़ा के शोध ग्रन्थ का अनुवाद डॉ. सीमा सगीर से करवाया तथा स्नोतकोत्तर के विनिबंध 'यागाना चंगेंजी' का अनुवाद मेहताब हैदर नक़वी से करवाया था। राही मासूम रज़ा के साहित्य का समग्र निकालने की योजना थी। इस योजना के मुख्य सूत्रधार कुँवरपाल सिंह थे। उनके समस्त साहित्य को एक ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित करने की योजना कालान्तर में सफल न हो सकी।

1.8 सिने कर्म एवं दूरदर्शन में धारावाहिक लेखन :–

राही मासूम रज़ा की प्रतिभा का प्रस्फुटन साहित्य तक सीमित नहीं। उनकी रचनाधर्मिता का नया अध्याय 1967 में प्रारम्भ हुआ। जब उन्होंने अलीगढ़ को छोड़ दिया था और परिवार के लालन– पालन के लिए बम्बई चले गए। बम्बई जाना उनके जीवन की अविस्मरणीय घटना है। राही मासूम रज़ा को अलीगढ़ से प्रेम था, परन्तु अंत में वही उनके लिए त्रासदी बन गई। बम्बई में राही मासूम रज़ा ने पैर जमाने के लिए काफी संघर्ष किये। खासकर उनके शुरूआती पाँच वर्ष बहुत ही कठिनाई में गुजरे। एक तो परिवार की अनुमति के बिना विवाह किया, दूसरे राही मासूम रज़ा बहुत स्वाभिमानी व्यक्ति से उन्होंने अपनी जिम्मेदारियाँ स्वयं उठाई और राही मासूम रज़ा ने विश्वविद्यालय पर जो मुक़दमा किया था उसका इंतजार न करके आगे बढ़ गए, क्योंकि जिन्दगी एक मुकदमे के फैसले के लिए नहीं रूकती हैं।

राही मासूम रज़ा की लिखने की गति काफी तेज थी। वह जब पढ़ रहे थे, तब अन्य नामों से 'रूमानी दुनिया' और 'जासूसी दुनिया' में उपन्यास लेखन का कार्य करते थे। वह एक रात में ही एक सौ पन्नों का उपन्यास लिख देते थे। नैय्यर रज़ा उनके लेखन के बारे में कहती है, ''न किसी तरह का एकांत, न घर से दूर कोई होटल या हिल स्टेशन, ऐसी कोई शर्त मासूम के लिखने के लिए नहीं होती थी। मासूम कहते थे जब तक मेरे परिवार का माहौल मेरे साथ नहीं होता, घर के लोगों की आवाजें मेरे पास नहीं होती में लिख नहीं सकता।''[32]

राही जब बम्बई चले गए तो उनके पास तीन कमरों का एक फ्लैट था। जिसमें एक कमरा राही मासूम रज़ा के तीनों बेटों के पास एक कमरा उनकी बेटी मरियम के पास और एक कमरा वह था, जहाँ राही लेखन कार्य करते थे। वही राही मासूम रज़ा सोया भी करते थे।

नैय्यर रज़ा बताती हैं–''मासूम बहुत सारे काम एक साथ करते थे। वे कहते थे कि मैंने अपना दिमाग इस तरह ट्रेंड कर रखा था कि कई–कई फिल्में, नावेल दूसरी पत्र–पत्रिकाओं के लिए लेख या नियमित कॉलम, सब एक–साथ लिखते रहते। एक साथ चार फाइलें उन के सामने खुली होती थी और वे उन चार फिल्मों पर एक साथ काम करते होते। थोड़ी देर एक फाइल पर, फिर दूसरी, फिर तीसरी और चौथी फाइल, मन मुताबिक थोड़ी–थोड़ी देर उन पर लिखते। एक फिल्म से दूसरी पर स्विच ओवर करने में कोई दिक्कत नहीं थी। इस बीच लोगों का आना–जाना मिलना-जुलना भी चलता रहता। उनके

अपने दिमाग की ट्रेनिंग गजब की थी। मासूम पढ़ते भी बहुत थे। सारे कामों के बीच उनका पढ़ना भी चलता रहता था।''[33]

उन्होंने तीन सौ से अधिक फिल्मों के संवाद लिखे। संवाद लेखन के साथ–साथ उन्होंने साहित्य लेखन को विस्मृत नहीं होने दिया। 1966 में 'आधा गाँव' के पश्चात् उन्होंने 1968 में 'टोपी शुक्ला', 1969 में 'हिम्मत जौनपुरी' 1970 में 'ओस की बूँद', 1973 में 'दिल एक सादा कागज', 1977 में 'सीन पिचहत्तर', 1978 में 'कटरा बी आर्ज़ू', 1986 में 'असंतोष के दिन', अंतिम उपन्यास छपा। उनका लेखन अनवरत चलता रहा और समय के साथ उसमें प्रौढ़ता आती गयी। राही कहते थे, ''फिल्म तो मेरी रोजी रोटी है और साहित्य मेरा ओढ़ना बिछौना है। मैं साहित्य सृजन के बिना जीवन की कल्पना नहीं कर सकता।''[34]

राही मासूम रज़ा ने कभी मेज–कुर्सी का उपयोग नहीं किया। वे ''नीचे तकिये का सहारा लेकर लिखते थे। आने जाने वाले लोग भी वहीं उनके पास बैठ जाते। वहीं नीचे उनकी फाइलें–कागज फैले रहते। कभी तकिये को लेकर और कभी लेटकर लिखते थे।''[35] ''गंभीर लेखन वे रात को करते थे। चाहे उपन्यास हो, लेख हो, पत्र–पत्रिकाओं के नियमित कॉलम हो, वे रात में ही लिखने बैठते। रात को एक बजे से जब तक उनका जी चाहता, लिखते रहते थे। एक मराठी पत्र के लिए भी लंबे अर्से तक उन्होंने कॉलम लिखा। इसे उन्होंने हिन्दी में ही लिखा जो फिर मराठी में रूपान्तरित होकर छपता था।''[36]

''फिल्म लिखना एक क्राफ्ट है कला नहीं।''[37] इसलिए राही मासूम रज़ा फिल्मी लेखन को सेमिक्रिएटिव काम मानते हैं। राही मासूम रज़ा हिन्दी लेखकों में से उन लोगों में थे, जो फिल्मों में भी सफल हुए। यह वो समय था, जब हर निर्देशक अपनी फिल्मों में पटकथा राही मासूम से लिखवाना चाहते थे। ''डॉ. राही मासूम रज़ा अब तक फिल्मी जगत में अपनी धाक जमा चुके थे। राजेन्द्र कृष्ण के बाद राही एक ऐसा अकेला लेखक था, जिसने दक्षिण के फिल्मी गोवर्द्धन पर्वत को अपनी अँगुली पर उठा रखा था। राही को हिन्दी लेखक के रूप में जाना और माना जाये यह फिल्मी क्षेत्र के बुजुर्ग उर्दू लेखकों शायरों को बहुत पसंद नहीं था। राही की उनसे पटती भी नहीं थी।''[38]

राही मासूम रज़ा को दक्षिण भारत का वातावरण ज्यादा रास नहीं आया। इसलिए उन्होंने जब दक्षिण भारत के हैदराबाद के किसी फ़िल्म निर्देशक की फिल्म की पटकथा लिखने का बीड़ा उठाया तो उनके वहीं रहने की आवश्यकता थी, क्योंकि वहीं रहकर, उसी वातवरण में घुल–मिल कर उस फिल्म की पटकथा लिखी जा सकती थी, परन्तु उनको दक्षिण भारत का मौसम रास नहीं आया। जिसके कारण वह सुबह हवाई जहाज से

हैदराबाद जाते, काम करते और शाम को वापस बम्बई आ जाते थे। राही मासूम रज़ा की कार्य के प्रति अटूट श्रद्धा थी। वह मेहनत, लगन और मौलिकता के साथ अपने कार्य करते थे।

राही मासूम रज़ा की प्रसिद्धि 'महाभारत' के संवाद लेखक के रूप में भी हुई। बी. आर.चोपड़ा के निर्देशन में राही ने 'महाभारत' के संवाद लिखे। उन्होंने 'मैं समय हूँ' के स्वर को जनता तक पहुँचाया। राही मासूम रज़ा के व्यक्तिव की यह विशेषता है कि वह जिस विषय पर लिखते थे, उसकी तह तक उतर जाते थे और स्वंय को निष्पक्ष कर लेते थे। सभी राग–द्वेष से दूर होकर उसका सृजन करते थे तभी तो उन्हें दूसरे व्यास की संज्ञा दी गई। बी.आर.चोपड़ा ने जब उन्हें 'महाभारत' के संवाद लिखने के लिए कहा तो राही साहब ने मना कर दिया था ''राही उन दिनों बहुत व्यस्त थे, उन्होंने चोपड़ा साहब से माफी माँगी। लेकिन एक महीने के बाद राही को चोपड़ा साहब ने खतों का एक पैकेट भेजा, ये खत हिन्दुत्ववादी लोगों ने लिखे थे। इसमें लिखा था कि एक मुसलमान 'महाभारत' के संवाद क्या लिखेगा, उसे हमारे धर्म, संस्कृति, सभ्यता और इतिहास की क्या समझ है? आप हमारा अपमान करा रहे हैं। राही की यही कमजोर नस थी, जो चोपड़ा जी ने पकड़ ली। राही ने तुरन्त घोषणा कर दी की कि 'महाभारत' मैं ही लिखूँगा और इन संकीर्ण लोगों को बताऊँगा कि उनसे ज्यादा भारतीय सभ्यता और संस्कृति जानता हूँ।''[39] इसके बाद प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता कभी नहीं पड़ी। राही मासूम रज़ा जहाँ भी गए उन्होंने नए कीर्तिमान स्थापित किए। उनकी सृजनात्मकता भारत की सामासिक संस्कृति की अनुगूँज हैं। उन्होंने अपनी मौलिकता पर कभी तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ने दिया, न ही उनका लेखन किसी पूर्वाग्रह का शिकार हुआ।

राही मासूम रज़ा ने 'महाभारत' का उर्दू अनुवाद पढ़ रखा था। इसके बाद उन्होंने बहुत तैयारी की और गहन अध्ययन किया। उन्होंने आठ महीने तक लगातार मेहनत की "संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, फारसी और अंग्रेजी में महाभारत पर जो भी साम्रगी थी, उसका अध्ययन किया और लगभग 8000 पृष्ठ के नोट्स तैयार किए। व्यास जी ने तो 'महाभारत को विद्वानों तक पहुँचाया, राही ने महाभारत को देश के कोने–कोने तथा संसार के अनेक भागों में पहुँचाया, राही ने महाभारत को देश के कोने कोने तथा संसार के अनेक भागों में पहुँचाया।''[40] उन्होंने नवीन संदर्भों के साथ इसको प्रस्तुत किया। उन्होंने इस चुनौती को भी स्वीकार किया और इस पर भी खरे उतरे। राही मासूम रज़ा की कमजोरी राष्ट्रीयता थी। वह किसी प्रकार से इस भावना के साथ समझौता नहीं करते थे। जो भी उनकी भारतीयता

को धर्म या जाति के आधार पर तोलने की कोशिश करते थे तो राही उसको मुँह तोड़ जवाब देते थे।

वह राष्ट्र को धर्म से ऊपर मानते थे। ''उनकी भारतीयता उनके लिखे धारावाहिकों में साफ झलकती है। एक बार दिल्ली में एक संवाददाता सम्मेलन में एक पत्रकार ने पूछ लिया कि आप मुसलमान होकर महाभारत की पटकथा और संवाद लिख रहे हैं क्या आपको इसमें कठिनाई पेश नहीं आई? राही साहब ने जबाव दिया, श्रीमान मैं हिन्दोस्तानी पहले हूँ और मुसलमान बाद में, रहा सवाल 'महाभारत' का वह हिन्दुस्तान का प्राचीन ग्रंथ है, जितना आपका है, उतना ही मेरा।''[41]

राही मासूम रज़ा का लेखन भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक सेतु का कार्य करता है। 'नीम का पेड़' छोटा उपन्यास हैं। जिसका प्रकाशन, 2003 में हुआ था परन्तु इसके पहले राही मासूम रज़ा ने इसको धारावाहिक के रूप में लिखा था। जिसका निर्देशन गुरूवीर सिंह ग्रेवाल ने 1991 में किया था। इसके निर्माता नवमान मलिक थे। इस धारावाहिक के संवाद राही मासूम रज़ा ने लिखे थे। इस धारावाहिक में बुधई राम की भूमिका प्रसिद्ध अभिनेता पंकज कपूर ने निभायी थी। इस धारावाहिक का शीर्षक गीत निदा फ़ाज़ली ने लिखा था। जिसको जगजीत सिंह ने अपनी मधुर आवाज दी थी। इस धारावाहिक में कुल 58 एपिसोड थे और इसका प्रसारण दूरदर्शन पर 25 मिनट किया जाता था। राही मासूम रज़ा इस धारावाहिक के केवल 26 एपिसोड ही लिख पाये थे, क्योंकि 15 मार्च, 1992 को मुँह के कैंसर के कारण उनका देहांत हो गया। इसलिए इस धारावाहिक के बाद के एपिसोड विलायत जाफ़री ने लिखे थे। ''राही की ख्वाहिश थी कि उन्हें पैतृक गाँव गंगौली में दफ़न किया जाए। गंगा के किनारे किसी आम के बाग में, महादेव मंदिर के पास क्योंकि उसकी रगों में गंगा का पानी लाल खून बन कर दौड़ रहा था। लेकिन राही बम्बई में नहीं मुम्बई के किसी कब्रिस्तान में दफ़न हैं।''[42]

1.9 उपन्यास एवं कथेतर आख्यान :–

राही मासूम रज़ा ने अपने जीवन में कुल 9 उपन्यास लिखे। उनका उपन्यास 'कारोबारे तमन्ना' है, जो मूलतः उर्दू में लिखा गया है, जिसका लिप्यतंरण डॉ. एम. फिरोज खान व डॉ. शगुफ्ता नियाज़ ने किया। उपन्यास में वेश्यावृत्ति की ज्वलंत समस्या को उठाया गया है। इसके अतिरिक्त 'कयामत' भी राही मासूम रज़ा का उर्दू में रचित उपन्यास है। इसका लिप्यतंरण भी डॉ. एम. फिरोज अहमद और डॉ. शगुफ्ता नियाज द्वारा ही किया

गया है। इसका प्रकाशन 2013 में राजकमल प्रकाशन द्वारा ही हुआ है। उन्होंने 'बावन साल पुरानी आँखें' नाम से एक अधूरा उपन्यास भी लिखा था।

राही मासूम रज़ा के हिन्दी में रचित उपन्यास निम्न हैं:–

(1) **'आधा गाँव'** – प्रथम संस्करण, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, सितम्बर, 1966

इसके बाद 1971 में इसका द्वितीय प्रकाशन राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से होने लगा। 'आधा गाँव' का अनुवाद और भी कई भारतीय भाषाओं में हुआ, जिसमें सर्वप्रथम अंग्रेजी, उर्दू , बंगला, मराठी हैं और भी कई भाषाओं में इस उपन्यास के अनुवाद के कार्य प्रगति पर हैं।

(2) **'टोपी शुक्ला'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1967)

इस उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद मीनाक्षी शिवराम और हरीश त्रिवेदी के द्वारा किया गया। जिसका प्रकाशन ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से सन् 2005 में हुआ।

(3) **'हिम्मत जौनपुरी'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1979)

(4) **'ओस की बूँद'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1970)

(5) **'दिल एक सादा कागज'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली(1997)

(6) **'सीन : 75'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1977)

इस उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद पूनम सक्सेना ने किया है। जिसका प्रकाशन हारपर पेरेनियल इण्डिया, प्रकाशन से 20 दिसम्बर 2012 को हुआ।

(7) **'कटरा–बी–आर्ज़ू'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1978)

(8) **'असंतोष के दिन'**– राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1986)

(9) **'नीम का पेड़'** – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2003)

'नीम का पेड़' राही मासूम रज़ा का लघु उपन्यास हैं। यह सर्वप्रथम धारावाहिक रूप में प्रसारित हुआ था।

1.10 स्तम्भ लेखक :–

राही मासूम रज़ा ने निरन्तर अपने लेखन को स्तम्भ लेखक के रूप में जारी रखा। उन्होंने कई पत्रिकाओं में स्तम्भ लेख लिखे, जिसे उनकी मृत्यु के पश्चात् कुँवरपाल सिंह ने

सम्पादित करके प्रकाशित करवाएँ। वे 'धर्मयुग, 'गंगा', 'दिनमान' और 'शमा' पत्रिका में निरन्तर लिखते रहे।

(1) **'ख़ुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़'** – वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 में प्रकाशित। (साहित्यिक और सांस्कृतिक निबंध)

(2) **'लगता है बेकार गए हम'** – वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 1999 में प्रकाशित। (व्यंग्यात्मक निबंध एव राजनीतिक पत्र)

(3) **'सिनेमा और संस्कृति'** – वाणी प्रकाशन' नई दिल्ली 2001 में प्रकाशित।

(सिनेमा साहित्य एवं सांस्कृतिक सवालों पर राही के महत्वपूर्ण वैचारिक लेख।)

साहित्यिक कृतियाँ :–

राही मासूम रज़ा फ़िल्मी लेखन और उपन्यास लेखन तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने उर्दू में शायरी, हिन्दी में कविता, कहानियाँ निबंध और जीवनी भी लिखीं हैं।

(अ) **निबंध** – 'शमा' पत्रिका। उर्दू में राही के अनेक निबंध प्रकाशित होते रहे।

(ब) **कहानियाँ** – 'एक जंग हुई थी कर्बला में'
'सिकहर पर दही निकाहभया सही'
'एम. एल. ए. साहब'
'चम्मच भर चीनी'
'खलीक अहमद बुआ'
'सपनों की रोटी'
'बहीरोइन'

यह सभी कहानियाँ 'कारोबारे तमन्ना' में संगृहीत हैं। जिसका प्रकाशन 2003 में राजकमल प्रकाशन द्वारा किया गया।

(स) **जीवनी** – राही मासूम रज़ा ने 1965 में भारत–पाकिस्तान युद्व में शहीद हुए वीर अब्दुल हमीद की जीवनी 'छोटे आदमी की बड़ी कहानी' के नाम से लिखी। जिसका प्रकाशन 1966 में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ था।

(द) **कविताएँ** –

उर्दू रचनाएँ

'नया साल' – (1954), 'मौजे गुलः मौज़े सवा' (1954), 'रक्सेमय' (1964)

हिन्दी रचनाएँ

(अ) मैं एक फेरीवाला – 1976, में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित। जो पुनः जनवरी, 2004 में शिल्पायन, प्रकाशन से प्रकाशित।

(ब) 'शीशे के मकाँ वाले' – 2001 में इसका प्रकाशन वाणी प्रकाशन नई दिल्ली से किया गया है। यह उर्दू से हिन्दी में अनुवादित है। इसका लिप्यन्तरण सुल्तान अहमद ने किया और संपादन कुँवरपाल सिंह ने किया हैं।

(स) 'गरीबे शहर' (काव्य संग्रह) – इसका उर्दू में प्रकाशन बम्बई के उर्दू प्रकाशक साबिर दत्त ने किया था। यह संग्रह उर्दू में अगस्त 1995 में प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दी अनुवाद 2001 को वाणी प्रकाशन, दिल्ली के द्वारा किया गया। इसका लिप्यन्तरण व अनुवाद प्रदीप साहिल व संपादन कुँवरपाल सिंह ने किया।

(द) 'क्रांति कथा' – यह मूलतः उर्दू में लिखित था। जिसका प्रथम प्रकाशन 1957 में हुआ था। इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी में 1999 में वाणी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ था।

निष्कर्ष :–

''इस प्रकार राही की पहली रचना 'नया साल भी उर्दू में 1953 में प्रकाशित हुई और अंतिम रचना 'गरीबे़ शहर' भी उर्दू में 1995 में प्रकाशित हुई। इस प्रकार राही अकेले व्यक्ति हैं जो जीवनपर्यन्त शायरी तो उर्दू में करते रहे लेकिन उनका पूरा गद्य लेखन उर्दू में है।"[43] राही मासूम रज़ा का प्राकट्य ऐसे संक्रमण काल में हुआ था, जब हिन्दुस्तान अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहा था। उन्होंने विभाजन की त्रासदी को भोगा। उनका लेखन भारत की सांझी धरोहर है, जिसका कोई विकल्प नहीं है। उनका लेखन साहित्य में एक अलग पहचान रखता है। राही मासूम रज़ा एक ऐसे व्यक्तित्व थे, जिन्होंने हिन्दुस्तान की चिरजीवी संस्कृति को अपने लेखन से पोषित किया। उनका सम्पूर्ण जीवन इसी अस्मिता की लड़ाई है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसी के प्रसंग में एक मार्मिक बात कहीं है, ''तुलसी ने आजीवन एक ही रामकथा का गायन विविध प्रारूपों में प्रस्तुत किया।'' यही बात राही मासूम रज़ा पर लागू होती है। उनके उपन्यास, कहानी, कविता, स्तम्भ लेखन में विभाजन की त्रासदी का क्रंदन गूँज उठा है। साम्राज्यवादी शासकों ने विभाजन के रूप में एक अन्तहीन विडंबना का दुःख भारतीय उपमहाद्वीप को सौपा है। इस त्रासदी से जूझने एवं समझने में राही मासूम रज़ा ने अपने लेखन को समर्पित किया है।

संदर्भ सूची

1. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–23
2. वही, पृष्ठ संख्या – 23
3. वही, पृष्ठ संख्या – 23
4. राही मासूम रज़ा, सीन पिचहत्तर, प्लैप से
5. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं. – 24
6. वही, पृष्ठ सं.– 24
7. वही, पृष्ठ सं.– 24
8. वही, पृष्ठ सं.– 26
9. वही, पृष्ठ सं.– 26
10. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–85
11. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं. 27
12. वही, पृष्ठ सं.– 27
13. वही, पृष्ठ सं.– 25
14. दिलशाद जिलानी, आधा गाँव एक आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ सं.–2
15. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–95
16. वही, पृष्ठ सं.– 94
17. वही, पृष्ठ सं.– 86
18. वही, पृष्ठ सं.– 88
19. वही, पृष्ठ सं.– 88
20. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–40
21. वही, पृष्ठ सं.– 39
22. वही, पृष्ठ सं.– 25
23. वही, पृष्ठ सं.– 26
24. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–96
25. दिलशाद जिलानी, आधा गाँव एक आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ सं.–4
26. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–88
27. वही, पृष्ठ सं.–88
28. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–11
29. वही, पृष्ठ सं.–26

30. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–93
31. वही, पृष्ठ सं.–93
32. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–83
33. वही, पृष्ठ सं.–84
34. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–14
35. वही, पृष्ठ सं.–84
36. वही, पृष्ठ सं.–84
37. कमलेश्वर, यादों के चिराग़, पृष्ठ सं.–105
38. कमलेश्वर, जलती हुई नदी, पृष्ठ सं.–32
39. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–15
40. वही, पृष्ठ सं.–15
41. वही, पृष्ठ सं.–279
42. चन्द्रदेवराय, जयप्रकाश धूमकेतु, अभिनव कदम, पृष्ठ सं.–50
43. कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–391

द्वितीय अध्याय

विभाजन की त्रासदी पर राही मासूम रज़ा का सृजन–'आधा गाँव'

2.1 'आधा गाँव' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

2.2 गंगौली की झाँकी

2.3 विभाजन का दर्द

2.4 राही मासूम रज़ा का भाषा प्रयोग

2.5 विभाजन पर रचित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

2.6 'आधा गाँव' उपन्यास एवं पाठ्यक्रम विवाद

2.1 'आधा गाँव' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :–

राही मासूम रज़ा ने 'आधा गाँव' की रचना एक ऐसे संक्रमण काल में की थी, जब हिन्दुस्तान अपने अतीत और वर्तमान को समझ रहा था। यह उपन्यास एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। उस वर्ग का, जिन्होंने विभाजन को भोगा, साथ ही साथ उन परिवर्तनों के साक्षी रहे वर्ग का जिसने भारतीय राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को बदलते देखा। राही मासूम रज़ा ने शिया मुसलमानों के ग्रामीण जीवन का जीवन्त और सशक्त चित्र उकेरा है। प्रस्तुत उपन्यास में 1937 से लेकर 1952 तक के कालखण्ड का वर्णन किया गया है। इसकी पृष्ठभूमि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात विभाजन की विभीषिका पर है। विभाजन के पहले हिन्दुस्तान में ज़मींदारी प्रथा का बोल–बाला था। विभाजन के पश्चात ज़मींदारी प्रथा खत्म हो जाती है। समाज में बेरोजगारी घर कर लेती है। द्वितीय विश्व युद्ध में सभी नौजवानों को भेजा जाता है, जिसके कारण घर में बूढ़े, बच्चे, महिलाएँ ही रह जाते हैं। कोई नवयुवक नहीं बचता जो जीवन यापन के लिए संघर्ष कर सके। फुन्नन मियाँ के साथ भी यही होता है, उनका बड़ा बेटा मुन्ताज़ भी द्वितीय विश्वयुद्ध में मारा जाता है।

उपन्यास का प्रारम्भ 'ऊँघता शहर' से होता है। कथानक की रचना बड़े रोचक ढंग से की गई है। उपन्यास में दस अध्याय हैं। इन अध्यायों का शीर्षक भी रोचक और जिज्ञासु है। शीर्षकों के साथ कथा आगे बढ़ती है। इन शीर्षकों के नाम 'मेरे गाँव मेरे लोग', 'उद्‌गम', 'मियाँ लोग', 'ताना–बाना', 'नमक', 'गाथा', 'प्यास', 'भूमिका', 'तनहाई', 'नई–पुरानी रेखाएँ हैं।

उपन्यास का प्रारम्भ ग़ाज़ीपुर के खण्डहर में स्थित पुराने किले से होता है। राही मासूम रज़ा कहते हैं, "गाज़ीपुर के पुराने किले में अब एक स्कूल है, जहाँ गंगा की लहरों की आवाज़ तो आती है, लेकिन इतिहास के गुनगुनाने या ठंडी साँसें लेने की आवाज नहीं आती। किले की दीवारों पर अब कोई पहरेदार नहीं घूमता, न ही उन तक कोई विद्यार्थी ही आता है, जो डूबते हुए सूरज की रोशनी में चमचमाती हुई गंगा से कुछ कहे या सुने। गंदले पानी की इस महान धारा को न जाने कितनी कहानियाँ याद होगी।"[1] और आगे बढ़ते है तो ऐसा लगता है, जैसे अयोध्या के दो राजकुमार कंधे से कमान लटकाये तपोवन के पवित्र सन्नाटे की रक्षा कर रहे हैं। ऐसी कल्पना राही की मानस भूमि पर ही उभर सकती है। इस ऊँघते शहर की सीमाएँ कलकत्ता, बम्बई, कानपुर और ढाका हैं, क्योंकि

ग़ाज़ीपुर के बेटे–बेटियों के लिए यह विरह की कहानी है। गंगौली से वे जीविकापार्जन के लिए वहाँ पलायन करते हैं।

राही मासूम रज़ा ने स्पष्ट लिखा है कि यह उपन्यास वास्तव में एक सफर है। "मैं गाज़ीपुर की तलाश में निकला हूँ लेकिन पहले मैं अपनी गंगौली में ठहरूँगा। यह उपन्यास वास्तव में उस एपिक (महाकाव्य) की भूमिका है।"[2] राही मासूम रज़ा गंगौली में ही जीते–मरते हैं। वे गंगौली की गलियों, घरों, लोगों, सभी को करीब से देखते हैं, क्योंकि गंगौली में राही का मन निवास करता है। राही मासूम रज़ा ने उपन्यास लेखन के लिए प्रथम पुरूष का प्रयोग किया है और कहा है, "मैं प्रथम पुरूष का बेखटके प्रयोग कर रहा हूँ कि पन्ने स्वयं न उलट सके, ताकि क्रम शेष रहे और मैं यह देख सकूँ कि क्या है और क्या होने वाला है।"[3]

राही मासूम रज़ा ग़ाज़ीपुर के इतिहास का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह गाज़ीपुर पहले गादीपुर था। आषाढ़ की एक काली रात में तुगलक के एक सरदार सय्यद मसऊद गाजी ने बाढ़ आई गंगा को पार करके गादीपुर पर हमला किया तब से इसका नाम ग़ाज़ीपुर हो गया, परन्तु गंगौली को राजा गंग ने बसाया था तब से इसका नाम गंगौली ही है। इस गंगौली को नूरूद्दीन ने फतह किया था फिर भी इसका नाम गंगौली ही है। राही यहाँ भारत की चिरजीवी संस्कृति का एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि गंगौली, गंगौली ही रहा वह नूरपुर या नूरपुर या नूरूद्दीन नहीं हुआ। गंगौली में एक समाधि है, शायद वह गंगौली से भी पुरानी है। यह नूरूद्दीन शहीद की समाधि है। जिसने गंगौली को फतह किया था और जो मसऊर गाज़ी का बेटा था। इस नूरूद्दीन की समाधि पर दस मोहर्रम दोनों पट्टियों का जुलूस आता है और पूरी गंगौली एक ही नारे से गूँज उठती है – "बोल मुहम्मदी.... या हुसैन।"

गंगौली एक छोटा सा खूबसूरत गाँव है, जिसमें दो पट्टियाँ है। एक टूटी–फूटी समाधि और एक उजड़े हुए कारखाने के बीच में यह गाँव आबाद है। "गंगौली के दो कोनों पर सय्यद लोगों के मकान हैं। कुल मिलाकर दस घर होंगे। दक्खिन वाले घर दक्खिन–पट्टी कहलाते हैं और उत्तरवाले उत्तर–पट्टी। बीच में जुलाहों के घर है। सिब्तू–दा के घर से राकियों की आबादी शुरू हो जाती है फिर गंदी, कच्ची गली गंगौली के बाज़ार में दाखिल हो जाती है और नीची दुकानों और खुजली के मारे हुए कुत्तों से दबकर गुज़रती हुई नूरूद्दीन शहीद की समाधि के खुले हुए वातावरण में आकर इत्मीनान की साँसें लेती हैं।"[4] पूरा उपन्यास और इसका ताना–बाना इन्हीं दों पट्टियों से मिलकर बना है। शायद इसीलिए राही मासूम रज़ा ने इस उपन्यास का नाम 'आधा गाँव' रखा है, क्योंकि गाँव दो

हिस्सों में विभाजित है। 'आधा गाँव' मानसिक रूप से एक है, परन्तु भौतिक रूप से अलग–अलग है। 'आधा गाँव' राही मासूम रज़ा का रचनात्मक प्रस्थान है जो उनके भावनात्मक पटल से उठ कर हमारे सामने आया है। राही मासूम रज़ा आपसी वैमनस्य के विरोधी थे। इसलिए वे कहते हैं, "इधर कुछ दिनों से गंगौली में गंगौली की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों, शीयों और हिन्दुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। शायद इसीलिए नूरूद्दीन शहीद की समाधि पर अब उतना बड़ा मजमा नहीं लगता और गंगौली का वातावरण 'बोल मुहमदी–या हुसैन' की आवाज़ से उस तरह नहीं गूँजता, जिस तरह कभी गूँज उठा करता था। शायद यही कारण है कि समाधि आज उदास–उदास नज़र आती है और अपनी अंधी आँखों से इधर–उधर देखती रहती है और सोचती रहती है – मेरी गंगौली कहाँ गयी।"[5]

'आधा गाँव' का कथानक पहले 'ऊँघता शहर' से प्रारम्भ होता है। जो आंचलिकता की भीनी–भीनी खूशबू में भिगा हुआ है। जिसमें पूर्वी अंचल की सामाजिक संस्कृति की महक आती है। जो पाठक को गंगौली से आत्मीय होने से नहीं रोक सकती। इसके पश्चात दूसरा, अध्याय 'मेरे गाँव मेरे लोग' आता है। जिसमें गंगौली में रहने वाले लोगों और उनके घरों का ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में मुस्लिम समुदाय की आन्तरिक झांकी प्रस्तुत की है। राही के पात्र बहुत जीवंत हैं। उनसे पाठक को लगाव होना स्वाभाविक है। राही की भाषा तो पाठक को, रस में डूबे रसगुल्ले की भाँति प्रतीत होती है। उर्दू–भोजपुरी को इतना सशक्त प्रयोग कोई सधा हुआ मार्मिक लेखक ही कर सकता है। खड़ी बोली तो बहुत कम पात्र बोलते हैं। जैसे राही की चाची और उनकी बहन जो शादी के बाद अलीगढ़ चली गई।

कथानक आगे बढ़ता है और गंगौली में होने वाले मोहर्रम का वर्णन आता है कि किस प्रकार मोहर्रम आने से ईमाम बाड़े की रौनक बढ़ जाती है। लोग ताज़िये बनाने लगते है, ताज़ियों का जुलूस निकाला जाता है। मोहर्रम आते ही गंगौली, गंगौली वालों की हो जाती है, लोग शिया, सुन्नी, मुसलमान और हिन्दू होना भूल जाते है। वे सब मिलकर मोहर्रम की तैयारी करते है। मोहर्रम का वर्णन करते हुए राही मासूम रज़ा कहते हैं कि वह लखनऊ के बारे में या गाज़ीपुर के बारे में तो नहीं जानते परन्तु गंगौली के सय्यद खानदानों में मोहर्रम एक रूहानी ईद से कम नहीं है। राही मासूम रज़ा कहते है कि उनके भाई मोहर्रम के मातम की तैयारी एक महीने पहले से ही करने लगते है। मोहर्रम पर सभी परिवार वाले एक लॉरी में बैठ कर, बड़े ईमाम बाड़े जाते थे और वहीं मोहर्रम मनाया जाता है। वे बड़े ईमाम बाड़े का वर्णन कुछ इस प्रकार करते है, "ईमाम बाड़े के बारे में

अजीब–अजीब सी बातें मशहूर थीं। मशहूर था कि हर जुम्में की रात को इसमें जिन्नात मजलिस करते हैं। इसलिए शाम के बाद कोई उधर से नहीं गुजरता था, लेकिन मोहर्रम के चाँद के मानी यह होता है कि ईमाम हुसैन कर्बला से हिन्दुस्तान आ गये हैं और ईमाम बाड़ा जिन्नात के हाथ से निकलकर आदमियों के कब्जे में आ गया है।"[6]

मोहर्रम सभी गंगौली वालों को एकता के सूत्र में बांध देता है। मोहर्रम आने के महीने भर पहले ही नोहों की धुन तैयार कर ली जाती है। राही और उनके भाई मातम की तैयारी करते हैं। मजलिस शुरू की जाती है और नौहा पढ़ा जाता है। लोग मुहम्मद हुसैन की कुर्बानी को याद करके मातम मनाते हैं और अपने बेटों को ईमाम साहब के सुपुर्द कर देते है। ताज़िया निकाला जाता है, जिनके नीचे से निकलकर औरतें, अपने बच्चे के लिए दुआएँ माँगती हैं।

उपन्यास का तीसरा अध्याय है 'उद्‌गम'। इस अध्याय में भारतीय समाज में विघटन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। विभाजन की जड़े देश की जमीन को खोखली करने लगती है। अब्बास अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में पढ़ता है। गंगौली आता है, तब वह गफ्फुरन बुआ से कहता है, "एक मरतवा पाकिस्तान बन गया तो मुसलमान ऐश करेंगे.... ऐश। वह जोश में आ जाता और खान अब्दुल गफ़्फार खाँ वगैरह को बुरा–भला कहने लगता और कहता है, बुआ, ये लोग तो मुसलमानों को हिन्दुओं के हाथ बेचने पर तुले हुए हैं।"[7] परन्तु सितारा और गफ्फूरन बुआ को पाकिस्तान बनने या ना बनने से कोई मतलब नहीं है। यहाँ पर विदेशी ताकतों द्वारा फैलाया गया षड्‌यंत्र सफल हो गया था। जमीनी लोगों तक यह विष फैलता जा रहा था। जब सितारा को अब्बास की मुल्क वाली बात समझ नहीं आती तो वह सरवरी से पूछती है कि आखिर मुल्क होता क्या है? सरवरी बड़े फ़क्र से कहती है, "मुसलमानों का एक मुल्क बनेगा।"[8] वह भी सितारा की जिज्ञासा को शांत नहीं कर पाती।

सितारा अब्बास की बात सुनकर यह सोचती है कि आखिर ईमाम हुसैन ने कुछ सोचकर ही हिन्दुस्तान को चुना होगा, फिर पाकिस्तान जैसा अलग मुल्क बनाने की क्या मुसीबत आ पड़ी। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि कर्बला में हुसैन साहब के साथ कश्मीरी ब्राह्मण भी शहीद हुए थे।

उपन्यास में बड़ी–छोटी प्रेम कहानियाँ भी हैं, जो कथानक को आगे बढ़ाती हैं और मनोरंजन भी करती है। ऐसा लगता है गंगौली की समस्त घटनाएँ आँखों के समक्ष घट रही है। अब्बास और सितारा की भी कहानी थी, जो गफ्फूरन के गंगौली छोड़ने और सितारा की कहीं और शादी हो जाने के बाद खत्म हो जाती है।

कथानक का अगला अध्याय 'मियाँ लोग' है। इस अध्याय में राही मासूम रज़ा ने गंगौली के मियाँ लोग, उनकी बिरादरी, रिश्ते–नाते और प्रमुख पात्रों का परिचय करवाया है। मोहर्रम के बाद गंगौली बिल्कुल वीरान हो जाती है, क्योंकि मोहर्रम पर ही ताज़िये बनाए जाते हैं, मजलिसें की जाती हैं, भोजपुरी–उर्दू की मिट्ठास में नोहे पढ़े जाते हैं। पूरा उपन्यास पढ़ने पर ऐसा लगता है कि मोहर्रम गंगौली की जीवन रेखा है। लोगों को इसी त्योहार के दौरान सभी से मिलने का मौका मिलता है। गंगौली का असली रंग मोहर्रम के समय ही देखने को मिलता है। बिना मोहर्रम के 'आधा गाँव' की कल्पना संभव नहीं होती। उपन्यास के पात्र काल्पनिक और उनका जीवन नीरस होता। मोहर्रम ही है जो उपन्यास के पात्रों को जीवंत और सामासिक बनाती है। उत्तर पट्टी और दक्षिण पट्टी को एकता के सूत्र में बांधती है।

गंगौली में दस ताज़िये को सबसे बड़ा जुलूस निकलता था। अब्बू मियाँ कपड़ा बांधे, चाँदी की छड़ी लिए ताज़िये के आगे–आगे चलते और उनका साथ फुन्नन मियाँ, बशीर मियाँ, और हम्माद मियाँ देते थे। ताज़िये के पीछे कम से कम पचास हजार लोग होते थे सभी माँए अपने बच्चों को ताज़िये के नीचे से निकलती और मन्नतें माँगती, यह सभी सैदानियाँ नहीं होती थीं, यह तो गाँव की सामान्य औरतें होती थीं। यह राकिनें, जुलाहिनें, अहीरनें और चमारनें होती थीं, क्योंकि सैदानियाँ तो डोली के बिना घर से बाहर नहीं निकल सकतीं। सैदानियाँ पर्दा करती थीं, वह उच्च वर्ग की महिलाएँ थीं।

एक साल एक विधवा ब्राह्मणी की उलती मजदूरों की भूल से नहीं हुई। बड़ा ताज़िया उसे गिराये बिना गुजर गया। वह बिलख–बिलख कर रोने लगी और नूरूद्दीन शहीद की समाधि पर जाकर बेटों को बड़े ताज़िये के सामने खड़ा कर दिया और ताज़िये की अनदेखी आँखो में आँखें डालकर कहने लगी "है ईमाम साहब। हमार लड़कन के कछऊ हो गइल ना, त ठीक न होई। फिर हम्माद मियाँ को घेरा चलो मीर साहब। हमार उलतियाँ गिरवाये लई।"[9] उलतियाँ का यहाँ तात्पर्य यह है कि जब ताज़िये की झाँकी निकाली जाती है तो सभी औरतें अपने बच्चों को लेकर उस ताज़िये के नीचे से निकलती हैं। इसमें सभी बच्चे, बूढ़े और जवान भी शामिल होते हैं। ताज़िये के नीचे से निकलना ही उलती कहलाता है। उलती गिरवाने में गंगौली के सभी हिन्दू और मुस्लिम शामिल होते हैं। ताज़िया आगे–आगे चलता है, जिसमें गूगल की खुशबू होती है। ताज़िये के पीछे सभी ग्रामीण औरतें होती हैं। जो कर्बला की कहानी गाते–गाते चलती। मन्नतें मांगती और ज़ारी (भोजपुरी में कर्बला की कहानी गाती हुई औरतें, उन दिनों जुलूस के पीछे चला करती थीं, उसे ज़ारी कहते हैं।) पढ़ते–पढ़ते चलती हैं।

कथानक का अगला अध्याय है 'ताना–बाना' इसमें उत्तर पट्टी वालों और दक्षिण पट्टी वालों के रिश्तों की झलक देखने को मिलती है। ठाकुर हरनारायण प्रसाद फुन्नन मियाँ को सजा दिलवा देते हैं। इसमें पूरा दोष उत्तर पट्टी वालों का होता है। दक्षिण पट्टी का दरवाजा जिस पर 'दस का बड़ा ताज़िया' आता है। उसको लेकर दोनों पट्टियों के मध्य स्वामित्व को लेकर संघर्ष होता है जिसके कारण उत्तर पट्टी वालों ने ठाकुर हरनारायण प्रसाद को पैसे देकर, दक्षिण पट्टी वालों पर मुकदमा करवा दिया और परिणाम अपने पक्ष में कर लिया। फुन्नन मियाँ और उनके साथियों को सजा हो जाती है। इसी घटना से उपन्यास में एक नया मोड़ आता है।

गुलाम हुसैन खाँ ने अपनी भतीजी का विवाह कासिमावाद के समीउद्दीन खाँ के बड़े बेटे मुईनुद्दीन खाँ से करने का सोचा, क्योंकि लड़का फौज में भर्ती था। वहीं गुलाम हुसैन खाँ ने अपनी भतीजी के ससुराल वालों को यह बताने के लिए की बदरून कितना अच्छा हलवा बनाती है। कितनी अच्छी सिलाई करती है। यह सब बताने के लिए उन्होंने कई तरह के पैतरें अपनाए। गुलाम हुसैन खाँ इसके लिए उत्तर पट्टी और दक्षिण पट्टी की सारी कड़वाहट को भी भूल जाते थे और फुस्सु मियाँ के घर जाकर रब्बन बी को बाहर से आवाजा देते, ''बदरून के होने वाले ससुराल के लिए थोड़ा सा हलवा चाहिए।''[10] जब बात बेटी की शादी–ब्याह की आती है तो रब्बन बी सब भूल जाती और चने के आटे का हलवा बनाती। इसी तरह वह फुन्नन मियाँ के घर से दही–बड़े बनवा कर बदरून के ससुराल यह कहकर ले जाते थे कि यह सब लजीज व्यंजन बदरून ने बनाया है।

उपन्यास में द्वितीय विश्व युद्ध की समस्या भी उठाई गई है। औपनिवेशिक षड्यंत्र के शिकार हिन्दुस्तानी अपने जवान बेटों को फौज में भर्ती करने के लिए मजबूर थे। इसी कारण जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बंटवारा हो गया तो सभी जवान लड़के फौज में शहीद हो चुके थे। बूढ़े कंधो पर परिवार के लालन–पालन का बोझ था। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने से हर परिवार अपने जवान लड़कों के लिए दुःखी हो रहा था और डर भी रहा था। जब लड़ाई की खबरें गंगौली आई तो अशफुल्ला खाँ परेशान हो गए। उनका नातिन खैरू ननिहाल में ही था। जब उसको युद्ध की खबर मिली तो वह कहने लगा ''नाना मियाँ। अब एक विक्टोरिया क्रॉस मैं लूँगा।''[11] यह सुनकर उसकी नानी ने कहा, ''है ईमाम साहब! ख़ैरू के नाना से मत कहियेगा.... कि हम आपसे कुछ कहे आये रहे। बाकी ख़ैरू को लाम पर जाय से रोक दीजिए....परसाल हम आप पर नवा कपड़ा चढ़ा देंगे।''[12] यह डर हर माँ और पिता के मन में था।

कथानक का अगला अध्याय 'नमक' है। कथाकार ने उपन्यास के सभी अध्यायों का नाम बड़ा रोचक और जिज्ञासु रखा है। पाठक प्रकरण के नाम से बहुत प्रभावित होता है, कि कथा में आगे किस प्रकार का मोड़ आता है। सुलेमान को एक साल की कैद हो जाती है। सुलैमान और झंगटिया बो की बेटी है बच्छन। जब बच्छन बड़ी हुई तो मौलवी सय्यद बैदार हुसैन जैदी को पसंद आने लगी। उपन्यास में भारतीय समाज की विसंगतियों का भी वर्णन किया गया है। जहाँ उम्र में काफी अंतर होने पर भी लड़की का विवाह अपने उम्र से बड़े व्यक्ति के साथ कर दिया जाता है, परन्तु मौलवी बैदार और बच्छन की शादी नहीं हो पाती, क्योंकि मौलवी बैदार सय्यद होते हैं और बच्छन, सुलैमान और झंगटिया बो की नाजायज़ बेटी होती है। बच्छन, सफिरवा से प्रेम करती है और वह उसके साथ भाग कर कलकत्ता चली जाती है। झंगटिया बो इस डर से खुदखुशी कर लेते हैं कि बच्छन के पिता को इस घटना के बारे में क्या जवाब देगी। जब सुलैमान सज़ा पूरी करके आता है, तो वह भी उसी कुएँ में आत्महत्या कर लेता है।

कलकत्ता में बच्छन, रजिये से मिलती है। वह बहुत खुश होती है। रजिये से मिलने पर वह कहती है, ''मोहर्रम शुरू होने वाला है। कलकत्ता में इमाम हुसैन तो भला क्या आते होंगे। यहाँ आठवें का हलवा और रस की चाय तो क्या मिलेगी। शब्ब–चा की मजलिस का जिक्र करते–करते वह रो पड़ी, लेकिन सुलैमान के डर से मोहर्रम में गंगौली आने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही है।''[13] मोहर्रम की मजलिस गंगौली वालों के लिए जीवनदायिनी दवा है। मजलिस में सब मिलते हैं, बच्चे, बड़े अपने नोहों की धुन से आंचलिक सभ्यता को परिपूरित कर देते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध ने गंगौली की जीवन रेखा को रोक दिया था। घर की लड़कियों के विवाह करने में भी परिवार वाले डरने लगे थे, क्योंकि कभी–भी किसी भी युवक को युद्ध में लड़ने के लिए भर्ती किया जा सकता था। यह अंग्रेजी शासन का आदेश था। जब रब्बन बी की बेटी और फुस्सु मियाँ के बेटे के रिश्ते की बात चली तो रब्बन बी कहने लगी, ''ई बखत अपनी–अपनी लड़कियन को छाती से लगाकर बैठे का है। बहिन, का पता कब कौन लागम पर चला जाए।''[14] द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका ने पूरी मानव जाति को डरा रखा था। गंगौली का वक्त भी धीरे–धीरे बदल रहा था। जो पहले चमार थे, वो अब हरिजन हो गये थे। खादी के कपड़े और सफेद टोपी पहनने लगे थे। छुआ–छूत खत्म होने लगी थी। यह परिवर्तन सकारात्मक तो थे परन्तु गंगौली में एक अराजकता की लहर उठ गई थी। सुखरमवा चमार के लड़के परसुरमवा ने ब्राह्मणों के कुएँ पर चढ़ कर पानी भर लिया था। जब रब्बन, सकीना और कुबरा बात कर रही थी तब, आसिया ने एक अचंभे की

बात बतायी, ''सुखरमवा चमार का लड़का परूसराम खद्दर की टोपी पहने ऐसी–ऐसी तकरीर कर रहा था कि मौलवी इब्ने–हसन का कोई है। खुदा गारत करे ई मट्टी मिले कांग्रेसिन को जिन्होंने चमारों और भंगियों का रूतबा बढ़ा दिया।

ऊ सब अब अछूत ना है.... हरिजन हो गये हैं..... उन्होंने मुर्दा खाना भी छोड़ दिया है और कोई महीना–भर पहले चमारों का एक गोल परूसराम की लीडरी में पंडिताने के कुएँ पर चढ़ गया और पानी भर लाया।

यह बात सुनकर रब्बन बी की इकलोती आँख हेरत से चढ़ गयी। उनके ख्याल में यह सब 'जर्मन' कुसूर था, वरना चमारों का यह हौसला नहीं हो सकता था।''[15]

जिस तरह से भारतीय राजनीति में परिवर्तन आ रहा था, उसी तरह भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचे में भी कई सकारात्मक परिवर्तन हो रहे थे।

इस साल मोहर्रम के मातम का रंग कुछ फीका था। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण मजलिस में कुछ चेहरे कम नजर आ रहे थे और यह बात मासूम को रह–रह कर खल रही थी। उसने फुन्नन मियाँ से हिम्मत करके पूछ ही लिया कि सब कहाँ गए, ''तब फुन्नन मियाँ ने जवाब दिया कि लड़ाई में भर्ती हो गए। बड़े फाटक का झण्डा भी इस साल तार–तार हो गया था। जब मजलिस पूरी हुई तो गया अहीर ने फटे झण्डे की तरफ देखा और सोचा, फरहारा कई जगह से फट गया.... इस जंग ने तो मोहर्रम की रौनक ही छीन ली है। वरना भला बड़के फाटक पर फटा हुआ फरहरा लग सकता है।''[16]

युद्ध के लिए ब्रिटिश सरकार ज़मींदारों से चंदा मांग रही थी। वह उन पर दबाव बना रही थी कि ज्यादा से ज्यादा चंदा एकत्र किया जाए, ताकि वह राशि युद्ध में काम आ सके। चंदा एकत्र करने पर ब्रिटिश सरकार ज़मींदारों को तमगा देती थी कि उन्होंने युद्ध में कितनी सहायता की। इसी कारण ठाकुर साहब ने लड़ाई के लिए एक लाख रुपया चंदा एकत्र करने का बीड़ा उठाया था, ताकि वह यह चंदा ब्रिटिश सरकार को दे सके और ज़मींदारी पर कोई आंच न आए। ठाकुर साहब गोबरधन को एक हजार रुपया चंदा की राशि के रूप में देने को कहते हैं। इतनी बड़ी रकम का नाम सुनकर गोबरधन चौंक जाता है। गंगौली वालों के लिए वह गंगौली का अमीर जमाता होता है, परन्तु वास्तव में वह अमीर होता नहीं है। उसका व्यापार सिर्फ उसके ख़्यालों में फलता–फूलता होता है। असल जीवन में वह अमीर नहीं ख़्याली अमीर होता है। वह इतनी बड़ी राशि ठाकुर साहब को नहीं दे पाता है। ठाकुर साहब और गोवर्धन के मध्य हुआ यह संवाद पठनीय है –

''देखो सेठ लड़ाई हो रही है। तुम्हारे चार लड़के सरकारी फौज में हैं। मैं तुम्हारा नाम कांग्रेसियों में लिखना नहीं चाहता।

अरे राम–राम करिये साहब। गोबरधन बिल्कुल घबरा गया, आँग्रेस–क्राँगेस माँ ना है। च.... च का कहत बाँड़ सरकार आप?

जो लड़ाई का चंदा नहीं देगा वह गाँधी का कोई भगत ही होगा।

ऐसन न कहीं सरकार।

कैसे न कहैं। अब आप ही बताइये, हकीम साहब। दरोगाजी हकीम साहब से मुखातिब हो गये, सेठ गोबरधन के लिए दस हजार की क्या हैसियत है?''[17]

इसके बाद गोबरधन बिल्कुल घबरा जाता है। वह ठाकुर साहब के पास जाता है और कहता है, ''सरकार, जौन कुछ हमारे पास बाये, तौन हाज़िर है। गोबरधन ने बही और एक थैली पेश की। थैली बहुत मुख्तसिर थी। बही बहुत तंदुरूस्त थी। दरोगाजी की भवे तन गयी, यह बही का मैं क्या करूँगा?

हमार कुल कारोबार एही माँ बाये, सरकार। गोबरधन ने कहा, और पूँजी थैलिया मा और गिन लियन चार सौ अगारा रुपिया है। अब हम का कहे।''[18]

यह सब संवाद होने के बाद ठाकुर हरनारायण प्रसाद को भी गोबरधन पर दया आ जाती है, वह उसकी पैसे की थैली वापस लौटा देता है। अंत में गोबरधन गंगौली छोड़ कर चला जाता है।

ठाकुर साहब 'वार फण्ड' के नाम पर फुन्नन मियाँ से पैसा वसूलने के लिए जाते हैं, तो फुन्नन मियाँ कहते हैं, ''एक ठो लड़का त चंदे में दे दिया है ना। छः महीने से कौनों खबरों ना आयी है कि इम्तियाज़ जियत है कि मर गये। ''वार फण्ड'' काहे का वार फण्ड। हम कह रहा जर्मन से लड़े को? कि हम वार फण्ड दें? कपड़ा हमें ना मिले। ए भाई, खाय की हर चीज़ बाजार से बिलायी गयी। नजर ब्याज़ को चीनीं हम्में ना मिले। मिट्टी का तेल आबे–जमजम हो गवा है। खास लोगन को मिलता है। हम डब्बल न देंगे वार–फंड में। जुअन करें को हो, तुअन कर लियों।''[19]

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण देश की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गयी थी। ज़मींदार वार फण्ड की आड़ में स्वयं की तिजोरिया भी भर रहे थे। आम व्यक्ति के लिए दैनिक जीवन की वस्तुएँ भी सुलभ नहीं हो पा रही थीं। इन सब के बीच पाकिस्तान बनाने की कोशिश भी चल रही थी। फुन्नन मियाँ और फारूक़ के मध्य यह संवाद उस समय की

दारूण स्थिति को उजागर करता है कि हिन्दुस्तान के गौरवमयी इतिहास पर शंका के बादल मंडराने लगे थे।

''आदाब चाचा! अनवारूल हसन राक़ी का लड़का फारूक आ गया।

ऐ भैया, तोरे पाकिस्तान का हाल है? फुन्नन मियाँ ने कहा।

वह तो बन रहा है।

काहे न बनिहें, भैया! तू कहिं रइयों तो जरूर बनि है। बाकी ई गंगौली पाकिस्तान में जइहे कि हिन्दुस्तान में रइहें?

इ तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में तो सूबा सरहद, पंजाब, सिंध और बंगाल होगा और कोशिश कर रहें हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में हो जाय।

गंगौली के वास्ते ना करिह्यो कोशिश?

गंगौली का क्या सवाल है?

सवाल न है त हम्में पाकिस्तान बनने या न बनने से का?

एक इस्लामी हकूमत बन जायगी।

कहीं इस्लामू है कि हुकूमत बन जैयहे! ऐ भाई बाप–दादा की क़बुर हियाँ है, चौक इमाम बाड़ा हियाँ है, खेत–बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिंदाबाद में फँस जायँ।''[20]

ऐसी कई पेचीदा स्थिति उत्पन्न होती है, जो उन लोगों की मानसिक स्थिति को उजागर करती हैं, जहाँ व्यक्ति को अपनी जन्मभूमि और उस की परवरिश पर संदेह होने लगता है। किस प्रकार हम अपने खेत–खलिहान, छोड़कर दूसरी जगह बस जाए। ऐसी स्थिति में राही के पात्रों के संवाद बड़े तार्किक और मनोवैज्ञानिक हैं। वह हर गलत बात का प्रतिकार करते हैं।

उपन्यास का अगला अध्याय है ''गाथा''। इस अध्याय में मिगदाद और सैफुनिया की प्रेम कहानी साथ–साथ चलती है। फुन्नन मियाँ और झिंगुरिया के खिलाफ फौजदारी हो जाती है। झिंगुरिया को इसी फौजदारी में फाँसी की सज़ा दी जाती है।

झिंगुरिया, फुन्नन मियाँ का चेला होता है। झिंगुरिया का बेटा छिकुरिया है, जो फुन्नन मियाँ के घर रोज आता है और कुलसुम से कोई काम है क्या पूछता है? फुन्नन मियाँ की अनुपस्थिति में वह इसे अपना कर्त्तव्य समझता है। वह फुन्नन मियाँ को अपने

पिता के समान मानता है। छिकुरिया को सिर्फ यह मालूम था कि उसके पिता को किसी अच्छे कार्य के लिए मृत्यु दण्ड मिला है। एक दिन गंगौली के मास्टर ने छिकुरिया से कहा, कि तुम्हारे पिता वतन के लिए शहीद हुए हैं, तो छिकुरिया को यह बात कुछ अटपटी सी लगी, क्योंकि गंगौली वालों के लिए तो सिर्फ इमाम साहिब ही शहीद हुए थे। उसने मास्टर साहब से कहा, ''ऐसन मत कहें, मास्टर साहब, इमाम साहिब गुसा गैलन ना त उपदरो हो जाइ।''[21]

इमाम साहब नाम सुनकर मास्टर साहब कुछ विचलित हो गए, क्योंकि उनके अनुसार भारत को मलेच्छों ने तहस–नहस किया था। छिकुरिया को यह बात सुनकर बड़ी हैरानी हुई की मास्टर साहब को शहीद इमाम हुसैन की दास्तान नहीं पता। छिकुरिया के लिए मुसलमान तो मौलवी बैदार थे, जो हिन्दुओं का छुआ नहीं खाते थे। उसे लगा जब मास्टर साहिब को यह नहीं पता कि इमाम हुसैन एक शहीद थे, तो वह इन बच्चों को क्या शिक्षा देते होंगे। वह बोला, ''ईत हमहूँ का ना मालुम। बाकी इमाम साहब बड़ा जब्बर हौवन। दस दिन की खातिर हियाँ आवे ला। मार ताज़िया उठे ला। परसाद बाँटे ला। लकड़ी का अखाड़ा जम्मे ला....। उसने मोहर्रम की सारी तफ़सीलात सुना डाली।''[22]

मास्टर साहब का यह बात सुनकर माथा ठनक गया। उन्होंने छिकुरिया को समझाने की बहुत कोशिश की परन्तु वह नहीं माना, क्योंकि मियाँ लोग भी दशहरे का चंदा दिया करते थे और मठ के लिए बाबा को जहीर मियाँ ने, पांच बीघा जमीन दान दे रखी थी। मास्टर साहब की यह असंतोषजनक बातें सुनकर छिकुरिया उदास हो गया। उसका सपना था कि वह अपने बेटे को विद्यालय भेजेगा, परन्तु मास्टर साहब की मजहबी बातें उसकी समझ से बाहर थी। वह सोचने लगा की अगर ऐसा ज्ञान विद्यालय में दिया जाता है, तो वह अनपढ़ ही अच्छा है। वह अपने बेटे को विद्यालय पढ़ने नहीं भेजेगा। वह मास्टर साहब से कहने लगा, ''हम कौनो महापुरूष ना हुई, किसान हुई। हम आकिस्तान–पाकिस्तान ना जानी ला। खेत–बाड़ी की बात समझी ला। त हम त ई देखत बाड़ी कि बारिखपुर के ठाकुरो साहिब जुलम कर में गंगौली के मियाँ लोगन से कम ना हौवन। कहीं त लिटा दिहिल जाय ठाकुर साहब के। ऊहो मुसलमान जनात बाड़ी।''[23] छिकुरिया के जवाब के सामने मास्टर साहब तर्कहीन हो गए। गंगौली में हिन्दू–मस्लिम सभी एक साथ रहते हैं। उनके लिए दशहरे का चंदा और मोहर्रम का ताज़िया समानता रखता है। राही मासूम रज़ा साम्प्रदायिकता के सख्त खिलाफ थे। उपन्यास में ऐसे कई उदाहरण हमको देखने को मिलेंगे जहाँ हिन्दू–मुस्लिमों के संबंधों में प्रगाढ़ता है। वह किसी मास्टर या फारूख़ की बातों से डगमका नहीं सकती।

उपन्यास का अगला अध्याय है 'प्यास'। तन्नू सेना में भर्ती हो गया था उसका जीवन सेना में जाने के बाद बदल गया था। वह छः वर्ष के बाद गंगौली लौट रहा था। वह उस सर्द हवा को महसूस कर रहा था जो वह छः वर्ष पूर्व छोड़ कर गया था। अब उसकी आँखें सूनी हो गयी थी। उसकी आँखों में अब मियाँपन की नर्मी खत्म हो गई थी और एक अजीब उदासी छा गई थी। वह युद्ध के भीषण क्षणों को जीकर आया था। गंगौली में जब वह फुस्सू चाँ से मिला, तो वह गंगौली की भाषा को नहीं भूला और तो और मातम करने का फन भी उसे भली–भाँति याद था। फुस्सू मियाँ, तन्नू के चाचा लगते थे। तन्नू के पिता शब्बू मियाँ ने, फुस्सू की लड़की सल्लो को तन्नू से विवाह के लिए उन्होंने पसंद कर रखा था। तन्नू, सईदा को पसंद करता था, परन्तु परिवार वालों के दबाव में आकर वह सल्लो से विवाह कर लेता है। अंत में बेमन से की गई शादी के कारण वह सल्लो और उसकी बेटी को छोड़कर पाकिस्तान चला जाता है।

धीरे–धीरे गंगौली का माहौल बदलने लगता है। द्वितीय विश्व युद्ध तो खत्म हो गया था परन्तु देश में विभाजन की आग सुलग रही थी। गंगौली में गंगौली वालों की संख्या कम होने लगी थी। देश की राजनीति में परिवर्तन हो रहा था। निम्न जाति के लोगों की सामाजिक संरचना बदल रही थी। भंगी, चमार जैसे लोग कांग्रेस की टिकट से चुनाव लड़ रहे थे। आज तक जो लोग, मियाँ ज़मींदारों के यहाँ नौकर थे। वह सज–धज कर जातीय संरचना को चुनौती दे रहे थे। अलीगढ़ से कुछ राजनैतिक दल के नेता मुस्लिम लीग को वोट देने का प्रचार कर रहे थे, तो कुछ कांग्रेस को वोट देने का। तुष्टिकरण की राजनीति ने गंगौली का अमन चैन छीन लिया था। पश्चिम बंगाल, यू.पी. पंजाब सभी जगह साम्प्रदायिकता की आग फैल चुकी थी। अराजकता की स्थिति के कारण लोगों में भ्रम की बुनियाद मजबूत होने लगी।

परूसराम का समाज में कद बहुत बढ़ गया था। वह सफेद कपड़े और गाँधी टोपी पहन कर खुद को कांग्रेस का लीडर समझने लगा था। परूसराम की भाषा भी खड़ी बोली हो गई थी। उसके पद के कारण सभी उससे भयभीत होने लगे थे। जब मिगदाद अपने पिता से अपने हिस्से की जमीन माँगने गया तो परूसराम ने ही उसकी मदद की और मिगदाद को उसका हक दिलवाया। यह सभी बातें फुन्नन मियाँ के सामने हुई। परूसराम ने खड़ी बोली में अपनी बात कही तो सब उसको देखते रह गए, क्योंकि वह परूसराम जो कभी ज़मींदार के यहाँ मजदूरी करता था। अब वह कांग्रेस का नेता बन कर घूमता है। सबकी सिफ़ारिश करता है। इससे उसे ऊपर की आमदनी भी बहुत होती है। जब परूसराम

के चाल–ढंग बदलने लगे तो फुन्नन मियाँ और मिगदाद के लिए यह आश्चर्य से कम नहीं था।

''फुन्नन मियाँ ने हैरानी से कहा, तैं त कॉंगरेसी होके अपनी जबनियां भुल गया।

अरे त का करीं मियाँ। परूसराम मुस्कुराया, सहर बालन में आप गँवरउ बोलीं कईसे बोलीं। आखिरो चुनाव–उनाव लड़े के होई। त का देहली की पार्लियामेंट में अइली–गइली से काम चल्ली? त सिक्खत बाड़ीं सहर वालन की बोली।''[24]

फुन्नन मियाँ को यह भाषा बिल्कुल समझ नहीं आई। वह परूसराम से पूछने लगे कि यह जो साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं। उस पर गाँधी के क्या विचार हैं, परन्तु परूसराम इस सवाल का कोई जवाब नहीं दे पाया।

विभाजन के समय दलित उत्थान की जो लहर चली, वह अपने मूल रूप से विचलित होने लगी। इसका परिणाम परूसराम के व्यक्तित्व के रूप में उभरा।

सलीमपुर और बारिकपुर में भी हिंसक दंगो की आग फैल चुकी थी। जब स्वामी जी ने हिन्दू सनातन धर्म पर प्रवचन के नाम पर भाईचारे का गला घोंट दिया तो, गाँव के किसान समझ नहीं पा रहे थे कि आखिर गलती किसकी है। मुसलमान और हिन्दू साथ–साथ बड़े हुए, उनकी जमीन पर साथ में धान बोएँ गए, फिर अब इस बंटवारे की आवश्यकता कैसे पड़ गई। कुछ मुसलमान जब बारीकपुर के जयपालसिंह के यहाँ सहायता मांगने पहुंचे तक जयपाल सिंह ने उनकी हिन्दू उपद्रवियों से रक्षा की।

जैसे–जैसे साम्प्रदायिकता की आग आगे बढ़ रही थी। लोगों में अफरा–तफरी मची हुई थी, जो पहले हिन्दुस्तान की पैरवी कर रहे थे, अब वह पाकिस्तान जाकर बस गए थे। सफ़िरवा, सग़ीर, फातिमा के साथ पाकिस्तान चला गया। अन्त में सफिरवा अपने बच्चों की लाश के साथ पाकिस्तान पहुँचा और सग़ीर फ़ातिमा सरहद के इस पार रह गई। इसी तरह तन्नू भी पाकिस्तान बन जाने के बाद सिर्फ गंगौली के लिए एक दर्दनाक स्मृति बन कर रहा गया। कुद्दन भी हकीम साहब को छोड़कर और अपनी पत्नी व बच्चों को त्यागकर पाकिस्तान चला गया। हकीम साहब का दर्द इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है।

''अब हम लोग अपने लड़कन के बाप ना रहे गये। अब लड़कवे सब हमरे लोगन के बाप हो गये हैं। हम बहुत कहा कुद्दन से ए बेटा तूहे पाकिस्तान जाये की कउन जरूरत है। त बोले कि हिआँ मुसलमान की तरक्की का रास्ता बंद हो गया है। अब ओके अपने बाल–बच्चन को भी ले जायें त हम इतमेंनान की साँस लें। ए बशीर! ई पाकिस्तान त

हिन्दू–मुसलमान को अलग करें, को बना रहा है। बाकी हम त ई देख रहें कि ई मियाँ–बीवी, बाप–बेटा और भाई–बहिन को अलग कर रहा है। कुद्दन हुआं चले गये त ऊ मुसलमान है, अउर हम हिआँ रह गये त का हम, खुदाना करें, हिन्दू हो गये?''[25]

सभी के मन में एक ही सवाल था। जब पाकिस्तान का गठन एक मुस्लिम राष्ट्र के रूप में हो रहा है, तो परिवारों का विघटन क्यों?

बड़े–बड़े नेताओं की जगह–जगह रैली निकाली जा रही थी। जो युवक युद्ध में शहीद हुए उसका श्रद्धांजलि दी जा रही थी। कासिमाबाद में भी इस तरह का जलसा हुआ। वहाँ शहीदों की एक समाधि बन रही थी। कांग्रेस के बड़े–नेता बालमुकुंद वर्मा आ रहे थे। फुन्नन मियाँ भी उस जलसे में गए, क्योंकि उनका बेटा मुन्ताज़ युद्ध में शहीद हो गया था। उनको विश्वास था कि उसकी शहदत भी याद की जाएगी। वहाँ कांग्रेसी नेता ने लम्बा–चौड़ा भाषण दिया। उस भाषण में गोवर्धन, हरिपाल जैसे शहीदों की वीरता को याद किया गया, परन्तु मुन्ताज़ की शहादत के लिए एक भी सम्मानजनक शब्द नहीं बोला गया। फुन्नत मियाँ अंदर से बहुत आहत हो गए। फिर वह भीड़ में खेड़े होकर बोले, ''ए साहब! हिआँ एक को हमर हू बेटा मारा गया रहा। अइसां जना रहा कि कोई आपको ओका नाम ना बताइस। ओका नाम मुन्ताज़ रहा।''[26]

अगला अध्याय 'तनहाई' है। गंगौली वालों के जीवन में पाकिस्तान नाम की तनहाई आ गई थी। इस तनहाई ने सभी को उदास और अकेला कर दिया था। सभी की आँखें एक–दूसरे से प्रश्न कर फँस गया था, ना वह निगला जा रहा था ना उगला जा रहा था। ज़मींदारी खत्म हो जाएगी ऐसा सोचकर बड़ी–बूढ़ियां कांग्रेस को गालियाँ दे रही थी। हर नमाज़ में कांग्रेस को बददुआएं दी गयी। ''अरे, ई कांग्रेस माटीमिली को कोढ़ हो जाये। इह की मिट्टी खराब हो, लोकिन न दुआएँ क़बूल हुई और न बद्दुआएँ।''[27]

हकीम साहब का बेटा सद्दन उनको छोडकर पाकिस्तान चला गया। हकीम साहब का काम चौपट कम्मो ने कर ही दिया था। कम्मो की होम्योपेथी की गंगौली में धूम मची थी। अब हकीम साहब से कोई दवा–दारू नहीं करवाता था। सद्दन भी अपनी पत्नी और बच्चों को छोड़कर पाकिस्तान चला गया। सद्दन ने वहाँ दूसरी शादी कर ली। अब हकीम साहब पर बहू और पौते–पोतियों के अलावा विधवा बेटी और नातिनों की भी जिम्मेदारी थी और ऊपर से आमदनी कुछ नहीं।

मौलवी बेदार पाकिस्तान चले गए। उन का घर अब खण्डहर हो गया। उस खण्डहर को कस्टोडियन के हाथों परसुराम ने खरीद लिया। अब वहाँ पक्की ईंटों का

मकान बन गया। मकान के पास एक सेकण्ड जीप खड़ी हो गई। अब परूसराम का कद समाज में बढ़ गया था। जब परूसराम लोगों को बताता अब देश आज़ाद हो गया हैं, और ज़मीदारी खत्म हो गई है तो लोग, "इस किस्म की बातें करने वाले का मज़ाक उड़ाते रहे कि ज़मींदारी कैसी खत्म हो सकती हैं। यह बात समझ में आनेवाली भी नहीं थी। गाँव के बूढ़े किसानों को भी यक़ीन नहीं था कि ज़मींदारी खत्म हो सकती है। परूसराम की बातें सुनकर वह खुश होते, पर उनके दिलों में बैठा हुआ सदियों का डर उन्हें टोक देता। ज़मींदारी मजहब की तरह मजबूत थी।"[28]

'नई–पुरानी रेखाएँ' अध्याय में ज़मींदारी के पतन के बाद गंगौली में रोजगार के अवसर बदल गए थे। फुस्सू मियाँ ने जूतों की दुकान खोल ली थी। परूसराम एम.एल.ए. बन गया था। गाँव के ज़मींदारों में उसका रूतवा बढ़ गया। फुन्नन मियाँ का अंत बहुत दयनीय था। बारिखपुर के ठाकुर जयपाल सिंह ने उनके खिलाफ़ षड्यंत्र किया। जब वे रात को बारिखपुर से गंगौली आ रहे थे तब ठाकुर जयपाल सिंह के लोगों ने फुन्नन मियाँ और छिकुरिया पर हमला कर दिया और वह दोनों मर गए। हकीम साहब की हड्डि टूट गयी और वह भी मर गए। अंत में फुस्सू मियाँ का वह वाक्य जो शायद इस उपन्यास के लोगों की मूल संवेदना बन कर उभरा हैं, "हम पाकिस्तान ना जा सकते मौला को छोड़के.... .....हे बाबा! तूँ गवाह रहियो, हम गँधिया को माफ़ कर रहे।"[29]

2.2 गंगौली की झाँकी :–

गाज़ीपुर का एक छोटा–सा गाँव गंगौली, सिर्फ एक गाँव नहीं है, यह भारतीय इतिहास के विभाजन का कटु सत्य है। जिसे हम केवल विभाजन की त्रासदी कह कर भुला नहीं सकते, वह तो आज भी अमर है। जिस प्रकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मेरीगंज' है, उसी प्रकार राही मासूम रज़ा का 'गंगौली' है। राही मासूम रज़ा ने अंचल विशेष के शिया सम्प्रदाय के जीवन का मार्मिक और यथार्थ वर्णन किया है। गंगौली एक गाँव नहीं है, बल्कि वहाँ के लोगों का पूरा परिवार है। गंगा तो गंगौली की माँ है। गंगौली गाँव का नाम भी राजा गंग के नाम पड़ा। गंगौली में दो दरवाजे है अर्थात् दो पट्टियाँ हैं और दोनों पट्टियों में शिया लोगों के घर है। गंगौली में सभी शिया मुसलमानों के पास ज़मींदारी है। इन ज़मींदारों के शार्गिद निम्न जाति के हिन्दू है।

गंगौली में मोहर्रम एक पर्व नहीं बल्कि जीवनदायिनी औषधि है। गंगौली वालों को पूरे साल मोहर्रम का इंतजार रहा है। इसी कारण वे एक दूसरे से मिल पाते है। दक्षिण दरवाजे से मोहर्रम का बड़ा ताज़िया निकलता है। उस ताज़िये से सभी बड़े–बूढ़े, बच्चे

महिलाएँ अपनी उलती गिरवाती है। यहाँ हमारी सामासिक संस्कृति के दर्शन होते है। गाँव के हिन्दू भी इमाम साहब को देवता के रूप में मानते है। ताज़िये के पीछे गाँव की ग्रामीण महिलाएँ जो निम्न वर्ग की है, भोजपुरी उर्दू में गीत गाती है। मुस्लिम वर्ग की उच्च जाति की जो महिलाएँ पर्दा करती हैं, वह डोलियों में चलती हैं।

पूरा गंगौली एक ऐसे समाज का प्रतिनिधित्व करता है जो हिन्दू–मुस्लिम, जातिगत और धार्मिक विभिन्नताओं से काफी ऊपर है। एक ऐसा समाज जिसकी कल्पना वर्तमान में संभव नहीं है। गंगौली राही मासूम रज़ा की जन्मभूमि है। गंगौली गाँव को आधार बना कर कथाकर जिन परिस्थितियों को समाज के समक्ष लाना चाहता है वह महत्वपूर्ण है। गंगौली के सभी पात्र राही मासूम रज़ा के मानस की ऊपज है। गंगौली के माध्यम से कथाकार ने उस समय का उद्घाटन किया है जिसको अधिकतर लोगों ने स्वीकार नहीं किया। शिया सम्प्रदाय के लोगों का ग्रामीण जीवन का यथार्थ वर्णन है। विभाजन के बाद उनकी स्थिति और दयनीय हो गई। सबसे प्रमुख समस्या तो रोजगार की थी। जब ज़मींदारी समाप्त हो गई तो रोजगार एक प्रमुख समस्या बन कर उभरा। लोगों के पास शिक्षा नहीं थी। आजिविका के संसाधन नहीं थे। एक बड़ा प्रमुख कारण यही था इसी कारण लोग पाकिस्तान पलायन कर रहे थे।

गंगौली का वातावरण सौहार्द्धपूर्ण है। सभी परिवार एक–दूसरे की मदद करते हैं। सभी प्रेम व समन्वय से रहते है परन्तु धीरे–धीरे परिस्थितियाँ बदलने लगती है। इस यात्रा में साहस करके गंगौली खड़ी भी होती है, परन्तु इसका अंत विभाजन से होता है। फिर गंगौली में गंगौली वालों की संख्या कम होने लगती है। गंगौली से गुजरने वाले समय की कहानी 'आधा गाँव' की वास्तविक कहानी है। गंगौली के बारे में राही मासूम रज़ा कहते है', "यह गंगौली कोई काल्पनिक गाँव नहीं है और इस गाँव में जो घर नज़र आयेंगे व भी काल्पनिक नहीं है। मैंने केवल इतना किया है कि इन मकानों को मकान वालों से खाली करवाकर इस उपन्यास के पात्रों को बसा दिया है।"[30]

गंगौली एक टूटी–फूटी समाधि के पास स्थित है। यह समाधि मसऊद गाज़ी के लड़के नूरूद्धीन शहीद की है। गंगौली के दोनों कोनों पर सय्यदों के मकान हैं। "गांव के आपस–पास झौंपड़ों के कई 'पूरे' आबाद है। किसी में चमार रहते हैं किसी में भर और किसी में अहीर। गंगौली में तीन बड़े दरवाजे है। एक उत्तर–पट्टी में है और पक्कड़–तले कहा जाता है। यह लड़की का एक बड़ा सा फाटक है। सामाने की पक्कड़ का एक पेड़ है। चौखट से उतरते ही दाहिनी तरफ कई इमाम चौक है जिन पर नौ मोहर्रम को लकड़ी के खूबसूरत ताज़िये रक्खे जाते है।"[31]

गंगौली समन्वित संस्कृति का जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करती है । यहाँ दशहरे का चंदा मियाँ लोग देते है, तो ताज़िया हिन्दू कामगार बनाते है। गंगौली राही मासूम रज़ा के सपनों की गंगौली है। उपन्यास में "युग एक बिना जिल्द की किताब की तरह एक खुले मैदान में पड़ा हुआ है। हवा की हल्की सी लहर भी इसके पन्नों में फरसव घटते–बढ़ते रहते हैं, कभी वह दस पृष्ठ आगे निकल जाते है और कभी दस पृष्ठ पीछे रह जाता है।"[32]

गंगौली में ज़मींदारी का अलग ही रंग है। यह ज़मीदारी न होती तो शायद गंगौली का उतना ऐतिहासिक महत्व न होता। उत्तर पट्टी में एक बड़ा आँगन है। ''बिरादरी की बारातें यहीं उतरती है। मरने–जीने का खाना यहीं होता है। आसामियों को सज़ा यहीं दी जाती है। पट्टीदारी के मामले यहीं उलझाये और सुलझाये जाते हैं और यहीं थानेदारों डिप्टियों और कलक्टरों का नाच–नंग होता है–ये आँगन न हो तो ज़मींदारियाँ ही न चले।"[33]

गंगौली की जितनी विशेषताएँ बताएँ जाए कम है। यह सिर्फ गांव नहीं राही मासूम रज़ा के साहित्य का उत्स है। जिसको उन्होंने कभी नहीं भूलाया। गंगौली एक गाँव नहीं, एक युग है, जो स्वयं समय का साक्षी है।

2.3 विभाजन का दर्द :–

'आधा गाँव' उपन्यास की मूल समस्या विभाजन ही है। राही मासूम रज़ा के सभी उपन्सासों में विभाजन की पीड़ा देखने को मिलती हैं। विभाजन का दर्द ऐसा हैं जो हमारी जड़ों को आज भी दीमक की तरह नष्ट कर रहा हैं। विभाजन सिर्फ देश को दो सीमाओं में नहीं बाँटता। वह इसके साथ–साथ सांस्कृतिक और सामाजिक विघटन भी करता हैं। इस बंटवारे से कई सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य नष्ट हो गए। गंगौली में भी विभाजन ने कई घरों को नष्ट किया।

गंगौली अँचल में सय्यद मुसलमानों का बाहुल्य हैं। इन सय्यद खानदानों में ज़मींदारी ही आजीविका का एक मात्र माध्यम है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ज़मींदारी खत्म हो गई, लोग बेरोजगार हो गए। सभी की सुराज की कल्पना, मात्र स्वप्न बन कर रह गई। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण भी जवान शहीद हुए। गंगौली में नौजवानों की संख्या कम होने लगी। भारतीय मुसलमानों के मस्तिष्क में अराजकता का विष घोला गया। जिससे वह अपनी जन्मभूमि को छोड़कर पाकिस्तान चले गये। सबसे बड़ा सत्य यह था कि वे वहाँ भी शरणार्थी बन कर रह रहे थे। पाकिस्तान में भी शिया और सुन्नी विवाद ज्वलंत समस्या बना हुआ है।

तन्नू का विवाह सल्लो से करवा दिया जाता है। बेमन से किए गए विवाह का निष्कर्ष यह होता हैं कि तन्नू, सल्लो और उसकी बेटी को छोड़कर पाकिस्तान चला जाता हैं। हकीम साहब का भी यही हाल था। परिवार का लालन–पोलन करने के लिए अब कोई जवान व्यक्ति नहीं था, मौलती बेदार, भी वृद्ध हो गए थे। मौलवी बेदार ने अपने बेटे कुद्दन से कहा, "ए बेटा, तुहे पाकिस्तान जाये की कउन ज़रूरत हैं। त बोले की हिआँ मुसलमानन की तरक़्की का रास्ता बंद हो गया हैं। अब आके अपने बाल–बच्चन को भी ले जायें त हम इतमेनान की साँस ले।"[34]

पाकिस्तान बनना एक राजनीतिक षड्यंत्र था। जिसके परिणाम भारतीय मुसलमान और हिन्दू झेल रहे थे। परिवार के परिवार पलायन कर रहे थे। सभी को अपना भविष्य अंधकारमय लग रहा था। मौलवी बेदार इन घटनाओं से बहुत दुःखी थे। वे बशीर से कहते हैं, "ए बशीर! ई पाकिस्तान त हिन्दू–मुसलमान को अलग करे को बना रहा। बाकी हम त ई देख रहें कि ई मियाँ–बीवी, बाप–बेटा और भाई–बहिन को अलग कर रहा। कुद्दन हुआँ चले गये त ऊ मुसलमान हैं, अउर हम हिआँ रह गये त का हम, खुदा न करे, हिन्दू हो गये?"[35]

इसी तरह सफ़िरवा अपने बच्चों और बच्छन को लेकर पाकिस्तान चला गया। सफिरवा अपने बच्चों की लाशों के साथ पाकिस्तान पहुँचा सगीर फ़ातिम और बच्छन हिन्दुस्तान ही रह गई। उनकी लाशें किसी तिनके की तरह उड़ गई, क्योंकि हिन्दुस्तान–पाकिस्तान की सीमा तो ज़िन्दा कब्रिस्तान बनी हुई थी। पाकिस्तान में सफ़िरवा ने अपना नाम बदल कर सय्यद सफ़ीरूल हसन ज़ैदी रख लिखा।

उपन्यास में सबसे अधिक दुर्गति फुन्नन मियाँ की हुई। वे इस उपन्यास के सबसे सशक्त पात्र है, परन्तु उनका अंत दयनीय है। उन्होंने हिन्दू–मुसलमान किसी में भेद नहीं किया। सभी की हर संभव मदद की। जब मातादीन के पास जीवन यापन करने का कोई साधन नहीं था तब फुन्नन मियाँ ने उसको ज़मीन दी। उसी ज़मीन पर खेती करके मातादीन जीवन निर्वाह कर रहा था। विभाजन की हवाएँ तेज चलने लगी तब मातादीन ने जगह–जगह हिन्दुत्व के लिए भाषण दिए। वह मुसलमानों को इस देश से निकालने के लिए लोगों को भड़काने लगा। लोगों में आपसी सोहार्द का गला घोंटने लगा। गाँव वाले आपसी समन्वय से रहते थे, परन्तु राजनीतिक दलों के द्वारा जो साम्प्रदायिकता का विष फैलाया जा रहा था, वह लोगों की दृढ़ मानसिकता को कमजोर कर रहा था। फुन्नन मियाँ ने तन्नू से मातादीन पण्डित के बारे में कहा, "त मातादीन पंडित तकदीर किहिन। कहिन की मलिच्छ मुसलमानों को भारतवरश से निकाल देवे को चाहिए। अउर ई बहन चोद को

मंदिर बनाये के वास्ते ज़मीन हम दिया रहा। खाये–पीये को दस मंडा ज़मीन अलग से दिया। अउर ई साला तक़दीर कर रहा, अउर ईहो ना सोच रहा कि आखिर फुन्ननों मुसलमाने हैं। हम्में जो कहीं मिल गये त साले के टँगिये चीर देंगे।"[36]

अराजकता के इस वातावरण में सभी दिशाभ्रमित हो रहे थे, क्योंकि धर्म की ज़मीन बहुत कमजोर होती हैं। उस पर नाखुन से कुदरेगे तो वह छिल जाएगी और फिर साम्प्रदायिकता का वातावरण निर्मित होने में समय नहीं लगेगा। गंगौली का जो खुशनुमा माहौल था वह धीरे–धीरे धूमिल होने लगा। सभी में समन्वय की जगह स्वार्थ की रोशनी ने ले ली। सभी के आँगन सुने हो गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण मोहर्रम और ईद के रंग भी फीके हो गए थे। कोई यतीम का हिस्सा लेने वाले नहीं बचे। मजलिस में नोहा पढ़ने वाले की संख्या कम हो गई। बंटवारे का दर्द अब मजलिस के नोहों में भी मिलने लगा था।

"सुग़रा मदीना लुट गया
चिल्लायीं ज़ैनब पीट सर
सुग़रा मदीना लुआ गया.....

मदीना दिल्ली था। मदीना लाहौर था। मदीना हिन्दुस्तान था। मदीना पाकिस्तान था – और मदीना लुट रहा था।"[37]

2.4 राही मासूम रज़ा का भाषा प्रयोग :–

भाषा अभिव्यक्ति का साधन हैं। भाषा, देश काल से प्रभावित होती हैं। मानव की अभिव्यक्ति का साधन भाषा हैं ही साथ–साथ मानवीय व्यवहार की महत्वपूर्ण इकाई भी हैं। राही मासूम रज़ा के लेखन की अन्यतम विशेषता भाषा है। उनके लेखन में अवधी और भोजपुरी की मिठास है। 'आधा गाँव' की भाषा भोजपुरी–उर्दू हैं। एक अंचल विशेष की भाषा का राही मासूम रज़ा ने उपन्यास में वर्णन किया। उनके पात्रों की बुनावट इतनी सशक्त हैं कि उनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। उपन्यास में लोक गीतों को भी सम्मिलित किया गया हैं। जब किसी का विवाह होता है तो इन्हीं लोक गीतों की छटा वातावरण को सुखद बना देती हैं। जिसके उदाहरण पठनीय है।

"बड़ी धूम–गजर से आया री बना,
कुम्हार की गली हो आया री बना।
अपनी अम्मा नचाता आया री बना,
सब लोग कहें कुम्हार का जना।

बड़ी धूम गजर से आया री बना,
महतर की गली हो आया री बना।
अपनी दादी नचाता आया री बना।
बड़ी धूम–गजर से आया री बना....."[38]

----------×----------×---------

"कोठे से बड़ा लम्बा हमारा बना
बन्ने की अम्मा बाँस बरेली
बन्ने की अब्बा टेनी मुर्ग़ा हमारा बना
कोठे से बड़ा लम्बा हमारा बना।"[39]

उपन्यास में बेशुमार गालियाँ हैं, पर वह गालियाँ भाषा का सौन्दर्य बढ़ा रही हैं। इन शब्दों के बिना शायद संवाद स्वादहीन लगते। संवादों का रस तो इन गालियों से ही आता हैं। पात्रों के अनुकूल ही संवादों में इन शब्दों को सम्मिलित किया गया हैं। वातावरण के साथ पात्रों का सामन्जस्य करने के लिए राही मासूम रज़ा ने इन शब्दों का प्रयोग किया है। उपन्यास की भाषा पर अश्लीलता का आरोप भी लगा, परन्तु वह सब प्रायोजित था। "इस कृति की सबसे बड़ी खासियत है संयमहीनता। इसके सभी पात्र बिना लगाम के है और उनकी अभिव्यक्ति सहज, सटीक और दो टूक है, गलियों की हद तक।"[40]

सईदा को परिवार वालों ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय पढ़ने भेज दिया था। उसने हाई स्कूल की परीक्ष भी प्रथम अंकों से उत्तीर्ण कर ली थी, परन्तु उसकी दादी को यह पसंद नहीं था। उनके विचार में अंग्रेजी पढ़ना किसी पाप से कम नहीं था। उर्दू–भोजपुरी का यह संवाद पढ़ने योग्य हैं, जो सईदा और उसकी दादी के मध्य होता हैः–

"ए बहिनी, हई मुई अंग्रेजी की बात में अल्लाह मियाँ बेचारे को काहे घसीट रहिउ? अकबरी–बी बोलीं, मैं त अग्गू से बहुत कह्यों। बाकी उ त लगे समझावे कि जमाना बदल गवा है..... अउर हई हो गवा है, अउ हो गवा है..... हो गवा है मोरी जूती! ई गिटिर–पिटिर किहिन ना कि अग्गू की बाँछा खिली ना । बड़ा नाम कर रही बेटी। जवान–जहान लड़की अकेली अलीगढ़ पढ़ रही। बाकी ना पढ़िहें त फैसन में जो पड़ जै यहे। भाड़ में जाये ई मुआ फ़ैसन।"[41]

खड़ी बोली वाले, गंगौली में किसी गुनाहगार से कम नहीं है। जब बछनिया कलकत्ता से लौट कर वापस गंगौली आती है और सबको खड़ी बोली में सलाम करती है

तो सईदा की माँ के विचार बछनिया की भाषा के लिए कुछ इस प्रकार थे – "बाकी ई तै रंडियन की बोली कहाँ से सीख आयी है। सईदा की माँ ने एतराज ठोंक दिया।

तोको एकदम से गंगौली कइसे याद आ गयी? सल्लन ने पूछा।

मार–काट मची है। जेको जो मिल जा रहा ऊ ओही को मार दे रहा जान से। तब मैंने सगीर फ़ातमा के अब्बा से कहा कि चलो गंगौली।

तनी दिमाग़ देखे कोई एका। सईदा की माँ चमकी,

सग़ीर फ़ातमा। कउनो अउर नाम ना मिल रहा तोको।'' [42]

उपन्यास में कई ऐसे प्रसंग आते है जो पाठक को गुदगुदा देते हैं। संवाद शैली बहुत परिमार्जित और वैज्ञानिक है। पूर्वी अंचल विशेष की भाषा के साथ वहाँ के लोकगीतों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया गया है। पात्रों की मानसिक स्थिति, उनके पद और चरित्र के अनुरूप शब्दों का चयन किया गया है। उपन्यास की भाषा–शैली पाठक को सबसे ज्यादा आकर्षित करती है। कहीं–कहीं प्रतीकात्मक शैली का भी प्रयोग किया गया है। ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग बहुतया किया गया है। जैसेः–

"खुदा गारत करे ई मट्टीमिले काँगरेसिन को जिन्होंने चमारों और भंगियों रूतबा बढ़ा दिया है।"[43]

----------×----------×----------

"तैं गाजीपुर चल, त हम तोको सलीमा दिखलायें।

सलीमा? सलीमा का?

ई त हमहूँ का ना मालूम। बाकी सुना है कि तसवीरिया सब टॉय–टॉय बोलत हैंई।" [44]

राही मासूम रज़ा का संवाद कौशल अद्‌भूत है। उन्होंने जिस बारीकी से पात्रों की मनोदशा का वर्णन किया है वह रोचक है। आंचलिकता की सम्पूर्ण परिभाषा 'आधा गाँव' उपन्यास पढ़ने के बाद ही समझ आती है। एक तरफ तो राही मासूम रज़ा भोजपुरी उर्दू का प्रयोग करते है और वही दूसरी ओर 'महाभारत' के संवाद लेखन में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करते है। उन्होंने उर्दू, हिन्दी और संस्कृत तीनों भाषाओं का अध्ययन किया। वे प्रेमचंद की भांति उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं पर अधिकार रखते है।

राही मासूम रज़ा का रचना कर्म बहुत ही उच्च कोटि का है। उन्होंने ऐसे कथानक की रचना की है, जहाँ आम पाठक वर्ग अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। भाषा पर उनका

अधिकार था। वे अपने पात्रों से जैसी भाषा चाहे कहलवा सकते है। राही मासूम रज़ा की भाषा शैली हिन्दी साहित्य में नवीन प्रयोग है।

2.5 विभाजन पर रचित उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन :–

हिन्दी साहित्य में विभाजन पर कई रचनाएँ लिखी गई, जिनमें उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता। उपन्यास विधा में भी विभाजन को विषय बना कर कई कथानक लिखे गये। इस बिन्दु के अन्तर्गत विभाजन पर रचित उपन्यासों का 'आधा गाँव' उपन्यास से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसके लिए मैंने पाँच प्रमुख उपन्यासों को सम्मिलित किया है। जिनमें लोटे हुए मुसाफिर (कमलेश्वर 1961), जुलूस (फणीश्वरनाथ 'रेणु', 1965), तमस (भीष्म सहानी, 1973), झूठा सच (यशपाल 1977), काले कोस (बलवंत सिंह, 1999) हैं।

लोटे हुए मुसाफ़िर (1961) – कमलेश्वर :–

'लोटे हुए मुसाफ़िर' विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखा लघु उपन्यास है। कमलेश्वर ने इस उपन्यास में विभाजन के पश्चात् की प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया है। एक बस्ती में विभाजन के पश्चात् की परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया गया है। इस उपन्यास के कथानक में यह बताया गया है, "कि बंटवारे के बाद कुछ मुसलमान किस तरह भ्रम का आखेट हो पाकिस्तान की राह अपनाते हैं ओर उनमें से अधिकांश किस तरह जब उनका भ्रम टूटता है तो वे न सही किन्तु उनके बेटे अपने घरों को तलाशते हुए वापस लौटते हैं।"[46] नसीबन, सत्तार, सलमा, साई बच्चन, मौलाना नसीरूद्दीन आदि उपन्यास के मुख्य पात्र हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् बस्ती में क्या–क्या समस्याएँ हुई। स्थानीय मुसलमानों को किस तरह के विरोध झेलने पड़ते थे, इन सभी का उपन्यास में यथार्थ चित्रण किया गया है। उपन्यासकार ने बस्ती के अतीत से भी पाठक को रू–ब–रू करवाया है। "जब हिन्दुओं की बस्ती से ताज़िए गुजरते थे, तो उन पर लोग गुलाब जल छिड़कते थे और हिन्दू औरतें अपने बच्चों को गोदी में उठाए ताज़ियों के नीचे से गुजरती थी और दौड़–दौड़कर फैंके हुए मखाने बीन कर श्रद्धा से आँचल के खूँट में बाँध लेती थी। जब रामलीला को विमान उठता था, तो मुसलमान औरतें दरवाजों की चिक या बोरों के पर्दे उलटकर मूर्तियों के शृंगार की तारीफ करती थीं और उनके बच्चे विमान के साथ दूर तक शोर मचाते हुए आया करते थे – "बोल राजा रामचन्द्र की जै।"[46]

देश का विभाजन राजनीति प्रक्रिया का परिणाम था, पर लोगों के मन में आशंकाओं के बादल रेंग रहे थे। यह बस्ती हिन्दुस्तान की कोई भी बस्ती हो सकती है। इसलिए कथाकार ने इस बस्ती को कोई नाम नहीं दिया। लगभग पूरे हिन्दुस्तान की हालत इसी बस्ती जैसे थे। "विभाजन हुआ तो पंजाब में खून की नदियाँ बहीं, बंगाल में मार–काट हुई। सूबे के बड़े शहरों में कत्ल हुए और बस्तियाँ जलाकर राख कर डाली गई.... पर इस शहर में एक बूँद खून नहीं गिरा। किसी मुहल्ले पर धावा नहीं हुआ। किसी ने किसी को नहीं मारा। किसी ने किसी को गाली तक नहीं दी। मस्जिदों में लड़ाई की तैयारियाँ नहीं हुई, मन्दिरों में ईंट–पत्थर इकट्ठे नहीं हुए, जो बदमाश रोज पिटते थे, उन्हें भी किसी ने नहीं पीटा, लेकिन भीतर ही भीतर एक भूचाल आया हुआ था, जिससे बस्ती की चूलें हिल रही थी। दिली इमारतें ढह रही थी। एक उबलता हुआ नफरत का दिया नीचे ही बह रहा था..... शक और डर सबके दिलों में समाए हुए थे।"[47]

विभाजन के पश्चात् सामाजिक ढाँचे में निर्णायक बदलाव आया। ऊहापोंह की स्थिति में फँसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही खुद को छला हुआ महसूस कर रहे थे। उपन्यास का अंत नसीबन की खुशी से होता है क्योंकि उसके लड़के जवान होकर लौटते है। अब बस्ती में लौटे हुए मुसाफिरों की रौनक फिर से आ गई है। "कमलेश्वर ने इस उपन्यास की छोटी–सी भूमिका में लिखा है– यह ठीक उस समय का उपन्यास है, जब देश का विभाजन हो गया था और जगह–जगह साम्प्रदायिक मारकाट शुरू हो गई थी.... जो कुछ मेरे छोटे से शहर में हुआ, जिस तरह पूरा माहौल बदला और संवेदन–शून्यता हावी होती चली गई, वे स्थितियाँ मुझे रचनात्मक स्तर पर लगातार कुरेदती रही..... बावजूद इसके कि मेरे कस्बे में कोई दंगा–फसाद नहीं हुआ था पर जो दंगा–फसाद आंतरिक सतह पर हुआ था वहीं इस उपन्यास का कथ्य बना।"[48] बंटवारे से डर कर जो लोग अपनी मातृभूमि को छोड़कर पाकिस्तान गए, उन्हें भी वहाँ शरणार्थी बन कर रहना पड़ा। उनको वहाँ जीवन निर्वाह के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। अंत में जब उनकी पीढ़ी पाकिस्तान को छोड़कर वापस अपने वतन आ गयी। जब पतझड़ का मौसम आता है, तो एक उम्मीद आती है कि बसंत फिर लौट आएगा उसी तरह जब हम अपनी मातृभूमि से दूर हो जाते है तो कभी ना कभी हमें अपनी जड़ें तलाश करते हुए लौटना ही पड़ता है।

जुलूस (1965) – फणीश्वरनाथ 'रेणु' :–

बंटवारे के बाद देश में कई जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए। देश में अराजकता का वातावरण हो गया था। जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को अलग किया गया, तो बंगाल से पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में आंतकवाद फैला रहा था। पूर्वी बंगाल से बहुत सारे शरणार्थी

भारत की सीमा में प्रवेश कर रहे थे। यह समस्या वर्तमान में भी खत्म नहीं हुई है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने इस शरणार्थी वर्ग को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। बिहार के पूर्णिया जिले में आकर बसे शरणार्थी को वहाँ के स्थानीय लोग बंगाली–कंगाली कहते है। विस्थापित लोगों को सरकार पूर्णियाँ जिले के गोडियार गाँव के समीप नबीनगर में बसाती है। विस्थापन से लोगों की भौगोलिक स्थिति में तो परिवर्तन हुआ ही है इसके साथ–साथ सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना में भी परिवर्तन हुआ है।

उपन्यास की मुख्य पात्र है पवित्रा, जो एक जागरूक ओर निर्भीक महिला है। विभाजन की साम्प्रदायिक हिंसा में वह अपने परिवार को खो देती है। उसका विवाह भी निश्चित हो जाता है, परन्तु हिंसा में उसका मंगेतर मारा जाता है। पवित्रा अपना सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा और उसके साथ आए शरणार्थी वर्ग के विकास में लगा देती है। वह शरणार्थी बच्चों की शिक्षा के लिए संघर्ष करती है। सरकार द्वारा इन शरणार्थियों के लिए राशि दी जाती है जो उन शरणार्थी तक पहुँचते–पहुँचते बहुत कम हो जाती है। लोगों में लालच आ जाता है। उन्हें नवी नगर में विद्यालय खोलने के लिए भी बहुत संघर्ष करना पड़ता है। विद्यालय खोला जाता है उसका नाम भी पाकिस्तानी हिन्दू विद्यालय पड़ता है। उपन्यास के माध्यम से रेणु ने बताया है कि विस्थापन का दर्द बहुत गहरा है। उसे किसी भी दवा से ठीक किया जा सकता है। विस्थापित शरणार्थियों को समाज में कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। उन्हें रोजगार के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है।

जुलूस उपन्यास में रेणु ने भूमिका में कहा है, "पिछले कुछ वर्षों से मैं एक अद्‌भूत भ्रम में पड़ा हुआ हूँ। दिन–रात, सोते–बैठते, खाते–पीते मुझे लगता है कि एक विशाल जुलूस के साथ चल रहा हूँ। अविराम।"[49] रेणु मानव जीवन के चितेरे थे। उन्होंने नेपाली क्रांति को देखा, विभाजन को देखा, आपातकाल को देखा और अपनी अभिव्यक्ति को मुखर रखा। उन्होंने मानव जीवन के संघर्ष की जो अभिव्यक्ति की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

तमस (1973) – भीष्म सहानी :–

भीष्म सहानी का उपन्यास तमस विभाजन की त्रासदी का चरम बिन्दू हैं। उपन्यास विभाजन, विस्थापन और शरणार्थी समस्या को लेकर लिखा गया हैं। विभाजन की त्रासदी किस प्रकार मानवीय मूल्यों को लेकर ले डूबी, उसका जीवंत उदाहरण तमस हैं। उपन्यास में बक्शी जी का संवाद "चीलें उड़ेगी मेहता जी, शहर पर चीले उड़ेगी", बिल्कुल चरितार्थ होता हैं। मुरादत अली के आदेश पर नत्थू एक सुअर को हलाल करता हैं। यही से

साम्प्रदायिकता की कहानी शुरू होती है। शहर के शहर जला दिए जाते हैं। जब लीजा, रिचर्ड से कहती है कि, "तुम उनका झगड़ा निपटाओंगे नही? तब रिचर्ड व्यंग्य भरी मुस्कान से कहता है, मैं उनसे कहूँगा, तुम्हारे धर्म के मामले तुम्हारे निजी मामले है। इन्हें तुम्हें खुद सुलझाना चाहिए।"[50] भौगोलिक रूप से बंटवारे की रेखा तो खींच दी गई, परन्तु हृदय पर उसके घाव अत्यन्त गहरे थे। जहाँ मुस्लिम बाहुल्य इलाका था, वहाँ से हिन्दू घर छोड़ कर चले गए और जहाँ हिन्दूओं की जनसंख्या अधिक थी, वहाँ मुस्लिम पलायन कर गए। साम्प्रदायिकता की आग पंजाब की पृष्ठभूमि पर लिखा गया, यह उपन्यास भारत की भावी तस्वीर प्रस्तुत करता हैं। हरनाम सिंह और बंतो को भी अपना गाँव छोड़ कर जाना पड़ा। विस्थापन और विभाजन के मध्य आमजनता की स्थिति त्रिशंकु जैसी थी। भीष्म सहानी का उपन्यास मानवता की करूण कहानी कहता हैं। जिसका अंत सिर्फ इतिहास में हुआ है, मानव के हृदय में नहीं।

झूठा सच (1976) – यशपाल :–

'झूठा सच' 1947 के विभाजन पर लिखा वृहद उपन्यास है। उपन्यास की रचना दो भागों – प्रथम– 'वतन और देश', द्वितीय– 'देश का भविष्य' में की गई हैं। ''झूठा–सच के पहले खण्ड 'वतन और देश' में विभाजन के दौरान हुई लूट–पाट और हिंसा के रोंगटे खड़े कर देने वाले माहौल और उस भीतरी विभाजन का यथार्थवादी अंकन किया गया है जिसके चलते वतन ओर देश दो अलग–अलग इकाइयाँ हो गए।"[51] उपन्यास की घटनाएँ जयदेवपुरी व उसकी बहिन तारा के जीवन के इर्द–गिर्द धुमती हैं। विभाजन से इनका परिवार विस्थापित हो जाता हैं। पूरा परिवार इधर–उधर बिखर जाता है। धार्मिक उन्माद, मानव की चेतना को अन्दर तक झकझौर कर रख देता है। पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिन्दू और हिन्दुस्तान के मुसलमान की जो ज़मीनी लड़ाई में दुर्गति हुई हैं उसका जीवंत आख्यान 'झूठा सच' उपन्यास है। उपन्यास के बारे में स्वयं यशपाल कहते है कि, ''कथानक में कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ अथवा प्रसंग अवश्य हैं परन्तु सम्पूर्ण कथानक कल्पना के आधार पर उपन्यास है इतिहास नहीं।''[52]

तारा, जयदेवपुरी, शीलो, कनक, महेन्द्र, नैयर, डाक्टर प्राण इस उपन्यास के प्रमुख पात्र है। विभाजित लोगों का कोई घर नहीं होता ना उनका कोई वतन होता है। जब शरणार्थी अपने वतन की सीमा पार करके हिन्दुस्तान में आते हैं, तब ट्रक का चालक ऊँचे स्वर में बोलता है, "रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था : रब्ब के बंदो ने अपने वहम और जुल्म से उन्हें दो कर दिया।"[53] "झूठा–सच की कालावधि 1942 से 1952 की है अर्थात् इसमें स्वतंत्रता पूर्व की कुछ और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् की अधिक कहानी है। इसी मध्य

1947 के देश–विभाजन के फलस्वरूप जो विघटनकारी स्थितियाँ उत्पन्न हुई थी उनका यथार्थपरक वर्णन जो यशपाल के इतिहास बोध को स्पष्ट करता है, पूरी तरह वर्णित हुई हैं। दूसरे खण्ड में जो आजादी के बाद की संगठन प्रक्रिया को रेखांकित करता है।"[54]

उपन्यास का दूसरा भाग देश का भविष्य में विभाजन के पश्चात् शरणार्थियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया हैं। शरणार्थियों के आगे कई प्रकार के संकट थे। उनका भविष्य भी धुंधला था। किस प्रकार उन्होंने गुजर–बसर के लिए संघर्ष किया। जो लोग जीवट के धनी थे, उन्होंने अपने जीवन को विस्थापन से निकाल कर नयी धरती पर स्थापित कर लिया। देखा जाए तो "उपन्यास की सफलता इन कल्पित कहानियों के कारण नहीं है बल्कि उपन्यास की कालावधि में घटित होने वाली समाज एवं राजनीति से संबंधित घटनाओं के वस्त परक चित्रों के कारण हैं। मानना पड़ेगा कि देश–विभाजन से पूर्व के पंजाब के मध्यवर्गीय लोगों के जीवन वहाँ के निवासियों की मानसिक स्थिति, हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य बढ़ता साम्प्रदायिक तनाव, देश का विभाजन और उससे उत्पन्न हिंसक दंगे, आग़जनी, लूट–पाट, रक्तपात, असंख्य लोगों का विस्थापन, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् का कांग्रेसी शासन, उससे उत्पन्न भ्रष्टाचार, धनी–गरीब के मध्य बढ़ती खाई आदि और इनके अतिरिक्त बहुत कुछ का यथार्थपरक चित्रण इस उपन्यास को एक नई पहचान देता हैं।"[55]

काले कोस (1999) – बलवंत सिंह :–

बलवंत सिंह का उपन्यास 'काले कोस' पंजाब की पृष्ठभूमि पर लिखा गया सामाजिक–यथार्थपरक उपन्यास हैं। 'काले–कोस' की कहानी 'चार गाँव' से शुरू होती है। जिसमें पंजाब की संस्कृति की सोंधी महक है। पंजाब की धरती अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध है। विरसासिंह का चरित्र पहले एक आवारा गुण्डे का होता है, जो बाद में एक जिम्मेदार नायक की भाँति सबका नेतृत्व करता है। पैशोरसिंह का बेटा सूरतसिंह शहरी युवक होता हैं। जो गाँव में आकर विद्यालय और हॉस्पिटल खोलना चाहता हैं। सूरतसिंह के साथ महेन्द्र कौर भी उसके अभियान में उसका साथ देती है। सूरतसिंह रात के समय अपने विद्यालय में सभी बड़े–बूढ़ों को पढाता है तो एक व्यक्ति पूछता है आजकल देश में किस बात की नोंक–झोंक चल रही है, तब सूरतसिंह कहता है, "कांग्रेस का ख्याल है कि इस सुझाव के पीछे दरअसल अंग्रेज की चालाकी काम कर रही हैं। वे नहीं चाहते कि हिन्दूस्तान एक रहे, क्योंकि इस तरह हिन्दुस्तान बहुत बड़ा और शाक्तिशाली देश बन सकता है।"[56] 'चार गाँव' में मुसलमानों की संख्या अधिक थी। जब बंटवारे का समय आया

तब गाँव में मुसलमानों की संख्या और हिन्दूओं की पलायन करना पड़ा। पलायन की स्थिति का कारूणिक वर्णन किया गया है।

विभाजन पर रचित यह पाँच उपन्यास अपनी–अपनी विशिष्ठता के कारण प्रसिद्ध हैं। 'आधा गाँव' भी विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया हैं, परन्तु इसका वर्ण विषय शिया सम्प्रदाय पर केन्द्रित है। पाकिस्तान में शिया–सुन्नी विवाद वर्तमान में भी समस्या बना हुआ हैं। शिया सम्प्रदान का आंतरिक जीवन को कई नवीन सोपानों में अभिव्यक्त किया गया है। 'आधा गाँव' अपने तरह का एक नवीन प्रयोगवादी उपन्यास है, जो सिर्फ हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदाय के मध्य सामाजिक और सांस्कृतिक विसंगतियों को उजागर नहीं करता, अपितु शिया सम्प्रदाय की सामाजिक संरचना का भी वर्णन करता है।

2.6 'आधा गाँव' उपन्यास एवं पाठ्यक्रम विवाद :–

1971 में नामवर सिंह जोधपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बन कर गए। उस समय वी.वी. जोन्स जोधपुर विश्वविद्यालय के कुलपति थे और वे ही सच्चिदानंद हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' को जोधपुर विश्वविद्यालय लेकर आए थे। नामवर सिंह प्रगतिशील विचार धारा के व्यक्ति थे। उन्होंने 'आधा गाँव' उपन्यास को हिन्दी पाठयक्रम में लगाया। इस उपन्यास को पाठयक्रम में लगाते ही विश्वविद्यालय में भूचाल आ गया। उपन्यास की भाषा और गठन पर अश्लीलता के आरोप लगने लग गये। एक तरह से 'आधा गाँव' उपन्यास को अश्लील कह कर नकार दिया गया। वास्तव में उपन्यास की आड़ लेकर यह विरोध नामवर सिंह का हो रहा था। उन्होंने हिन्दी के पाठयक्रम में बदलाव किया। हिन्दी विभाग में नये सृजनात्मक प्रयोग होने लगा। इससे विभाग के कुछ लोग ईर्ष्या करने लगे। "कतिपय लोग अपने निजी कारणों से इस कृति का विरोध कर रहे थे। इस विवाद का सूत्रपात महावीर सिंह गहलोत ने किया था और इसके पीछे प्रछन्न रूप से नित्यानंद शर्मा थे।"[57]

मैं इस विवाद की खोज बीन के लिए जोधपुर गई थी। जोधपुर में स्व. जुगल परिहार जी के माध्यम से नामवर सिंह के समकालीन इतिहास के आचार्य जहूर खाँ मेहर से लम्बी बातचीत हुई। प्रो. जहूर खाँ मेहर जोधपुर विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग में आचार्य थे और उन्होंने बताया कि नामवर सिंह उपन्यास के विवाद को लेकर काफी चिन्तित थे। पुरातनवादी लोगों ने यह सब बखेड़ा खड़ा किया था। वे नहीं चाहते थे की विश्वविद्यालय में प्रगातिशील विचारों का समावेश हो। नित्यानंद शर्मा, नामवर सिंह से पद में छोटे से और उनके बाद वे विभागध्यक्ष पद के दावेदार थे। यह सब प्रपंच उन्हीं के द्वारा निर्मित था। इस

विवाद से लाभ यह हुआ कि 'आधा गाँव' उपन्यास को प्रसिद्धि मिल गई, परन्तु विश्वविद्यालय के पाठयक्रम से इस उपन्यास को हठाना ही पड़ा। इसके बाद नामवर सिंह ने भी जोधपुर विश्वविद्यालय छोड़कर जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में चले गए थे। आज भी 'आधा गाँव' उपन्यास की चर्चा होती है तो 'जोधपुर विश्वविद्यालय बनाम आधा गाँव विवाद' को जरूर याद किया जाता है।

निष्कर्ष :–

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि 'आधा गाँव' विभाजन की त्रासदी पर लिखा आँचलिक उपन्यास है, जिसमें विभाजन से उत्पन्न समस्याओं और परिस्थितियों का यथार्थ वर्णन किया गया है। इस उपन्यास में मुस्लिम समाज के शिया सम्प्रदाय का सजीव रेखांकन प्रस्तुत किया गया है। राही मासूम रज़ा ने उपन्यास में भोजपुरी मिश्रित उर्दू भाषा का प्रयोग किया है। यह साहित्य में नवीन संभावनाओं को इंगित करता है। अंचल विशेष की भाषा, जो अपना अलग अस्तित्व रखती है, जिसका दर्जा खड़ी बोली से ऊपर है, जिसे गंगौली के पात्र ऐसे बोलते हैं जैसे मुँह में पान की गिलौरी घुल रही हो, जिसकी मिठास हम–आप शायद उस तरह स्वाद लेकर न बता पाएँ, जितना राही मासूम रज़ा के पात्र बताते हैं। उपन्यास में भरपूर गालियाँ हैं और इन गालियों के बिना उपन्यास की सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती। व्यंग्य, विनोदपूर्ण और अनौपचारिक भाषा ही 'आधा गाँव' की पूर्णता है। अतः हम कह सकते हैं कि राही मासूम रज़ा का रचनात्मक प्रस्थान 'आधा गाँव' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

संदर्भ सूची

1. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008, पृष्ठ सं.–9
2. वही, पृष्ठ संख्या – 11
3. वही, पृष्ठ संख्या – 12
4. वही, पृष्ठ संख्या – 14
5. वही, पृष्ठ संख्या – 13
6. वही, पृष्ठ संख्या – 37
7. वही, पृष्ठ संख्या – 58
8. वही, पृष्ठ संख्या – 59
9. वही, पृष्ठ संख्या – 72
10. वही, पृष्ठ संख्या – 93
11. वही, पृष्ठ संख्या – 103
12. वही, पृष्ठ संख्या – 103
13. वही, पृष्ठ संख्या – 124
14. वही, पृष्ठ संख्या – 110
15. वही, पृष्ठ संख्या – 116
16. वही, पृष्ठ संख्या – 131
17. वही, पृष्ठ संख्या – 141
18. वही, पृष्ठ संख्या – 143
19. वही, पृष्ठ संख्या – 146
20. वही, पृष्ठ संख्या – 155
21. वही, पृष्ठ संख्या – 173
22. वही, पृष्ठ संख्या – 173
23. वही, पृष्ठ संख्या – 174
24. वही, पृष्ठ संख्या – 269
25. वही, पृष्ठ संख्या – 284
26. वही, पृष्ठ संख्या – 287
27. वही, पृष्ठ संख्या – 293
28. वही, पृष्ठ संख्या – 292

29. वही, पृष्ठ संख्या – 343
30. वही, पृष्ठ संख्या – 14
31. वही, पृष्ठ संख्या – 14
32. वही, पृष्ठ संख्या – 12
33. वही, पृष्ठ संख्या – 14
34. वही, पृष्ठ संख्या – 284
35. वही, पृष्ठ संख्या – 284
36. वही, पृष्ठ संख्या – 271
37. वही, पृष्ठ संख्या – 283
38. वही, पृष्ठ संख्या – 161
39. वही, पृष्ठ संख्या – 162
40. राही मासूम रज़ा, 'आधा गाँव' उपन्यास के फ्लैप से साभार
41. वही, पृष्ठ संख्या – 201
42. वही, पृष्ठ संख्या – 277
43. वही, पृष्ठ संख्या – 166
44. वही, पृष्ठ संख्या – 184
45. भगवती शरण मिश्र, हिन्दी के चर्चित उपन्यासकार, पृष्ठ सं. – 254
46. कमलेश्वर, लौटे हुए मुसाफिर, पृष्ठ संख्या – 8
47. वही, पृष्ठ संख्या – 9
48. भगवती शरण मिश्र, हिन्दी के चर्चित उपन्यासकार, पृष्ठ सं. – 254
49. फणीश्वरनाथ 'रेणु', जुलूस, पृष्ठ संख्या – 110
50. भीष्म साहनी, तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2015, पृष्ठ सं. – 54
51. यशपाल, वतन और देश, फ्लैप से साभार
52. यशपाल, वतन और देश, फ्लैप से साभार
53. वही, पृष्ठ संख्या – 415
54. भगवती शरण मिश्र, हिन्दी के चर्चित उपन्यासकार, पृष्ठ सं. – 114
55. वही, पृष्ठ संख्या – 115
56. बलवंत सिंह, काले कोस, पृष्ठ संख्या – 181
57. डॉ. हेतु भारद्वाज, अक्सर (त्रैमासिक पत्रिका–अंक–उनचास, जुलाई–सितम्बर 2019), पृष्ठ संख्या – 23

तृतीय अध्याय

संकटकाल और साहित्य – राही मासूम रज़ा की दृष्टि में

3.1 कटरा बी आर्ज़ू – आपातकाल का साहित्यिक अभिलेख

3.2 आपातकाल – भारत के लोकतंत्र का काला अध्याय

3.3 आपातकाल की भयावहता व आमजन की प्रतिक्रिया

3.4 आपातकाल की कचोटती यादें – राही मासूम रज़ा की दृष्टि से

3.5 आपातकाल – अभिव्यक्ति के खतरे

3.6 आपातकाल – हिन्दी साहित्यकारों के प्रतिरोध एवं समर्पण

3.1 कटरा बी आर्ज़ू – आपातकाल का साहित्यिक अभिलेख :–

इमरजेंसी का समय आज़ाद भारत के लुटते अरमानों का संकट काल था। स्वतंत्र भारत में तानाशाही, लोकतंत्र के विरूद्ध एक सोची समझी साजिश थी। राही मासूम रज़ा ने इस तानाशाही के विरूद्ध सतत सृजनात्मक लेखन किया। 'कटरा बी आर्ज़ू' उपन्यास का वर्ण विषय आपातकाल है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने आपातकालीन परिस्थितियों का व्यंग्यात्मक रूप में चित्रण किया है। "कटारा बी आर्ज़ू गूंगी बस्तियों के गूंगे लोगों की कहानी है जहाँ उजाले का कहीं नामो-निशान तक नहीं है।"[1] अंत में यातना की कहानी जनता के उदय पर आकर खत्म होती है। राही मासूम रज़ा का उद्देश्य निष्पक्ष होकर राजनीति के उस स्याह चेहरे पर से परदा उठाना है, जिसे जनता लोकतंत्र के रूप में पूजती है।

'कटारा बी आर्ज़ू' इलाहबाद की बस्ती की कहानी है। वास्तव में इसका नाम कटरा मीर बुलाकी था। सन् 42 की क्रांति में इस गली का नाम स्वर्गीय द्वारिका प्रसाद के नाम पर 'गली द्वारिका प्रसाद' रखा गया, परन्तु जो भी खत आते 'कटरा बी आर्ज़ू' के नाम से आते। मास्टर बद्रुलहसन ने 'कटरा मीर बुलाकी' के नीचे 'कटरा बी आर्ज़ू' लिख दिया और यही से षड्यंत्र को एक नया रूप मिल गया। के.बी.ए. (कटर बी आर्ज़ू) के नाम से एक फाईल खुल गई। शहर के हेडकान्सटेबल जगदम्बा प्रसाद और कोतवाली के इनचार्ज अशफाकुल्लाह खाँ एस.आई. को अपने प्रमोशन के सपने इस के.बी.ए. की फाइल में नज़र आने लगे। इस फाइल का मुख्य आरोपी था आशाराम। आशाराम एक पत्रकार था और वह 'कटरा बी आर्ज़ू' मोहल्ले की कहानी लिखना चाहता था, परन्तु उसके इस सपने को एक साजिश का रूप दे दिया गया। उस पर इमरजेंसी के समय सरकार का तख़्ता पलटने का आरोप लगा दिया गया। आशाराम एक कम्युनिस्ट होता है, परन्तु बाद में वह कांग्रेसी बन जाता है। आशाराम के दादा बाबूराम कांग्रेसी होते हैं। ''आशाराम को कांग्रेस सरकार पर बिल्कुल भरोसा नहीं था। सरकार चाहे नेहरू की हो, चाहे लाल बहादुर की, चाहे मिसेज गाँधी की, कांग्रेस सरकार पूँजीवाद की दलाल और जनता की दुश्मन है।''[2] यही आशाराम के विचार थे। पोते और दादा में बहुत लम्बी चर्चाएँ होती थी। वह बात-बात में चीन और रूस, फ्रांस की क्रांति, अमेरिका की सिविल वार की बातें करने लगता। ''उसकी बुक शेल्फ में 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' और गोर्की का उपन्यास 'माँ' आ गया।''[3] आशाराम का कम्यूनिस्ट होना के.बी.ए. की फाइल के लिए पक्का सबूत हो गया था। इमरजेंसी लगने के बाद आशाराम पर तख़्ता पलटने जैसे आरोप भी लग चुके थे। वह देशद्रोही की पदवी पा गया था। यह आशाराम के चरित्र का दुर्बल पक्ष था। अंत में आशाराम प्रशासन के डर कर

कांग्रेस के टिकट पर चुनाव लड़ता है। उसके व्यक्तित्व की त्रासदी यही थी कि वह स्वयं के स्थापित मूल्यों से विमुख हो गया। देशराज, शम्सू मियाँ और आशाराम ने मिलकर 'मोटर मिकेनिक्स यूनियन' बनाई जिसका उद्देश्य मंहगाई–भत्ता, मजदूरियों में बढ़ती महंगाई और बोनस को समय–समय पर लागू करवाना था।

भोलू पहलवान ने बिल्लो और देशराज का पालन-पोषण किया। भोलू पहलवान की बहिन एक दिन विधवा हो गई और बिल्लो की जिम्मेदारी भोलू पहलवान पर आ गई। वही देशराज, भोलू पहलवान के मित्र का बेटा होता है। भरत कुमार सिंह और ''मुनिया ने बूढ़े ताज़िये पर मन्नत मान रखी थी कि जो बेटा होगा तो वह फूल की चादर चढ़ावेगी। भरत मुनिया को लेकर चादर चढ़ाने गया। बलवा शुरू हो गया और वह दोनों मियाँ बीबी मारे गए।''[4] इस तरह देशराज सिंह की परवरिश भोलू पहलवान के हिस्से में आ गई। इसलिए भोलू पहलवान ने कभी शादी नहीं की। बिल्लो और देशराज का ब्याह बचपन में ही तय हो गया था। बिल्लो का सपना था कि उसका अपना एक घर हो। उसी घर के लिए देश और बिल्लो का बचपन में ही डाकघर में जमाखाता खुल गया था। बिल्लो की जनता लाण्ड्री थी और देशराज का मोटर मेकेनिक था। शम्सूं मियाँ उसके उस्ताद थे। जिनसे देशराज ने सभी काम सीखे थे। शम्सूं मियाँ का बेटा अब्दुल हक अपनी पत्नी के बहकावे में आकर पाकिस्तान चला गया था। उनकी बेटी महनाज़ विधवा हो गई थी। वह अपनी दोनों बेटियों के साथ शम्सूं मियाँ के पास आ गई थी। शम्सूं मियाँ अपने बेटे अब्दुल हक़ को याद करते और सोचते वह तो पाकिस्तान में खुश होगा, परन्तु अब्दुल हक़ वहाँ शरणार्थी बन कर रह रहा था। वह हिन्दुस्तान के हिन्दू–मुस्लिम दंगे याद करके रो रहा था। ''उसके बच्चे उसका दर्द समझ नहीं पा रहे थे, क्योंकि वह पाकिस्तान में पैदा हुए थे और वही पले–बढ़े थे। उन्हें पता नहीं था कि सावन के बादल कैसे होते हैं और कोयल कैसे बोलती है और हिन्दू-मुस्लिम दंगे कैसे होते हैं।''[5] शम्सूं मियाँ के दुःख अलग थे। महनाज़ के पति का इंतकाल हो गया था। शहनाज़ भी जवान हो गई थी। महनाज़ की शादी के लिए एक रिश्ता आया था। वह दहेज में साइकिल, घड़ी और रेडिओ माँग रहा था। देशराज ने घड़ी और बिल्लो ने रेडिओ देने का इंतजाम कर लिया था, परन्तु महनाज़ के होने वाले पति को मीसा एक्ट के तहत बंद कर दिया था। इसलिए महनाज़ की शादी जोखन मियाँ से तय की गई जो शम्सूं मियाँ की उम्र के थे। महनाज़ की दोनों बेटियाँ जोखन मियाँ को नाना कह कर पुकारती थी। महनाज़ शादी के बाद कांग्रेस में भर्ती हो जाती है। आज़ादी के बाद राजनीति करना एक फैशन हो गया था। वह कटरा बी आर्ज़ू के लोगों को परिवार नियोजन कार्यक्रम के बारे में शिक्षा देती है। वह नसबंदी के बारे में जागरूकता फैलाती है। वह स्वयं

को कटरा मीर बुलाकी की मिसेज गाँधी समझने लगती है। ''एक तरह से उसका नाम ही निरोध पड़ गया था।''[6]

गौरीशंकर बाबू घबरा गए कहीं कटरा मीर बुलाकी का कांग्रेस का टिकट महनाज़ को ना मिल जाए। इसीलिए उन्होंने देशराज और शम्सूं मियाँ को खाने पर बुलाया। शम्सूं मियाँ को प्रेसिडेंट और देशराज को सेक्रेटी बनाने का लालच दिया। शम्सूं मियाँ हर महीने मिलने वाले बोनस का नाम सुनकर ही खुश हो गए, परन्तु देशराज, गौरी शंकर बाबू के बहकावे में नहीं आया। गौरीशंकर बाबू ''दरअसल चुपके से ट्रेड यूनियन लीटर आंदोलन में घुसना चाहते थे, क्योंकि उत्तर प्रदेश में कोई बड़ा कांग्रेसी ट्रेड यूनियन लीटर नहीं था और उनका ख्याल था कि यदि वह ट्रेड यूनियन लीटर हो जाए तो उन्हें केन्द्रीय सरकार में घुसना आसान पड़ेगा। वह एक नेहरू मज़दूर सभा की स्थापना करना चाहते थे।''[7] देशराज, 'नेशनल गेराज़' से अलग हो गया। आशाराम के दादा बाबूराम जी ने देशराज के लिए इन्दिरा गाँधी को पत्र लिखा और उसको बैंक से लोन मिल गया। उसने अपनी दुकान का नाम 'इन्दिरा मोटर वर्कशॉप' रखा।

11 जून सन् 75 को इलाहबाद हाई कोर्ट का फैसला आया। जस्टिस सिन्हा ने 'राजनारायण बनाम इन्दिर गाँधी' केस में अपना फैसला सुनाया। इन्दिरा गाँधी अब छः साल तक चुनाव नहीं लड़ सकती। पूरा देश इस फैसले से स्तब्ध था। ''बिल्लो इन्दिरा गाँधी के मुकदमा हारने के गम में इतना रोई की उस दिन जनता लॉण्ड्ररी खोलना भूल गई।''[8] देशराज ने भी सुबह का खाना नहीं खाया। बिल्लो और देशराज के सपने इन्दिरा गाँधी पर आकर रूक जाते हैं। बिल्लो, इन्दिरा गांधी के केस हार जाने पर बहुत दुःखी थी। वह कहती है, ''हमारा तो रोते-रोते बुरा हाल हो गया। सात सनिचर की झाड़ू फिरे ई माटी मिले जगमोहन सिन्हा पर। जगमोहना तनी नाम देखो हरामी का।''[9] देशराज और बिल्लो ने अपने बच्चे का नाम इन्दिरा गाँधी तक रखने का विचार कर लिया था। दोनों इस बात पर बहुत बहस करते कि लड़का होगा तो क्या नाम रखेगें? लड़की होगी तो क्या नाम रखेगें? देशराज कहता लड़की होगी तो उसका नाम इन्दिरा रखेंगे। बिल्लो कहती लड़का होगा तब, देशराज कहता, ''लड़का पाले में कोई मज़ा ना है बिल्लो। प्रधानमंत्री के नाम पर इन्दिरा नाम रख लिया जैय है। लड़का भया त का पुकारि हो? जयप्रकाश कि मुरारजी कि अटल बिहारी वाजपेयी?, तब बिल्लो ने कहा, संजय।''[10]

आपातकाल लगने के बाद देश की तस्वीर बदल गई थी। सभी कार्य निधारित समय पर हो रहे थे। चीनी के भाव कम हो गए थे। बिल्लो ने लॉड्ररी की धुलाई भी घटा दी थी। धुलाई में 10 पैसों और इस्त्री में 20 पैसों की कमी कर दी थी। देशराज ने भी

'इमरजेंसी रेट' चालू कर दिया था। आपातकाल के समय रेडिओ पर आपातकाल की तारीफ करने के लिए आम जनता को बुलाया जाने लगा था। बिल्लो, देशराज, शम्सूं मियाँ और पहलवान भी आकाशवाणी बुलाए गए। आकाशवाणी में प्रेमानारायण रेडिओ पर वार्ता प्रस्तुत करती है। प्रेमानारायण का तबादला, खुर्शीद आलम खाँ ने इलाहबाद करवा दिया था। प्रेमानारायण और आशाराम का प्रेम प्रसंग रहा था। वह दोनों साथ में पढ़ते थे। जब बिल्लो, देशराज और पहलवान को आकाशवाणी बुलाया गया तो प्रेमानारायण ने बिल्लो से आपातकाल के बारे में पूछ। बिल्लो का जवाब था ''बहुत अच्छा ख्याल है। जब से इन्दिराजी इमरजेंसी लिआई है देस में बहुत तरक्की हुई है। पुलिस वाले कपड़े की धोलाई देवे लगे हैं। चीनी और सोने के भाव में फरक हो गया है। हमारी तो भगवान से एही प्रार्थना है कि भगवान इन्दिराजी को जिन्दा रक्खे कि ऊ इमरजेंसी बनाए रहे।''[11]

बिल्लो की बात खत्म होने के बाद देशराज को बुलाया गया। रिकॉर्डिंग रूम में खुर्शीद आलम खाँ ने प्रेमानारायण को इशारा किया कि देशराज से आशाराम के बारे में पूछा जाए। देशराज और आशाराम मित्र होते हैं। जैसे ही प्रेमानारायण देशराज से आशाराम के बारे में पूछती है तो वह आशाराम के बारे में बताने लगता है। जब देशराज रिकोर्डिंग रूम से बाहर आता है तब दो आदमी आकर उसको पकड़ कर ले जाते हैं। बिल्लो, पहलवान और शम्सूं मियाँ उसका इंतजार ही करते रह जाते हैं।

के.बी.ए. फाइल के सपने लिए खुर्शीद आलम और जगदम्बा प्रसाद देशराज को अपहरण कर ले जाते हैं। आशाराम ही के.बी.ए. फाइल का मुख्य आरोपी होता है। देशराज से जगदम्बा प्रसाद तरह–तरह के प्रश्न पूछता है। देशराज को अमानवीय यातनाएँ दी जाती है, फिर भी वह आशाराम का पता नहीं बताता है। आशाराम से देशराज टण्डन पार्क में मिलता है और कहता है कि मेरे खिलाफ षड़यंत्र किया जा रहा है। आशाराम अपना नाम बदलकर कलकत्ते की जेल में मुहम्मद यूसुफ़ कैदी बन कर रह रहा था। जगदम्बा प्रसाद और खुर्शीद आलम़ के सपनों के लिए देशराज की आहूति दी जाती है। देशराज को अमानवीय यातना दी जाती है। वह अंदर से टूट जाता है, परन्तु आशाराम का पता नहीं बताता। बस वह एक ही वाक्य दोहराता है, ''स्त्रीमती गाँधी की जय। स्त्रीमती गाँधी की जय।''[12]

प्रेमानारायण की भी दुगर्ति कुछ कम नहीं हुई। जोखन मियाँ और उसके ड्राइवर ने उसके साथ कुकर्म किया। अंत में प्रेमानारायण को जेल में डाल दिया गया। जहाँ उसके साथ रह रही महिला अपराधी ने दुष्कर्म किया। जो एक लिसबियन थी। राही मासूम रज़ा

के लगभग सभी उपन्यासों में होमो सेक्सुयलटी का प्रसंग आया है। उन्होंने सन् 60 के बाद इस प्रसंग को उठाया है। जो पहले इतना खुलकर सामने नहीं आया था।

''इमरजेंसी का कमाल था कि हर आदमी ने अन्दर से किवाड़ लगा रखे थे और सपनों पर दफा चवालीस लगा रक्खी थी कि पाँच सपने इकट्ठा न हों। रोज़गार, शांति, बेखौफी, इतमीनान और आज़ादी मीर बुलाकी चुप, सर झुकाए न्यॉन बल्बों की दूधियाँ रोशनी में बिल्लों के घर के सामने खड़ा था।''[13] देशराज को पुलिस वाले गठरी में बांध कर घर के सामने के सामने फेंक जाते है। देशराज को इतनी यातनाएँ दी गई थी कि वह लंगड़ा हो गया था।

आपातकाल खत्म होने के बाद कटरा मीर बुलाकी मुहल्ले की जगह बिल्लो को संजय नगर में नया घर दिया गया। उसकी जनता लॉण्ड्ररी बिक गयी। उसको संजय नगर में गली नम्बर पाँच, मकान नम्बर 74–बी अलॉट दिया गया था, क्योंकि कटरा मीर बुलाकी नगर की गली चौड़ी करनी थी। जब बिल्लो ने जमुना पार जाकर देखा तो संजय नगर एक खाली मैदान था, जिसमें कोई गली नं.–5 नहीं थी, ना ही कोई मकान नं. 74 था। यही था इन्दिरा के सपनों का भारत। सुबह बुलडोजरों की आवाज आने लगी। इस बुलडोजर के नीचे आकर बिल्लो मर गई और यही गति देशराज की हुई। वह इन्दिरा गाँधी की जय बोलने के लिए जैसे ही हाथ उठाता है तो वह आशाराम के कांग्रेस के प्रचार वाली गाड़ी के नीचे आकार मर गया। शहनवाज़ की शादी बद्रुलहसन मास्टर से तय होती है। जो पानीपत शादी में गए थे। वहा सरकारी अफसरों ने बसें रोकी और जबरदस्ती सब नौजनवानों की नसबंदी कर दी। बिल्लो, देशराज और शहनवाज की बेबसी को निम्न पंक्तियाँ चरितार्थ करती हैं।

''इमरजेंसी।
उजाला कहाँ है?
न दिल में,
न घर में,
न इस रास्ते पर,
न उस रहगुजर में,
उजाला कहाँ है?
उजाला कहाँ है?''[14]

राही मासूम रज़ा ने उपन्यास के माध्यम से आपातकाल पर व्यंग्य किया है। देशराज और बिल्लो के सपने इन्दिरा गाँधी पर आकर खत्म हो जाते हैं। जो शासन की तानाशाही के आगे चकनाचूर हो गए। आपातकाल के समय किस प्रकार स्वार्थी तत्वों ने धूम मचाई। आम जनता को लोकतंत्र के नाम पर डराया गया। यह भ्रम फैलाया गया कि आपातकाल में देश का विकास तेज गति से हो रहा था। अभिव्यक्ति पर सेंसरशिप लगा दी गई। सम्पूर्ण उपन्यास व्यंग्यात्मक शैली में लिखा गया है। राही मासूम रज़ा ने उस दौर के सभी पहलुओं का डूब कर वर्णन किया है। निष्पक्षता उनकी लेखनी का एक न्यायिक पक्ष है।

3.2 आपातकाल – भारत के लोकतंत्र का काला अध्याय :–

'आपातकाल' शब्द की व्याख्या की जाए तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे समय रुक गया है। देश व समाज में संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह संकट की स्थिति किसी भी प्रकार की हो सकती है जैसे अकाल, युद्ध, प्राकृतिक आपदा कुछ भी। भारत में आपातकाल तीन बार लागू किया गया। प्रथम बार 1962 में भारत–चीन युद्ध के समय, द्वितीय 1971 में भारत–पाकिस्तान युद्ध के समय और तीसरी व अन्तिम बार 26 जून, 1975 को आन्तरिक अशांति के नाम पर।

1975 को जब आपातकाल की घोषणा की गई तो इसका कारण आंतरिक अशांति बताया गया। क्या सच में यह आंतरिक अशांति का परिणाम था या इसके कुछ व्यक्तिगत कारण भी थे। भारत जैसे लोकतांत्रिक राष्ट्र में आपातकाल का स्मरण काले अध्याय के रूप में ही किया जाएगा, क्योंकि यह ऐसा संकटकाल था जिसमें अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गई थी। पूरे राष्ट्र में नकारात्मक परिस्थितियाँ जनता पर हावी हो गई थी। सभी की दृष्टि प्रश्नवाचक चिह्न के समान प्रतीत हो रही थी। राष्ट्र पर एक प्रकार की तानाशाही लागू कर दी गई थी। देश में भय का माहौल बना दिया गया था और जनता में यह प्रसारित किया जा रहा था कि आपातकाल में देश का विकास निहित है। भारतीय संविधान में आपातकाल जैसी स्थिति की कल्पना इसलिए की गई थी, अगर देश की एकता, अखण्डता, सुरक्षा को किसी बाहरी या आन्तरिक शक्ति से खतरा हो तो आपातकाल को देश पर लागू किया जा सके। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान में 3 प्रकार के आपातकाल का वर्णन किया है, प्रथम 'राष्ट्रीय आपातकाल, अनुच्छेद–352', द्वितीय 'राज्य आपातकाल अनुच्छेद–356' और 'तृतीय वित्तीय आपातकाल अनुच्छेद–360'।

आपातकाल की नींव 1971 के लोकसभा चुनाव में ही डल गयी थी। 1971 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस दल बहुमत से जीता, परन्तु इन्दिरा गाँधी पर राजनारायण ने चुनाव में सरकारी मशीनरी का दुरूपयोग करने का आरोप लगाया। राजनारायण ने 1971 के लोकसभा चुनाव में सरकारी तंत्र के अनुचित प्रयोग की याचिका इलाहाबाद न्यायालय में लगाई। इन्दिरा गाँधी बनाम राजनारायण केस की सुनवाई न्यायाधीश जस्टिस जगमोहन लाल सिन्हा कर रहे थे। ''अपने सामने 258 पेज के फैसले के साथ मौजूद सिन्हा ने कहा कि मैं इस केस से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर केवल अपने निष्कर्षों को पूछूँगा। फिर उन्होंने कहा, याचिका स्वीकार की जाती है।''[15] इस फैसले ने कांग्रेस सरकार को हिला दिया। इन्दिरा गाँधी को अपदस्थ कर दिया और साथ ही 6 वर्षों के लिए किसी निर्वाचित पद पर बने रहने से भी वंचित कर दिया गया।

इस फैसले से कांग्रेस सरकार बहुत विचलित हो गई। इसके पश्चात् 25 जून 1975 को आपातकाल की घोषणा कर दी गई। उस समय तत्कालीन राष्ट्रपति फकरूद्दीन अली अहमद थे। इस आपातकाल का कारण कांग्रेस सरकार ने आन्तरिक अशांति बताया, परन्तु यह तत्कालीन सरकार की एक सोची–समझी प्रक्रिया थी, जिससे तत्कालीन सरकार सत्ता में बनी रहे। 26 जून, 1975 को इन्दिरा गाँधी ने रेडिओ पर घोषणा की, ''भाईयों, बहनों..... राष्ट्रपति जी ने आपातकाल की घोषणा की है, लेकिन इससे सामान्य लोगों को डरने की जरूरत नहीं है।'' इस घोषणा से पूरा देश स्तब्ध था। किसी को कुछ समझ नहीं आ रहा था कि क्या किया जाए? इस संकटकाल में सभी मौलिक अधिकार स्थगित कर दिए गए। सरकार विरोधी भाषणों और किसी भी प्रकार के प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगा दिया गया था।

अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गई थी। रेडिओ, दूरदर्शन और अखबारों पर सेंसरशिप लगा दी गई थी। रेडिओ पर सामग्री का प्रसारण भी सरकार की अनुमति से किया जाता था। दूरदर्शन के कार्यक्रम की समय सीमा भी सरकार ही तय करती थी। अखबारों पर भी सेंसरशिप लगा दी गई थी। अखबारों के संपादकों को एक विशेष आचार संहिता का पालन करना होता था। वह सरकारी तंत्र की अनुमति के बगैर कुछ भी प्रकाशित नहीं कर सकते थे।

तत्कालीन सरकार द्वारा स्वयं की निराशाजनक स्थिति से उबरने के लिए जनता के समक्ष बीस सूत्रीय कार्यक्रम का झुंझुना दिखाया गया। सरकार सभी जगह बीस सूत्रीय एजेंडा का ढोल बजाती थी। इसके साथ ही कई सरकारी कर्मचारियों को सेवानिवृत्ति दे दी गई थी। इसका कारण सरकार युवा पीढ़ी को मुख्य धारा में लाने का बता रही थी। आपातकाल की सबसे अधिक आलोचना इस कारण भी होती है कि पुरुष नसबंदी का

अभियान जो कांग्रेस सरकार द्वारा चलाया गया, वह सबसे घातक सिद्ध हुआ। कई युवा जिनका विवाह अभी हुआ भी नहीं था, उनकी भी जबरन सरकारी कर्मियों द्वारा नसबंदी करवा दी गई थी।

आपातकाल भारत के इतिहास में एक काला अध्याय ही है। कांग्रेस सरकार द्वारा कई विरोधी दलों के नेता को बिना कारण के ही जेलों में भर दिया गया। उन्हें अज्ञात जगह रखा गया। उनके परिवारों पर सरकारी व्यक्तियों द्वारा नजर रखी जाने लगी। कुल मिलाकर सत्ता एक ही तानाशाही व्यक्ति के हाथ में आ गई। देश में अराजकता का माहौल बन गया। स्वर्गीय कुलदीप नैय्यर ने आपातकाल में देश की चिन्ताजनक स्थिति को देखते हुए कहा, ''यह देखकर बड़ी दहशत होती थी कि इन्दिरा गाँधी और संजय कितनी आसानी से पूरे देश में प्रशासन तंत्र पर कब्जा जमाने में सफल हो गए थे। अधिकारियों और दूसरे सरकारी कर्मचारियों ने कितनी सरलता से इसे स्वीकार कर लिया था। जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस कमिश्नर आँख मूँदकर इन्दिरा गाँधी और उनके बेटे के आदेशों का पालन करने लगे थे।''[16]

आपातकाल भारत के लुटते अरमानों का संकटकाल था। सरकार द्वारा सत्ता में बने रहने के लिए संविधान का गलत उपयोग किया था। इसके बाद 1977 में भारत के लोकतंत्र में वापस मतदान हुए तो जनता दल मुख्यधारा में आया। जनता दल के नेता मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री मनोनीत किए गए। जनता दल ने संविधान में संशोधन किया, जिससे 'अनुच्छेद 352' का कोई भी सरकार दुरुपयोग नहीं कर पाए। 25 जून, 1975 की आधी रात को लगाई गई इस पाबंदी का अंत 21 मार्च, 1977 को हुआ। 20 महीने और 26 दिन का यह अंधकार काल जनता के उदय पर आकर खत्म हुआ। इस अवधि में जो भी अत्याचार हुए, जो भी गिरफ्तारियाँ हुई उसकी कल्पना भी संभव नहीं है। निर्दोष लोगों को कई असहनीय शारीरिक कष्ट दिए गए। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सरकार अपने शागिर्दों से जनता की साँसों के अनुलोम–विलोम की भी गिनती सरकारी रजिस्टरों में दर्ज करा रही हो। तत्कालीन सरकार की इस तानाशाही की जितनी आलोचना की जाए कम है, परन्तु इससे देश की जनता में धर्मनिरपेक्षता और एकजुटता की भावना प्रबल होने लगी। वे हर विपरीत परिस्थिति का सामना करने को तैयार थे। कांग्रेस सरकार की यह तानाशाही जनता के उदय पर आकर खत्म हुई।

3.3 आपातकाल की भयावहता व आमजन की प्रतिक्रिया :–

देश में जब दो बार आपातकाल लागू हुआ तब वह वास्तव में आपातकालीन समय था। जब कांग्रेस सरकार द्वारा इसको लगाकर संविधान के अनुच्छेद 352 का दुरुपयोग किया गया, तब लोकतंत्र कुछ व्यक्तियों की हाथ की कठपुतली बनकर रह गया। जनता का सरकारी तंत्र से विश्वास ही उठ चुका था। जिस संविधान पर भारतीय जनता को गर्व था। जिसका उदाहरण विश्व के इतिहास में दिया जाता था। वह आज स्वयं की जनता के आगे शर्मसार था। आम जनता सरकार की मनमानी से त्रस्त थी।

कांग्रेस सरकार ने विरोधी दल के नेताओं को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया था, जिसमें जयप्रकाश नारायण, लालकृष्ण आडवानी, अटल बिहारी वाजपेयी, चन्द्रशेखर सभी बड़े–बड़े नेता। जितने भी बड़े नेता थे, उनको गिरफ्तार करके अज्ञात स्थानों पर भेज दिया। कांग्रेस सरकार ने मीसा कानून (मेंटीनेन्स ऑफ इंटरनल सिक्यूरिटी एक्ट) के तरह यह कदम उठाया था। सरकार के नुमाइंदों को जिस भी व्यक्ति पर शक होता उसे इस कानून के तहत पकड़ लेते। इससे व्यक्ति के घर वाले पुलिस थाने जाकर रिहाई की गुहार भी नहीं लगा सकते थे। उन्हें कई अमानवीय यातनाएँ दी जाती थीं।

परिवार नियोजन के नाम पर जबरन युवा वर्ग को मोहरा बनाया जा रहा था। ''संजय गाँधी परिवार नियोजन के कार्यक्रम को निर्दयता के साथ लागू कर रहे थे। उन्होंने मुख्यमंत्रियों के लिए लक्ष्य निर्धारित कर दिये थे, बदले में मुख्यमंत्री नौकरशाहों का कोटा निश्चित कर देते थे।''[17] सरकार का ऐसा निरंकुश रवैया जनता में अविश्वास उत्पन्न कर रहा था। ''संजय गाँधी के लिए साधन मायने नहीं रखते थे। उन्हें बस नतीजे से मतलब होता था और जबरदस्ती कराई जाने वाली नसबंदी पर कोई लगाम नहीं था।''[18]

सरकार की मानमानी यहीं तक सीमित नहीं थी। संजय गाँधी ने एक तानाशाह की तरह सत्ता स्वयं के हाथ में ले ली थी। उनकी मनमानियों ने सभी सीमा पार कर दी गई थी। उन्होंने सौन्दर्यीकरण के नाम पर दिल्ली में कई बस्तियाँ उजाड़ दी। दिल्ली का एक इलाका तुर्कमान गेट, जहाँ मुस्लिम आबादी अधिक थी। पहले तो वहाँ सरकार द्वारा कोई कार्रवाई नहीं की गई, परन्तु बाद में उन्हें जबरदस्ती घरों से निकाल दिया। वहाँ पुलिस और स्थानीय लोगों के मध्य संघर्ष भी हुआ। ''वहाँ से जबरन हटाए गए लोगों को यमुना के पार एक खाली ज़मीन पर लाकर पटक दिया गया, जहाँ पीने का पानी तक नहीं था, दूसरी सुविधाओं की तो बात ही छोड़ दीजिए।''[19] पहले तो सरकार द्वारा कहा गया कि आपको नवीन कॉलोनी वाले मकान दिए, परन्तु सरकार के सभी वायदे निराधार और किसी

तुगलगी फरमान से कम नहीं थे। ''संजय गाँधी के पाँच सूत्र थेः परिवार नियोजन, वृक्षारोपण, दहेज पर पाबंदी, हर एक कम से कम एक को पढ़ाए और जातिवाद का सफाया।''[20] इनमें से किसी भी कार्य में कांग्रेस सरकार सफल नहीं हो पाई।

संकटकाल के इस विपरीत समय में राष्ट्र के अन्दर ऐसा वातावरण निर्मित किया गया जैसे राष्ट्र की अखण्डता को राष्ट्र के कुछ लोगों से खतरा है, परन्तु यह मात्र एक छलावा था। नौकरशाही अपने स्वार्थ के लिए सरकारी फरमानों को असंवैधानिक और अनैतिक रूप से लागू कर रही थी। सरकारी कर्मचारी स्वयं के लाभ के लिए और सरकार के चहेते बनने के लिए किसी भी नागरिक को शक के आधार पर परेशान कर रहे थे। बाज़ार, दुकानें, संस्थान सभी निश्चित समय पर खुलती। सभी कार्य निश्चित समय पर किए जाते। दूरदर्शन पर सरकार की अनुमति से आपातकाल के पक्ष में कार्यक्रम दिखाए जाते। उनकी प्रशंसा की जाती, जिससे आम जनता में अंधा विश्वास उत्पन्न हो। 'ऑल इण्डिया रेडिओ' अब 'ऑल इन्दिरा रेडिओ' बन गया था। इसी संदर्भ में एस.एम. जोशी अपनी आत्मकथा 'यादों की जुगाली' में लिखते हैं, ''दूरदर्शन और आकाशवाणी से प्रचार किया जाता था कि जयप्रकाश जी फासिस्ट हैं, जिसे सुनकर लोग रुष्ट होते थे। उन दिनों का रेडिओ 'ऑल इण्डिया रेडिओ' के बजाय 'ऑल इंदिरा रेडिओ' हो गया था। इसलिए लोग आकाशवाणी सुनने के बजाय बी.बी.सी. सुनना पसंद करते थे।''[21]

जनता का बढ़ता आक्रोश अब सरकार से दबने वाला नहीं था। कई नेता जो इसके खिलाफ थे, उन्होंने भूमिगत सभा की, साहित्य लिखा गया। जनता के मन में एक दृढ़ संकल्प उत्पन्न हुआ और इस काली रात का अंत जनता पार्टी के उदय के साथ हुआ। जब 1977 में वापस लोकसभा चुनाव आयोजित किए गए तो, ''सारे उत्तर भारतीय राज्यों में लोगों ने कांग्रेस का सूपड़ा साफ कर दिया। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और इमरजेंसी के 19 महीनों के दौरान जो कुछ खोया था। उसे हासिल करने के लिए अपना दम दिखाया। उनका विद्रोह केवल जबरन नसबंदी के खिलाफ नहीं था, बल्कि उस व्यवस्था के खिलाफ था, जिसने उनके लिए कोई रास्ता नहीं छोड़ा था, बल्कि न्याय का कोई साधन नहीं दिया था। पुलिस रिपोर्ट नहीं लिखती थी, अखबार उनकी शिकायत नहीं छापते थे, कोर्ट उनकी अर्जी स्वीकार नहीं करते थे और डर से पड़ोसी भी उनकी मदद के लिए नहीं आते थे।''[22]

4.4 आपातकाल की कचोटती यादें – राही मासूम रज़ा की दृष्टि से :–

राही मासूम रज़ा ने आपातकाल का खुल कर विरोध किया। उन्होंने इस आपातकालीन स्थिति में भी सरकार की मनमानी स्वीकार नहीं की। एक साहित्यकार का हथियार उसकी कल़म होती है। उन्होंने उसी हथियार से इन विपरीत परिस्थितियों का सामना किया। जब सरकार पत्रकारिता, फिल्म, दूरदर्शन, रेडिओ सभी पर विशेष आचार संहिता लगा रही थी। इन सभी माध्यमों पर विशेष अधिकार के तहत अपने प्रभाव में लेना चाहती थी, तब कुछ ऐसे संवाद लेखक, जिन्होंने इस गैरसंवैधानिक निर्णय का विरोध किया। जब भारतीय संवाद लेखक संघ ने सरकार के विशेष नियमों का पालन करने के लिए एक बैठक बुलाई और सभी संवाद लेखकों को उन गैरसंवैधानिक नियमों का पालन करने का दबाव बनाया गया तो राही मासूम रज़ा ने उस आचार संहिता का विरोध किया। उन्होंने 'कटरा बी आर्ज़ू' उपन्यास के प्रारम्भ में इस बात को स्वीकार भी किया है, ''अपने दो दोस्तों, विमल दत्त और अज़ीज़ कैसी के नाम कि लगभग दो बरस पहले उन्होंने फिल्म राइटर्ज़ एसोसिएशिन की भरी सभा में उस प्रस्ताव का विरोध करने में मेरा साथ दिया था, जो श्रीमती गाँधी की खुशामद में फ़िल्म राइटर्ज़ पर थोपनें की कोशिश की जा रही थी। इन दोनों यारों ने इस शाम उसी प्रस्ताव के विरोध में मेरे साथ सभा से वाक आउट करने की हिम्मत भी की थी और उस रात के नाम जो उस शाम के बाद आई थी और जेल के डर में गुज़री थी।''[23]

'कटरा बी आर्ज़ू' उपन्यास आपातकाल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। राही मासूम रज़ा ने इस उपन्यास के माध्यम से उन परिस्थितियों का वर्णन किया है जो उस समय जनता ने भोगी। उन्होंने उपन्यास के आरम्भ में एक बयान भी दिया है। ''राही मासूम रज़ा पुत्र स्वर्गीय हाजी सैयद बशीर हसन आब्दी, एक़रार करता हूँ कि यह एक झूठी कहानी है। इसके पात्र झूठे हैं, जगहों के नाम गलत हैं। घटनाएँ गढ़ी हुई हैं, परन्तु यह झूठ बोलने पर मैं शर्मिंदा नहीं हूँ।''[24] उनका लेखन समाज की बुराइयों के लिए एक सतत संघर्ष था। आपातकालीन स्थितियों में भी उन्होंने सरकार के किसी फरमान का पालन नहीं किया। 'कटरा बी आर्ज़ू' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

उपन्यास में 'कटरा मीर बुलाकी' मोहल्ले की कहानी है। जिसका नायक देशराज और नायिका बिल्लो है। दोनों का एक ही सपना होता है, एक अपना घर हो और छोटा–सा परिवार, परन्तु परिस्थितिवश वह कभी पूरा हो नहीं पाता है। जब देश में आपातकाल लागू होता है, तो सभी परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। इस पूरे घटनाक्रम से ना

राजनीति में परिवर्तन आता है ना ही समाज की परिस्थितियों में। बस वही राजनीति और नौकरशाही जिससे सरकारी कर्मचारी अपने स्वार्थ पूरा करने में जुटे रहते हैं। देशराज और बिल्लो की स्थिति बहुत दयनीय हो जाती है। 'कटरा बी आर्ज़ू' मोहल्ले को विकास के नाम पर विकसित करने के लिए छोटे–छोटे घर तोड़ दिए जाते हैं। जिसमें बिल्लो और देशराज का घर भी होता है। उस छोटे से घर को सड़क चौड़ी करने के नाम पर तोड़ दिया जाता है और उन्हें यमुना पार कोई कॉलोनी में मकान दिया जाता है, जब बिल्लो वहाँ जाकर देखती है तो वहाँ कोई आवासीय कॉलोनी नहीं होती है, होता है सिर्फ खाली बंजर मैदान। ठीक ऐसी ही परिस्थितियाँ दिल्ली के तुर्कमानी गेट की बस्तियों की हुई थी। बिल्लो अपना घर बुलडोजर से टूटने से बचाते हुए उसके नीचे आकर मर जाती है। देशराज का अन्त भी दुःखद ही होता है, वह चुनाव का प्रचार करने वाली जीप के नीचे आकर मर जाता है।

इस पूरे उपन्यास का वातावरण आपातकाल की तत्कालीन परिस्थितियों पर खरा उतरता है। चाहे वह जबरदस्ती नसबंदी करवाने वाली स्थितियाँ हों या आम जनता को जबरन जेल में ठूसने वाली। देशराज को भी इसीलिए पकड़ लिया जाता है, क्योंकि वह आशाराम का मित्र होता है। आशाराम पर सरकारी कर्मचारी देशद्रोह का आरोप लगाते हैं। आशाराम भूमिगत हो जाता है। जब बिल्लो और देशराज को आकाशवाणी केन्द्र में बुलाकर रेडिओ पर बात करने के लिए बुलाया जाता है, तब देशराज को पुलिस के कर्मचारी पकड़ कर अज्ञात जगह ले जाते हैं, उसे अमानवीय यातना देते हैं। वह अंत में अपाहिज हो जाता है और चुनावी रैली की कार के नीचे आकर मर जाता है। बहुत ही अमानवीय यातनाएँ जिसकी कल्पना मात्र से हृदय सिहर उठता है।

राही मासूम रज़ा का आपातकाल के लिए विरोध उनके इस उपन्यास के माध्यम से सामने आता है। वह उपन्यास के मध्य में फैसला शीर्षक में अपना बयान दर्ज़ करते हैं कि, ''मैं राही मासूम रज़ा, यहाँ इस कहानी में चंद लमहों के लिए दाखिल होने की इजाज़त चाहता हूँ। मुझे आपसे कुछ कहना है। जो बातें मैं कहना चाहता हूँ वह मैं इस उपन्यास के किसी पात्र से भी कहलवा सकता था पर उसमें कोई मज़ा नहीं। मैं नहीं चाहता कि मेरी बात किसी पात्र के सर की टोपी बन कर रह जाए।''[25] ''मैंने इमरजेंसी के ज़माने में भी श्रीमती गाँधी का विरोध करने की हिम्मत की थी और मैं श्री जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन से भी सहमत नहीं था, क्योंकि श्री जयप्रकाश नारायण की राजनीति ने कभी मेरे दिल को नहीं छुआ। मैंने उन्हें हमेशा जनता की मुख़ालिफ़ सफ़ में खड़ा पाया है। फिर जो लोग उनके साथ लग लिये थे वह भी कुछ भले लोग नहीं थे।''[26] ''इमरजेंसी एक भयानक काली रात थी। श्रीमती गाँधी ग्रहण की तरह हमारे संविधान के चाँद को लग गई थी। पर

उस रात के ख़त्म होने के बाद सवेरा नहीं हुआ। मुझे तो ऐसा लगता है कि एक रात ख़त्म हुई और दूसरी रात शुरू हुई।''[27]

राही मासूम रज़ा कहते हैं कि भूमिगत आन्दोलनों से उनका सम्पर्क नहीं था, परन्तु उनकी जान–पहचान जरूर थी। वे कहते हैं कि, ''इमरजेंसी लागू होने के कुछ ही दिनों बाद मुझसे एक हिन्दुस्तानी पत्रकार मिलने आए थे जो शायद बर्मा में रहते हैं और वहाँ के पत्रों के लिए काम करते हैं। उनसे मैंने यही कहा था कि इमरजेंसी लगाना या न लगाना केवल कोई राजनीतिक सवाल नहीं है। मुझे शर्म यह सोचकर आती है कि हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवियों ने इसके खिलाफ कोई आवाज़ नहीं उठाई। कम्प्यूनिस्ट बुद्धिजीवी तो खुल्लमखुल्ला इमरजेंसी का साथ दे रहे थे और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा।''[28]

उपन्यास का एक पात्र मास्टर बद्रुलहसन की वह नज़्म जो पूरे आपातकाल पर एक व्यंग्य है –

''सारी रौनक, ताज़गी, बस इन्दिरा गाँधी की है।
देश में तो रोशनी, बस इन्दिरा गाँधी की है।
लैलिए–मुसतक़बिले–हिन्दोस्ताँ उसकी कनीज़
गेसुओं की बरहमी बस इन्दिरा गाँधी की है।''[29]

3.5 आपातकाल–अभिव्यक्ति के खतरे :–

आपातकाल के समय पत्रकारिता पर एक विशेष प्रकार की आचार संहिता लगा दी गई थी। किसी भी समाचार पत्र को प्रकाशित करने से पहले प्रकाशक को विशेष प्रकार की आचार संहिता को ध्यान में रखना पड़ता है। तत्कालीन सरकार द्वारा इन नियमों का निर्माण किया गया था, जिससे कोई भी समाचार पत्र, दूरदर्शन और रेडिओ सरकार के खिलाफ़ दुष्प्रचार नहीं कर पाए। फिर भी कोई पत्रकार या सम्पादक इन नियमों का उल्लंघन करता था तो उसको प्रतिबंधित कर दिया जाता था।

नागरिकों के मौलिक अधिकारों के स्थगन के साथ–साथ अभिव्यक्ति की आज़ादी भी छीन ली गई। ''प्रेस को कुचल दिया गया था। साप्ताहिक 'पांचजन्य, दैनिक 'तरुण भारत' और हिन्दी मासिक पत्रिका 'राष्ट्रधर्म' जो जनसंघ समूह के हिन्दी प्रकाशन का हिस्सा थे, को बंद कर दिया गया।''[30] प्रेस के लिए दिशा–निर्देश जारी कर दिए गए थे और अफवाहों, किसी भी भारतीय या विदेशी अखबार में छपी आपत्तिजनक खबर को छापने तथा ऐसे किसी भी लेख को छापने की सख्त मनाही थी, जो सरकार के खिलाफ विपक्ष को

भड़का सकता था। ऐसे सभी कार्टूनों, तसवीरों और विज्ञापनों को पहले सेंसरशिप के लिए सौंपना पड़ता था, जो सेंसरशिप के दायरे में आते थे।''[31] जो लोग मानवता के प्रति प्रतिबद्ध थे, उन्हें किसी भी प्रकार का कोई मौका नहीं दिया जा रहा था। सरकार का रवैया तानाशाही राज्य की तरह हो गया था।

देश की स्थिति बहुत ही अराजक हो गई थी। फिर भी कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो निर्भीक पत्रकारिता का उदाहरण बन गए थे। "बिहार से 'तरुण क्रांति' और 'क्रांतिनाद', दिल्ली से 'आवाज' और 'चिनगारी', 'तमिलनाडु से 'रेज़िस्टेन्स' बम्बई से श्री गोरवाल का 'ओपीनियन और नानासाहब गोरे की अंग्रेजी 'जनता', गुजरात से 'भूमिपुत्र' और पुणे से 'साधना', ओपीनियन' और 'जनता' भूमिगत नहीं थी। 'लोकमित्र मुद्रणालय' सहकारिता के आधार पर स्थापित हुआ था और आपातकाल पर प्रहार करने वाला 'ओपीनियन' उसी में छपता था।''[32] ''बी.बी.सी. को 'सत्य समाचार' रोज भेजना जाता था। इसके अलावा बम्बई से भी बी.बी.सी. से सम्पर्क रखा गया था।''[33]

सरकार आम जनता की भावनाओं को बाहर आने नहीं दे रही थी। सरकार द्वारा यह प्रचारित किया जा रहा था कि देश का इस स्थिति में भी विकास हो रहा है। सरकार की पैरवी करने वाले लोगों ने जनता को भ्रमित करने का कोई रास्ता नहीं छोड़ा था। ''यह देखकर बड़ी दहशत होती थी कि इन्दिरा गाँधी और संजय कितनी आसानी से पूरे देश के प्रशासन–तंत्र पर कब्जा जमाने मे सफल हो गए थे, और अधिकारियों और दूसरे सरकारी कर्मचारियों ने कितनी सरलता से इसे स्वीकार कर लिया था।''[34]

कई पत्रकारों की गिरफ्तारियाँ की गई। उनके परिवार को प्रताड़ित किया गया। फोन टेप किए जाते थे। उनके घर कौन आता–जाता था। उस पर नज़र रखी जाती थी, परन्तु फिर भी इन्दिरा गाँधी की सरकार अपने मन्सूबों में खरा नहीं उतर पाई। 19 महीनों के इस संकटकाल का भारतीय जनता ने बहुत डटकर सामना किया। तानाशाही के एक युग का अंत जरूर हुआ साथ ही साथ जनता की आँखों से वह मोहभंग का पर्दा उतर चुका था। ''किसी को पसंद हो अथवा न हो, इस प्रतिरोध को 'दूसरा स्वतंत्रता युद्ध' कहना बिलकुल सार्थक है।''[35]

3.6 आपातकाल–हिन्दी साहित्यकारों के प्रतिरोध एवं समर्पण :–

साहित्य, समाज का दर्पण होता है। समाज में कोई भी घटना घटित होती है तो साहित्य उन परिस्थितियों से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। जब आपातकाल के बादल भारत के लोकतंत्र पर मंडराने लगे तो साहित्य ने अपनी निर्णायक भूमिका निभाई।

जनता की आवाज बनकर साहित्य ने इस युद्ध का प्रतिनिधित्व किया। आपातकाल का विरोध करने वाले अग्रणी साहित्यकार फणीश्वरनाथ 'रेणु', धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र, महादेवी वर्मा, राही मासूम रज़ा थे।

भारत के इस दूसरे मुक्ति संग्राम में फणीश्वरनाथ 'रेणु' की भूमिका अद्वितीय है। उन्होंने आपातकाल के समय जो संघर्ष किया, वह सराहनीय है। रेणु स्वयं को जनता का लेखक मानते थे। रेणु, जयप्रकाश नारायण के समर्थक थे। जब आपातकाल लगा तब रेणु अपनी बेटी के विदाई समारोह में व्यस्त थे। ''रात में थाने का इंस्पेक्टर आ धमका और उसने बताया कि उनके नाम वारंट है। पर साथ ही, अपनी ओर से यह भी कहा कि आप दो दिन के भीतर गाँव छोड़ दें, तो गिरफ्तारी से बच सकते हैं। अपनी ओर से इससे ज्यादा छूट देना संभव नहीं। रेणु जी ने कहा, कहोंगे तो मैं अभी लुंगा–गंजी में ही चलूँगा, पर चोंटी हो गई है मेरे पास बिल्कुल ही कपड़े नहीं हैं। दो दिन में दो कपड़े सिलवा लूँगा। परसों आना मैं चलूँगा। इंस्पेक्टर ने कहा – ठीक है, मैं बाद में आऊँगा, पर आप अगर कहीं भाग सकिए तो भाग जाइए, दो दिन तक आपको छूट है, नेपाल बगल में है।''[36]

रेणु भागकर नेपाल चले गए। नेपाल तो रेणु का मौसी का घर था। वहाँ जाकर वे कोईराला बंधुओं से मिले और कहा, ''या तो मुझे यहाँ की नागरिकता दे दो, या किसी विदेशी सरकार से सम्पर्क कर किसी भी दूसरे देश की नागरिकता दिला दो। मैं भारतीय नागरिकता को तिलांजलि देना चाहता हूँ।''[37] इसके बाद रेणु नेपाल में रहे। बाद में वे पटना आ गए, लेकिन पकड़े नहीं गए। ''आपातकाल के दौरान उन्होंने 'एक राँड, एक साँड' नामक एक लघु उपन्यास भी लिखना शुरू किया था, पर उसे उन दिनों छापने की हिम्मत न तो किसी पत्रिका की हुई और न किसी प्रकाशक की।''[38] 1976 में वे बीमार पड़ गए थे। बीमार पड़ने के बाद भी जब 1977 में लोकसभा के चुनाव हुए तो डॉक्टर की अनुमति के बिना जनता पार्टी के पक्ष में मतदान करने गए। उन्होंने लोकतंत्ररक्षी साहित्य के माध्यम से भी लेखन किया। आपातकाल के विरोध में ''रेणु जी ने गाँधी मैदान की भरी सभा में लोकनारायण जयप्रकाश बाबू के समक्ष ही जनता पर हो रहे अत्याचारों के विरूद्ध अपनी पद्मश्री की उपाधि और 300 रूपये प्रतिमाह के बजीफ़े पर लात मार दी थी।''[39] रेणु ने अपनी कविता 'इमरजेंसी' में लिखा है –

''इमरजेंसी वार्ड की ट्रालियाँ
हड़हड़–भड़भड़ करती
ऑपरेशन थियेटर से निकलती हैं–इमरजेंसी।
सैलाइन और रक्त की

बोतलों में कैद जिन्दगी।
रोग–मुक्त, किन्तु बेहोश काया में।
बूंद–बूंद टपकती रहती है–इमरजेंसी
साहसा मुख्य द्वार ठिठके हुए मौसम
और तमाम चुपचाप हवाएँ
एक साथ
मुख और प्रसन्न शुभकामना के स्वर इमरजेंसी।''[40]

गाँदीवादी कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने आपाकाल के विरोध में सुबह–शाम कविता लिखने का प्रण लिया था, जो बाद में 'त्रिकाल संध्या' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस संकलन की कविता, 'बहुत नहीं सिर्फ चार कौए थे काले' बहुत ही प्रसिद्ध कविता है। कविता की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं –

''बहुत नहीं, सिर्फ चार कौए थे काले,
उन्होंने तय किया कि सारे उड़ने वाले,
उनके ढंग से उड़े, रूके, खायें और गायें
वे जिसको त्योहार कहें, सब उसे मनाएँ।
कभी–कभी जादू हो जाता दुनिया में,
दुनिया भर के गुण दिखते हैं औंगुनिया में
ये औंगुनिए चार बड़े सरताज हो गये
इनके नौकर चील, गरुड़ और बाज़ हो गए।''[41]

धर्मवीर भारती ने भी आपातकाल का विरोध किया था। उन्होंने उन दिनों 'मुनादी' कविता लिखी थी, जो बाद में जनप्रतिनिधि के नारों में बदलने लगी थी, जिसकी पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत है –

''खल्क खुदा का, मुलुक बाश्शा का
हुकुम शहर कोतवाल का .....
हर खासो–आम को आगह किया जाता है
कि खबरदार रहें
और अपने–अपने किवाड़ों को अन्दर से
कुंडी चढ़ाकर बंद कर लें
गिरा लें खिड़कियों के परदे

और बच्चों को बाहर सड़क पर न भेजे
क्योंकि
एक बहत्तर बरस का बूढ़ा आदमी अपनी काँपती
कमजोर आवाज़ में
सड़कों पर सच बोलता हुआ निकल पड़ा है।''[42]

नागार्जुन ने भी आपातकाल का विरोध किया था। वे 18 महीने जेल में रहे थे। परन्तु बाद में वे जेल से बाहर आ गए थे। मैंने इस विषय में विजय बहादुर सिंह से बात की थी तो उन्होंने कहा, ''देखिए, लालू यादव, नीतिश कुमार भी आपातकाल का विरोध कर रहे थे, बाद में उसमें आर.एस.एस. के लोग भी घुस गए थे। नागार्जुन को लगा कि यह वास्तविक में जन आन्दोलन ही है। वे आर.एस.एस. के नौजवानों के को बुलाकर बात करते थे। आर.एस.एस. के लोगों ने नागार्जुन के बारे में अन्य लोगों से कहा कि, उस बूढ़ी कुतिया (नागार्जुन) के पास आप लोग मत जाया करे। नागार्जुन को लगा कि मैं गलत लोगों के बीच में आ गया हूँ। मैं तो जिस भाव से आया था, उस यथार्थ में बहुत अन्तर आ गया है। इससे उनको झटका लगा। वे इस आन्दोलन से भावनात्मक रूप से जुड़े थे और इन बातों से उनको कष्ट हुआ। चूँकि वे 18 महीने में रहे ना, फिर वे बीमार हो गए, उनकी उम्र भी काफी थी। उनके बेटे ने समझाया कि उनको छोड़ दिया जाए, लेकिन उन्होंने आपातकाल का समर्थन नहीं किया था। हाँ, यह बात जरूर है कि वह उस पार्टी और उस समर्थन को छोड़कर जरूर आ गए थे। मैंने उनको उस समय विदिशा कवि सम्मेलन में बुलाया था। जब वह बिल्कुल आधे रह गए थे, उन्होंने कहा था कि, ''मैं गलती से रण्डियों के कोठे पे आ गया था'', उन्होंने यह जे.पी. के लिए नहीं, आर.एस.एस. वालों के लिए कहा था। प्रगतिशील लेखक संघ जो सी.पी.आई. की सांस्कृतिक शाखा है, वह इस घटना को दूसरे ढंग से भुनाती है, क्योंकि पूरा प्रगतिशील लेखक संघ आपातकाल का समर्थन कर रहा था। सी.पी.आई. और प्रगतिशील लेखक संघ दोनों ही पॉलिटिकल पॉकेट हैं। नागार्जुन खुद प्रगतिशील लेखक संघ के निकट थे। प्रगतिशील लेखक संघ ने इस पूरे प्रकरण का लाभ लेकर उसे अपनी तरह प्रचारित किया। नागार्जुन का यह पूरा प्रकरण 'पहल' पत्रिका में छपा था। नागार्जुन, जयप्रकाश नारायण के बिहार किसान आन्दोलन से जुड़े हुए थे। उन्होंने पटना के डाक बंगला चौराहा पर बैठ कर धरना भी दिया और नारा लिखा, जिसकी पंक्तियाँ निम्न हैं। यह नारा उस समय काफी प्रचलित हुआ था।

''होंगे दक्षिण, होंगे वाम
जनता को रोटी से काम।''[43]

यह तो रही कविताओं की बात, इनके अतिरिक्त आपातकालीन पृष्ठभूमि पर हिन्दी साहित्य में उपन्यास भी लिखे गये। जिनमें प्रमुख हैं कटरा बी आर्ज़ू (राही मासूम रज़ा, 1978), शांतिभंग (मुद्राराक्षस, 1982), समय साक्षी है (हिमांशु जोशी, 1982), प्रजाराम (यादवेन्द्र शर्मा, 1983), रात का रिपोर्टर (निर्मल वर्मा, 1989), जवाहर नगर (रवीन्द्र वर्मा, 1995), पहर ढलते (मंजूर एहतेशाम, 2000), जंगल तंत्रम (श्रवण कुमार गोस्वामी, 1979), आपातनामा (मनोहरपुरी, 2014), अधबुनी रस्सी (सच्चिदानंद चतुर्वेदी, 2009), छटा तंत्र (बदी उज्जमा), सत्यमेव जयते (श्री गोपाल व्यास, 2012) इत्यादि।

निष्कर्ष :–

सभी साहित्यकारों ने अपने–अपने तरीके से आपातकाल का विरोध किया। कुछ लेखकों ने उपन्यास लिखे तो कुछ ने कविताएँ। सभी के लेखन में एक छटपटाहट थी। एक विद्रोह था, तत्कालीन सरकार के प्रति। स्वतंत्र भारत के इतिहास में यह सबसे विवादास्पद काल था। सरकार की मनमानी का जो भी विरोध करता उसे पकड़ लिया जाता था। अमानवीय यातनाएँ दी जाती थी। अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गई फिर भी जनता का विरोध बढ़ता ही गया। 19 महीने का यह काला अध्याय जनता के उदय पर आकर खत्म हुआ।

राही मासूम रज़ा ने इस संकटकाल में जिस संवेदना के साथ लेखन किया वह अनुकरणीय है। राही मासूम रज़ा वामपंथी विचारधारा के समर्थक थे। आपातकाल में वामपंथी दल अर्थात् सी.पी.आई. सरकार का समर्थन कर रही थी। परन्तु राही मासूम रज़ा ने इसका विरोध किया। वे इस विचाराधारा से प्रभावित होने के बावजूद भी अपने निर्णय पर अडिग रहे। उन्होंने अपने विचारों को नहीं बदला। संकटकाल भारत की संवैधानिक समस्या थी। वे निरन्तर दुविधा में रहे और सत्ता पक्ष की तानाशाही का आखिरी सीमा तक प्रतिरोध किया। लेखकीय मोर्चे पर उनका यह स्वाभिमान आज गहराई से स्मरण करने की वस्तु है। सत्ता के प्रति शर्तहीन समर्पण के बजाए उन्होंने जनता की पक्षधरता स्वीकार की।

संदर्भ सूची

(1) राही मासूम रज़ा, कटरा बी आर्ज़ू, आवरण फ्लैप से।

(2) राही मासूम रज़ा, कटरा बी आर्ज़ू, पृष्ठ सं.–15

(3) वही, पृष्ठ सं.–14

(4) वही, पृष्ठ सं.–28

(5) वही, पृष्ठ सं.–44

(6) वही, पृष्ठ सं.–107

(7) वही, पृष्ठ सं.–62

(8) वही, पृष्ठ सं.–121

(9) वही, पृष्ठ सं.–123

(10) वही, पृष्ठ सं.–136

(11) वही, पृष्ठ सं.–164

(12) वही, पृष्ठ सं.–177

(13) वही, पृष्ठ सं.–193

(14) वही, पृष्ठ सं.–139

(15) कुलदीप नैयर, इमरजेंसी की इनसाइड स्टोरी, पृष्ठ सं.–15

(16) कुलदीप नैयर, एक जिन्दगी काफी नहीं, पृष्ठ सं.–277

(17) कुलदीप नैयर, इमरजेंसी की इनसाइड स्टोरी, पृष्ठ सं.–146

(18) वही, पृष्ठ सं.–146

(19) वही, पृष्ठ सं.–152

(20) वही, पृष्ठ सं.–153

(21) एस.एम. जोशी, यादों की जुगाली, पृष्ठ सं.–316

(22) कुलदीप नैयर, इमरजेंसी की इनसाइड स्टोरी, पृष्ठ सं.–191

(23) राही मासूम रज़ा, कटरा बी आर्ज़ू, पृष्ठ सं.–7

(24) वही, पृष्ठ सं.–5

(25) वही, पृष्ठ सं.–110

(26) वही, पृष्ठ सं.–111

(27) वही, पृष्ठ सं.–111

(28) वही, पृष्ठ सं.–112

(29) वही, पृष्ठ सं.–103

(30) कुलदीप नैयर, इमरजेंसी की इनसाइड स्टोरी, पृष्ठ सं.–56

(31) वही, पृष्ठ सं.–64

(32) एस.एम. जोशी, यादों की जुगाली, पृष्ठ सं.–317

(33) वही, पृष्ठ सं.–318

(34) कुलदीप नैयर, एक जिन्दगी काफी नहीं, पृष्ठ सं.–277

(35) एस.एम. जोशी, यादों की जुगाली, पृष्ठ सं.–317

(36) प्रो .रामबुझावन सिंह : डॉ. रामवचन राय, रेणु–संस्मरण और श्रद्धांजलि, पृष्ठ, सं.–101

(37) वही, पृष्ठ सं.–102

(38) वही, पृष्ठ सं.–102

(39) वही, पृष्ठ सं.–102

(40) http://kavitakosh.org/kk/इमर्जेंसी_/_फणीश्वर_नाथरेणु

(41) http://hindi-kavita.com/trikal-sandhya-bhawani-prasad-mishra.php

(42) http://kavitakosh.org/kk/मुनादी_/_धर्मवीर_भारती

(43) प्रो. रामबुझावन सिंह : डॉ. रामवचन राय, रेणु–संस्मरण और श्रद्धांजलि, पृष्ठ, सं.–99

चतुर्थ अध्याय

राही मासूम रज़ा की चिन्तन भूमि में 'क्रांति कथा–1857'

4.1 1857 – जातीय प्रतिरोध एवं संघर्ष का संयुक्त मोर्चा

4.2 'क्रांति कथा–1857' की मनोभूमि

4.3 1857 की ऐतिहासिक जनक्रांति

4.4 1857 आम जन की भागीदारी

4.1 1857 – जातीय प्रतिरोध एवं संघर्ष का संयुक्त मोर्चा :–

1857 की क्रांति भारतीय इतिहास में संघर्ष का संयुक्त मोर्चा है। यह भारतीय स्वाधीनता का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष इस क्रांति में एकमेक हो गया, चाहे वह अवध का नवाब हो या झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई परन्तु फिर भी 1857 की क्रांति को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं। कोई इतिहासकार कहता हैं कि यह ज़मींदारी प्रथा के खिलाफ बग़ावत थी, तो कोई कहता है यह अपने–अपने राज्यों को बचाने के लिए अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह, परन्तु जब इस ऐतिहासिक घटना का पुनरावलोकन किया जाता हैं तो यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि 1857 का संग्राम एक संयुक्त जातीय संघर्ष था। इस संघर्ष में हिन्दू–मुस्लिम एक होकर लड़े। औपनिवेशिक ताकतों ने हिन्दुस्तान को तोड़ने की बहुत कोशिश की, पर हर बार सफल नहीं हो पाई। 1857 का ग़दर अंग्रजों के खिलाफ़ भारतीय जनता का महासंग्राम था। जिसने अंग्रेजों की जड़ें हिला दीं। औपनिवेशिक ताकतों को इस आँधी का तनिक भी भान नहीं था। इस महान क्रांति ने अंग्रेजों को यह समझा दिया था कि हिन्दुस्तान कमजोर राष्ट्र नहीं हैं। हर हिन्दुस्तानी ने इस संग्राम में बढ़–चढ़कर अपना योगदान दिया।

1857 की क्रांति का संघर्ष लगभग 2 सालों तक चलता रहा। विद्रोह की चिंगारी तो बंगाल से भड़की और अंत में धीरे–धीरे पूरा हिन्दुस्तान इसकी ज्वाला में जलने लगा। लोगों में ज़मींदारों और राजाओं के प्रति अविश्वास और असंतोष बढ़ता ही जा रहा था। अंग्रेजों द्वारा देशी रियासतों के राजाओं और ज़मींदारों से अधिक लगान वसूला जा रहा था। इसका नतीजा यह हो रहा था की राजा अपने राज्य की जनता से अधिक कर लेने लग गए थे। चूंकि 19 वीं सदी तक भारत की अर्थ व्यवस्था कृषि आधरित थी। वर्तमान में भी कृषि आधारित अर्थव्यवस्था ही है, परन्तु 21वीं सदी में नवाचार माध्यमों से भी अर्थव्यवस्था को बल मिलने लगा है। कम वर्षा के कारण उपज की कमी, ऊपर से ज़मींदारों के द्वारा दुगनी कर वसूली, जनता में रोष और अविश्वास उत्पन्न कर रही थी। इस सबमें सबसे खराब रैय्यतबाड़ी व्यवस्था थी। जिसे 1820 में टॉमस मुनरो ने मद्रास व मुम्बई में लागू किया था। इसके अतिरिक्त 1819 में महलबाड़ी व्यवस्था अलेक्जेण्डर व हौल्ट मैकेन्जी ने पंजाब और लखनऊ में लागू की। इस प्रकार की कर व्यवस्था ने किसानों की हड्डी तोड़ दी।

अंग्रेजों द्वारा कई तरह की पाबन्दियाँ लगा दी गईं। सामाजिक प्रतिबंधों के साथ–साथ भारतीय जनता की धार्मिक भावनाओं को भी क्षत–विक्षत किया गया। जिसका उदाहरण चर्बी वाले करतूस थे। जिसने भारतीय सैनिकों की धार्मिक भावना को सबसे

ज्यादा क्षति पहुँचाई। यह एक प्रमुख कारण था ग़दर होने का। अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति व्यवहार भी अच्छा नहीं था। वे सिर्फ हिन्दुस्तान के संसाधनों का दोहन और जनता की भावनाओं का हनन करना ही जानते थे। इस विद्रोह ने अंग्रेजों की आँखें खोल दीं और भारतीय जनता इसके कारण एकजुट हो गई। इन सबमें एक बात स्पष्ट थी, अब भारतीय जन मानस यह समझ चुका था कि स्वतंत्रता पाने की राह आसान नहीं है। स्वयं के राजा–महाराजाओं द्वारा अंग्रेजों की सहायता करना, उनकी चापलूसी करना क्रांतिकारियों का मनोबल कमजोर कर रहा था।

इस जनक्रांति के विफलता के कई कारण थे। इसके साथ ही साथ भारतीय जनमानस को स्वयं की शक्ति और आत्मविश्वास का अनुभव भी भली प्रकार से हो गया था। लगभग 100 वर्षों बाद हिन्दुस्तान एक आजाद राष्ट्र बना। इस संघर्ष की उम्र बहुत लम्बी और यात्रा कष्टप्रद थी। क्रांतिकारियों ने अनगिनत प्रयास किये थे। उनके योगदान जिनको शब्दों में बाँधना एक कठिन और दुष्कर कार्य है। भारतमाता के पुत्र जिन्होंने कई यातनाएँ सहीं, कई प्रकार के योगदान दिए। आज उनके ही बलिदान का प्रतिफल है कि हम आजाद देश के सक्षम देशवासी हैं। भारतीय नवजागरण का इतिहास पुराना है। इसमें समय के साथ कई परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों ने हमें नवीन दिशा प्रदान की।

हिन्दी साहित्य में भी 1857 की जनक्रांति को लेकर कई रचनाएँ लिखी गईं। जिसमें सबसे प्रसिद्ध सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'झाँसी की रानी' सुप्रसिद्ध है। कविता की प्रसिद्ध पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं :–

"सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटि तानी थी
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी
चमक उठी सन् सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी
बुंदेले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।"[1]

उत्साह और जोश से उन्मत यह पंक्तियाँ आज भी हमारी रंगो में गर्म लहू बन कर दौड़ रही हैं। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाटिका 'भारत दुर्दशा', प्रतापनारायण मिश्र की नाटिका 'भारत दुर्दशा', वृन्दावन लाल वर्मा का उपन्यास 'झाँसी की रानी

लक्ष्मीबाई' ऐसे कई अनंत उदाहरण हैं जो 1857 के संग्राम की पृष्ठभूमि पर लिखे गए। इसी श्रृंखला की एक टूटी हुई कड़ी है, 'क्रांतिकथा–1857'। राही मासूम रज़ा द्वारा लिखी गई यह रचना मूलतः उर्दू में रचित हैं, परन्तु इसके पश्चात इसका हिन्दी लिप्यन्तरण भी किया गया। इसके हिन्दी संस्करण को संभवतः उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली या हम यूँ भी कह सकते हैं कि इस महाकाव्य को जो सम्मान मिलना चाहिए वह नहीं मिला।

भारतवर्ष के इतिहास में 1857 का संग्राम स्वर्णिम अक्षरों से लिखा गया। एक सम्पूर्ण जातीय प्रतिरोध, जिसका परिणाम हम हिन्दू–मुस्लिम एकता और स्वाधीनता संग्राम के रूप में देख सकते हैं।

4.2 'क्रांति कथा–1857' की मनोभूमि :–

राही मासूम रज़ा ने 'क्रांति कथा–1857', 1957 में उर्दू में लिखी थी। जब पूरा भारतवर्ष इस संग्राम का शताब्दी पर्व बना रहा था, जब राही मासूम रज़ा इस जद्दोज़हद में थे कि इस क्रांति का मूलाधार क्या था? चूँकि विद्वानों में इस स्वाधीनता संग्राम को लेकर कई मतभेद थे, कई प्रकार की शंकाएँ थीं। जो आधारहीन थीं, तब राही मासूम रज़ा ने अठारह सौ सत्तावन महाकाव्य उर्दू में लिखने का साहस किया। वह इस महान क्रांति का विषय 'इंसान' को मानते हैं। यह संग्राम मनुष्य के संघर्षों, उसकी सहनशीलता के परिणाम हैं। एक छटपटाहट हमेशा राही मासूम रज़ा के लेखन में देखने को मिलती हैं। वह कभी–भी तत्कालीन परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं होते। उनके बग़ावती स्वर हमेशा हिल्लोरें मारते रहते हैं। यह कुछ इसी तरह की यह रचना है, जिसने हिन्दुस्तान के इतिहास पर कई तरह के प्रश्न चिन्ह लगा दिए।

1857 की क्रांति को लेकर हिन्दी साहित्य में कई तरह के सृजन हुए हैं। कविता, उपन्यास, नाटकों में भी इस तरह के प्रयोग किए गए हैं, परन्तु महाकाव्य लिखने का साहस राही मासूम रज़ा ने ही किया। वैसे मिर्जा ग़ालिब को इस परम्परा का प्रतिनिधि कवि माना जाता हैं। फिर भी अट्ठारह सौ सत्तावन अपनी तरह का एक अनूठा प्रयास है। 1965 में वाणी प्रकाशन के द्वारा इस उर्दू महाकाव्य का अनुवाद हिन्दी में किया गया। जिसकी भूमिका प्रसिद्ध विद्वान डॉ.सम्पूर्णानन्द ने लिखी। उन्होंने लिखा था, "इस पुस्तक का उद्देश्य है, सुनो भाईयों–सुनो भाईयों, कथा सुनो–1857 की। सच तो यह है कि उस उद्देश्य को बहुत अच्छी तरह निभाया गया है। लखनऊ, झाँसी और जहाँ–जहाँ उत्तर प्रदेश में लड़ाई के खेत रहे–सबका विश्वास है हिन्दी भाषा जगत इस पुस्तक का समादार करेगा।"[2]

राही मासूम रज़ा कहते हैं, "मैंने यह नज़्म चंद किताबों की मदद से अपने कमरे में बैठकर नहीं लिखी है। मैंने इस लड़ाई की शिरकत की है, मैंने जख़्म लगाये हैं। मैं दरख़्त पर लटकाया गया हूँ, मुझे मुर्दा समझकर गिद्धों ने नोचा है। मैंने उस बेबसी को महसूस किया है जब आदमी गिद्धों से और गीदड़ों से बचने के लिए अपना जिस्म नहीं हिला सकता और जब आँखों से एक बेपनाह खौफ बेपनाह बेबसी झलकने लगती है।"[3] किसी भी कवि की पीड़ा का एहसास इन्हीं पंक्तियों से लगाया जा सकता है कि वह स्वयं उस युग की पीड़ा का अनुभव करके आया है। उसकी संवेदना युगों की यात्रा करती हैं। तभी तो वह उस अतीत को जीवंत कर देते हैं। उसका दर्द, दुःख, सुख, हँसी, क्रोध, क्षोभ सब जी उठते हैं। राही मासूम रज़ा ने भी उस पीड़ा की कलात्मक अभिव्यक्ति की हैं। उन्होंने इस महाकाव्य को अलग–अलग उपविषयों में विभक्त किया है। जैसे 'यह आदमी की गुज़रगाह', 'तूफान से पहले', 'अकेला तूफान', 'चाँदनी चौक में चरागाँ है इत्यादि।

क्रांति कथा का आरम्भ कुछ इस प्रकार हुआ है।

"हर तरफ अँधरे हैं रोशनी नहीं मिलती
दूर–दूर ढूँढ़े से जिदंगी नहीं मिलती।"[4]

एक अनन्त उदासी छाई है। एक मौन शायद किसी तूफान के पहले की चेतावनी। इस महाकाव्य का विषय 'मानव' है। मानव की अदम्य जिजीविषा ही उसे प्रकृति की श्रेष्ठ कृति बनाता है। राही मासूम रज़ा सर्वप्रथम सभी क्रांतिस्थलों का वर्णन करते हैं। वह उस खामोशी को महसूस करते हैं। हिन्दुस्तान की आजादी का बग़ावती स्वर उन्हीं घरों में से होकर निकला है जहाँ अब बूढ़ी आँखें मौन हो चुकी हैं, जवान लहू अब रंगो में से बह जाएगा। पनघट पर अब रहट की आवाजें गुम हैं, गली के कोने पर कुत्ता भी मुँह लटकाए बैठा है। शायद वह भी अब इस मौन चेतावनी की आहट सुनने को तरस गया है।

"उदास उदास है पीपल, खामोश है बरगद
कि ज़ेरे साया कोई शिव विराजमान नहीं
किसी गली में खनकती नहीं कोई पायल
नदी के तट पे किसी बसरी की तान नहीं।"[5]

राही मासूम रज़ा को भगवान शिव अत्यधिक प्रिय थे। वह गंगा माता और भगवान शिव को बहुत मानते थे। उनकी कविता, लेखों, नज़्म, शायरी, उपन्यास सभी जगह गंगा और भगवान शिव के दर्शन हो जाएँगे। भारतीय संस्कृति की हर नीति–रीति, शास्त्र, दर्शन सभी उन्हें प्रिय थे। उनकी लेखनी में कहीं ना कहीं इन उपमानों के दर्शन किए जा सकते हैं।

राही मासूम रज़ा के लेखन की एक सबसे बड़ी विशेषता ग्रामीण परिवेश और आंचलिकता है। उनके लोक-गीत, लोक-संस्कृति, ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग रचना को मधुर और आंचलिकता की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देती हैं। जब हिन्दुस्तान की जनता मौन थी। वह अनन्त में शून्य की तलाश कर रही थी तब वह कहते हैं कि अब कोई बन्ना–बन्नी नहीं गाता कोई विवाह में फूहड़ गालियों भरे लोक गीत नहीं गाता। यह कैसा समय है।

"वह सीधे सादे घरेलू मसर्रतों के गीत
लतर की तरह वह चढ़ती जवानियों के गीत।
वह आँगनों के, वह गलियों के पनघटों के गीत
वह बीवियों की धुनें, वह चमायनों के गीत।"[6]

ठेठ अवधी और भोजपुरी के गीतों की मिठास भी उनके काव्य में सजी–सँवरी हुई हैं।

"दमड़ी का सेनुर भयल बाबा
चुनरी भयल अनमोल
ए ही सेनुरवा के कारन बाबा
छोड़ लौं मैं देस तुहार
बहना मोरी दूर देसी भई
डोलिया का बाँस पकड़े, रोयें बीरन भैया
परदेसी भई
कौन लगइ है बजरिया में आखिर
बीरन के अँसुअन का मोल रे बाबुल
चुनरी भयल अनमोल।"[7]

साम्राज्यवादी शक्तियों के बढ़ते अत्याचार ने जनता के मौन को ललकारा है। अब सभी के मन में असंतोष बढ़ने लगे हैं। लगभग हिन्दुस्तान की सभी जगहों पर हलचल बढ़ने लगी हैं। राही कहते हैं–

"मेरठ में चाकू की दुकानों ने आँखें खोली
और अलीगढ़ के तालों ने सोती आँखे धोलीं
कायमगंज के पठानों ने भी तलवारें टटोली
और प्रयाग में धीरे–धीरे कुछ त्रिवेनी बोली
डोल रही थी इक–इक चूल इस अंग्रेजी सिंहासन की

सुनो भाइयो सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की।"[8]

दिल्ली भी अब कुछ वैसी नहीं रहीं जैसी पहले थी। दिल्ली के रंग–ढंग भी अब बदले–बदले हैं।

"दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तख़ाब
दिल्ली ज़रूर है पे वह दिल्ली नहीं है यह
हँसती तो है ज़रूर मगर अपने हाल पर
अब वैसे बात बात पर हँसती नहीं है यह।"[9]

राही मासूम रज़ा ने दिल्ली को सुहागन स्त्री का रूप माना है अर्थात् उन्होंने दिल्ली का मानवीयकरण कर दिया हैं और मानवीयकरण अलंकार का प्रयोग यहा सुलभ बन पड़ा हैं।

"अब भी सिंगार करती है, बेबा नहीं है यह
पर इस दुल्हन में अगली सी ज़िन्दादिली नहीं।
दीवाने आम अब भी है दीवाने खास भी
लेकिन वह एक खिंची हुई तलवार ही नहीं।"[10]

भारत के राजा, ज़मींदार भी किसानों से लगान लेते थे परन्तु वह अपनी जनता का पालन–पोषण भी करते थे। अंग्रेजों के आने से शोषण बढ़ता गया और करों की संख्या दुगुनी होती गई। जब किसान अंग्रेजों द्वारा लगाए गए कर को नहीं चुका पाता, तो अपनी पत्नी के जेवर बेच कर अपना कर्ज़ चुकाता है। जिन आँखो के जादू में किसान सुकून पाता था, अब उन आँखों से आँखें नही मिला पाता है। राही कहते हैं :–

"पिछले राजा जैसे भी थे अच्छे थे अंग्रेजों से
आँख निकाल आई खेतों की सख़्त लगान के फन्दों से
घर की दुनिया उजड़ी–उजड़ी उन नैनों का जादू बंद
एक लगान अदा करने में खुल–खुल जाये बाजूबंद।"[11]

अंग्रेजों द्वारा किए गए अत्याचार कुछ कम नहीं थे कि उन्होंने भारतीयों की धार्मिक और सामाजिक भावनाओं को आहात करने का कोई अवसर नहीं छोड़ा। भारतीय जनमानस इन आत्याचारों से पीड़ित था। भारतीय अपनी ही धरती पर गुलाम था। वह कुछ भी कार्य करने से पहले कई बार विचार करता था।

"शादी हो कहीं गाना बजाना हो तो सोचें
त्योहार पे अब जश्न मनाना हो तो सोचें

होली में अगर रंग उड़ाना हो तो सोचें
दीवाली में इक दीप जलाना हो तो सोचें
अब ईद भी रूठी हुई कोने में खड़ी हैं
पाँवो में सिवईयों के भी ज़जीर पड़ी हैं।"[12]

जब अंग्रेजी हुकूमत के अत्याचार बढ़ गए। उनकी दोगली नीतियों ने किसानों की कमर तोड़ दी तब भारतीय जन मानस इस लड़ाई के विरूद्ध एक जुट होने लगा। निम्न वर्ग के व्यक्ति से लेकर उच्च वर्ग के व्यक्ति इस लड़ाई में सामने आने लगे। सभी अपने–अपने स्तर पर इस संघर्ष के लिए तैयार होने लगे। अंग्रेजों द्वारा भारतीय सिपाहियों से अपने ही देश के लोगों पर अत्याचार करवाए जा रहे थे। इससे सिपाहियों के मन में असंतोष जाग्रत हो गया। इसी असंतोष से जन्म हुआ आज़ाद भारत के स्वप्न का।

"सबने चलाया धीरे–धीरे फ़ौज पे अपना जादू
आज़ादी की नई कली चटकी तो फैली खुशबू
हिन्दी फ़ौज़ में नफ़रत की एक आँधी आई हरसू
जिसको पानी समझ रहे थे वह तो निकला बालू
बाँध ली सबने एक कमल से डोरी अपने जीवन की
सुनो भाइयो सुनो भाइयो कथा सुनो सत्तावन की।"[13]

जब 29 मार्च 1857 को बैरकपुर छावनी (प.बंगाल) के सिपाही मंगल पाण्डे ने अपने अंग्रेज अधिकारी लेफ्टिनेंट बांग व सार्जेंट मेजर ह्यूसन की हत्या कर दी तो पूरे हिन्दुस्तान में विद्रोह का वातावरण हो गया। इससे भारतीय सिपाहियों को आत्मबल और साहस मिला। इस विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि 8 अप्रैल, 1857 को मंगल पाण्डे को सरेआम फाँसी दे दी गई। मंगल पाण्डे ही वह पहला व्यक्ति था, जिसने अंग्रेजों के खिलाफ आँख उठाई। पूरा हिन्दुस्तान जानना चाह रहा था कि यह वीर सिपाही मंगल पाण्डे कौन था?

"मगर यह मंगल था कौन आखिर
फ़िरंगी से किस लिए लड़ा था।
सुनाओ यह दास्तान हमको
बताओ क्या वाक़या हुआ था।"[14]

इस घटना ने सभी स्थानों पर हलचल मचा दी। अंग्रेजों ने भी अपनी–अपनी कमान सँभाली थी। समस्त भारतवर्ष में क्रांति की लहर दौड़ गई, तब राही मासूम रज़ा अंग्रेजों को ललकारते हुए कहते हैं कि –

"जाओ जाके गिरजे में
आज कुछ दुआ कर लो
आफ़ताब सर पर है
सो चुके बहुत जागो
मौत रास्ते में है
वक़्त है अभी भागो
कितनी दूर है लन्दन
जाओ रास्ता नापो।"[15]

राही मासूम रज़ा एक संवेदनशील लेखक थे। उन्होंने क्रांति कथा के पूरे चित्र को अपनी भावनाओं से जीवंत कर दिया।

"सागर–ए– जहद भरो
दार–ए– दर्द–ए–दिल–व–दरद–ए–जिगर आया है
अब उफ़क़ में कोई सूरज तो नजर आया है
साथियों उट्ठो। कि पैग़ाम–ए–सफ़र आया है।"[16]

झाँसी, 1857 के संग्राम में वीरता का पर्याय बन गई हैं। लक्ष्मीबाई के योगदान ने इस इतिहासिक क्रांति में चार चाँद लगा दिए। राही माासूम रज़ा ने लक्ष्मीबाई के संघर्ष, वीरता का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। इस संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई ने इस बात का परिचय दिया है कि महिला किसी भी पुरूष से कम नहीं है। वह उसी कुशलता से सेना का नेतृत्व कर सकती है, जिस कुशलता से पुरूष करता है। रानी की वीरता का वर्णन राही मासूम रज़ा ने कुछ इस प्रकार किया है।

"उठ भी जा ज़ेहन रसा खैंच भी मिस्त्रों की कमाँ
चुन वह मैदाँ कि फ़िरंगी से लड़ाई हो जहाँ
जो अलिफ़ हो, वह ही बढ़ती हुई फौजों का निशाँ
नुकते हो शोख कि सरदार की हिम्मत है जबाँ
चुन लें जिस लफ़्ज़ को उस लफ़्ज़ की तक़दीर बने
लक्ष्मीबाई की चलती हुई शमशीर बने।"[17]

इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि शब्द वह चुनों जो उस शब्द (लक्ष्मी बाई) के लिए प्रयुक्त हो और जो शब्द झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के लिए प्रयुक्त हो वह शब्द सौभाग्यशाली हो। वह शब्द इतिहास के पन्नों पर स्वर्ण से अंकित हो।

रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों को धूल चटा दी। अंग्रेजों को झांसी की ज़मीन पर मुँह की खानी पड़ी तब जनरल स्मिथ भी हार गया। वह उस शेरनी के वार से घायल हुआ जिसे वह एक कमजोर महिला समझ रहा था। जिसके शारीरिक और मानसिक बल का अंग्रेजों को भान नहीं था। जनरल स्मिथ की मनोस्थिति का लेखक ने कुछ इस प्रकार वर्णन किया है।

"जनरल स्मिथ सा जबाँ हौसला हैरान हुआ
अपनी बिगड़ी हुई बाज़ी से परीशान हुआ
पीछे हटने का बहरहाल जो इम्कान हुआ
छाती पर झूलते तमगों से परेशान हुआ
अब ख़िजाँ चढ़ के यूँ आ जाने पे शरमाती है।
इक कली टोक रही है, कि कहाँ जाती है।"[18]

सिंधिया परिवार ने अंग्रेजों का साथ दिया। अपनी मातृभूमि से विश्वासघात किया तब झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने हुकार भरी और कहाँ –

"बोली, मैदान में मैं अपने कदम धरती हूँ।
सिंधिया, आ, मैं मीबारिज़ तलबी करती हूँ।"[19]

अंत में वीरता से लड़ती हुई लक्ष्मीबाई इतनी घायल हो गई कि उनसे हाथ से तलवार छूट गई। उस मार्मिक घटना का वर्णन कवि ने कुछ इस प्रकार किया गया है।

"नागहाँ पुश्त की जानिब से किया एक ने बार
सिर पे अफसर के पड़ी धोखे से कारी तलवार
दाहिनी आँख तलक पहुँची जो तलवार की धार
बेख़बर हो गया अपनी सवारी पे सवार
सीने पर ज़ख्म लगा, धोड़े पे सँभाला न गया
गिरके भी हाथ से तलवार का कब्जा न गया।"[20]

अंत में लक्ष्मीबाई घायल हो जाती हैं, तो मातृभूमि भी उनका स्वागत् ऐसे करती है, जैसे माता सीता का, धरती माँ ने किया था।

"ए जमीं! देख तेरी सिक्त ये कौन आता है
तुझमें ये किसका लहू जज़्ब हुआ जाता है
जंग के शोर में सन्नाटे–सा सन्नाटा है

यह फरहरा है, कि लाशा है यह आखिर क्या है
हम न इसको कभी यूँ जाँ से गुजरने देंगे
हम इसे याद बना लेंगे, न मरने देंगे।"[21]

1857 का संग्राम भारतीय स्वाधीनता का प्रथम संग्राम है और यह सम्पूर्ण भारत को एकता के बंधन में जोड़ता है। जिसमें हिन्दू–मुस्लिम और सिख तीनों ने मिलकर संघर्ष किया। सभी ने एक दूसरे की सहायता की सभी कंधे से कंधा मिलाकर चले।

"टीकासिंह का कमरा हो या शम्सुद्दीन का आँगन हो
चुपके चुपके खाके वतन के दीवाने आ जाते हैं
अपने ग़मों की जुल्मत में फ़रदा की इक क़न्दील लिए
यह हर आने–जाने वाले को रास्ता दिखलाते हैं।"[22]

राही मासूम रज़ा ने 1857 के संग्राम की काव्यात्मक प्रस्तुति देने के बाद अंत में एक छोटी–सी नाटिका भी प्रस्तुत की हैं। इस नाटिका में संवाद भी काव्यात्मक है। जिस प्रकार भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' नाटिका लिखी है। उसी प्रकार राही मासूम रज़ा ने भी 'गोमती' नाम से लघु नाटिका लिखी। इसके पात्र बूढ़ा, शायर मौलवी, अंग्रेज अफ़सर, अंग्रेज सिपाही, और गोमती, हज़रत महल, कोरस है।

1857 की क्रांति के बाद लखनऊ का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। कोरस अपना गाना गाता है। (कोरस अर्थात् समवेत गायन)

"लखनऊ, लखनऊ, लखनऊ, लखनऊ,
अपने ही खून में डूबकर सुखरू।"[23]

जब क्रांति समाप्त हो गई और भारतीय राजाओं द्वारा अंग्रेजों का समर्थन किया गया तो आम जनता स्वयं को ठगा सा महसूस करने लगी। 'गोमती' नाटिका का पात्र बूढ़ा व्यक्ति अपनी मनःस्थिति कुछ इस प्रकार व्यक्त करता है।

बूढ़ा : "ख्वाहिशें ऐडियाँ रगड़ती हैं
झुर्रियों की तहें बिगड़ती है
सूलियों पर है जेह्दे आज़ादी
बन में है अब दिलों की शहज़ादी।"[24]

लखनऊ शहर की स्थिति बहुत दुर्दनाक है। सभी जगह शवों के ढेर हैं। भटकती हुई आत्माएँ स्वयं की स्वतंत्रता के स्वप्न टूटते हुए देख रही हैं और इन्हीं के हृदय विदारक दृश्य को अपनी आँखों से देखकर शायर चकित रह जाते हैं और कहता है।

शायर : "राही अब थक के चूर है बाबा
लखनऊ कितनी दूर है बाबा।"[25]

अब भी शहर में कत्लेआम चल रहा है। अंग्रेजी अफ़सर, सिपाहियों को मार रहे है। सिपाही, अंग्रेजी अफ़सर को ललकारती है और कहता है–

सिपाही : "फिर भी मुर्दे में जान है मेजर
इस खण्डहर में भी शान है मेजर।"[26]

इस सभी के मध्य बूढ़ा और शायर गोमती से मिलते है। राही मासूम रज़ा ने गोमती नदी का मानवीयकरण कर दिया है। गोमती नदी इस नाटिका में स्त्री के रूप में विचरण कर रही है। वह इस संग्राम के बाद निढाल हो गई। उसके वस्त्र तार–तार हो गए हैं। ज़ख्मों से चूर गोमती अब पूरी तरह संवेदनहीन हो चुकी है। वह शायर और बूढ़े व्यक्ति से कहती है –

गोमती : "हर तरफ रात है अंधेरा है
सिर्फ़ मेरा चिराग़ जलता है?
चाप सुनते हो इन दरिन्दों की
मैं भी मेहमान हूँ चंद लम्हों की।"[27]

अंग्रेजी अफ़सर गोमती को कैद करना चाहते हैं। गोमती यहाँ भारत माता का प्रतीक है। भारत माता की देशभक्ति को अंग्रेजी हुकूमत नष्ट करना चाहते थे। अंग्रेजी अफसर और उसके सिपाही सभी जगह उसको ढूँढते हैं। अंत में पकड़ कर गोमती की हत्या कर दी जाती है। भारत माता को विनष्ट कर दिया जाता है। जिस देश भक्ति से सभी भारतवासी ओज से भर जाते थे। उनका आत्मसम्मान जाग उठता था। अब वह ललकार शांत हो गई है।

अफसर : "चलो यह काम भी तमाम हुआ
अब से हिन्दोस्तां गुलाम हुआ।"[28]

सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजों ने फिर से अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया है। प्रथम स्वाधीनता संग्राम ने अंग्रेजों को यह एहसास करवा दिया की भारतीय हिन्दू–मुस्लिम और

सिख मिलकर एक ऐसी महाशक्ति बन सकते हैं जो ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिला देगी। इस कारण अंग्रेजों ने भारतीय को जाति और धर्म के नाम पर तोड़ना शुरू कर दिया। इसका परिणाम 1947 का भारत विभाजन रहा। अंत में राही मासूम रज़ा ने सभी देशवासियों से अपील की है कि यह गंगा–जमुनी संस्कृति हमारी धरोहर है। इसे चंद गद्दारों की चुगलियों से टूटने मत देना।

"मेरी आवाज़ पे आवाज़ दे ऐ आरज़े वतन।
वादिए गंगो–जमन ! मेरे ख्यालों के चमन
देख वह सुबह हुई, फूट रही है वह किरन
सुन मेरे पैरों की चांप और मेरे दिल की धड़कन
जाग ! दीवानों के दामन की हवा लाया हूँ
तोहफए खून शहीदाने वफ़ा लाया हूँ।"[29]

राही मासूम रज़ा ने उर्दू में महाकाव्य लिखकर एक नई परिपाटी का प्रतिनिधित्व किया है। इस महाकाव्य में भावों का संचयन अद्‌भुत है। कहीं–कहीं लय टूट जाती हैं अर्थात् रागात्मकता का अभाव है। इसका मूल कारण लिप्यन्तरण हैं, क्योंकि इसका उर्दू भाषा से हिन्दी भाषा में अनुवाद किया गया है। इसी कारण इसमें उर्दू शब्दों की बहुलता हैं। लिप्यन्तरण के बावजूद इसके भावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ओजस्वी शब्दों के साथ–साथ देशभक्ति की भावना का समन्वय है। राष्ट्रीय चेतना का स्वर प्रबल रूप से दिखाई देता हैं। 'क्रांति कथा–1857' अपने ही तरह का अनूठा प्रयोग है। जो साहित्य प्रेमियों को नवीन अनुभूतियों से रू–ब–रू करवाता है।

4.3 1857 की ऐतिहासिक जनक्रांति :–

किसी भी ऐतिहासिक घटना का होना मानव समाज में विद्रोह का इशारा करता है। कोई भी घटना अचानक घटित नहीं होती है। उन परिस्थितियों का जन्म मानव मन में बहुत पहले ही हो चुका होता है। वह असंतोष धीरे–धीरे विद्रोह का रूप ले लेता है। 1857 का गदर भी इसी असंतोष और विद्रोह का विकराल रूप है। इस असंतोष का जन्म 25 फरवरी, 1857 को उस समय हुआ जब बंगाल के बैरकपुर छावनी में भारतीय सिपाहियों ने चिकनाईयुक्त कारतूस उपयोग में लाने से मना कर दिया। इन कारतूसों के उपयोग से हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के सिपाहियों की धार्मिक भावनाएँ आहात थी। सैनिकों को जबरदस्ती इन कारतूसों के उपयोग के लिए पाबंद किया जा रहा था। 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर छावनी (पं.बंगाल) के सिपाही मंगल पाण्डे ने अपने अधिकारी लेफ्टिनेंट बांग व

सार्जेंट मेजर ह्यूसन की गोली मार कर हत्या कर दी। जिससे यह विद्रोह और भड़क गया। अंग्रेज अधिकारियों की हत्या से ब्रिटिश शासन हक्का–बक्का रह गया। अंग्रेजी अफसरों द्वारा आनन फानन में 8 अप्रैल, 1857 को मंगल पाण्डे को फाँसी दे दी। इस घटना से भारतीय जनता बहुत स्तब्ध थी। धीरे–धीरे पूरे भारत में अंग्रेजी शासन के प्रति असंतोष जाग्रत होने लगा।

चूँकि इस विद्रोह का एकमात्र कारण चरबी युक्त कारतूस नहीं था, परन्तु यह प्रमुख था। इसके अतिरिक्त लार्ड केनिंग की घोषणा कि बहादुर शाह ज़फर की मृत्यु के बाद भारत में बादशाह का पद समाप्त कर दिया जाएगा। सती प्रथा, कन्या बध, बाल विवाह, पशुबलि व नरबलि आदि पर प्रतिबंध लगा दिए गए। विधवा पुनर्विवाह को स्वीकृति दे दी गई। ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार–प्रसार व हिन्दू–मुस्लिम का धर्मान्तरण करवाया जाना भी एक कारण था। अंग्रेजों द्वारा लघु व कुटीर उद्योग को समाप्त कर दिया गया। वह कच्चा माल भारत से ले जाकर भारत में ही उसी वस्तु को उच्च मूल्य में बेचते थे। किसानों पर कई प्रकार के कर लगा दिए गए थे। स्थायी बंदोवस्त, महलवाड़ी व्यवस्था, रैय्यतवाड़ी व्यवस्था लागू कर दी गई थी। भारतीय सैनिकों को उच्च पद नहीं दिए जाते थे। दत्तक प्रथा समाप्त कर दी गई थी। इस कारण इस संग्राम ने जल्द ही जनता का समर्थन प्राप्त कर लिया।

अंग्रेजों द्वारा भारत में बादशाह का पद समाप्त किया गया तो सभी के मन में असंतोष जाग्रत हुआ, क्योंकि भारत में प्रमुख रूप से दिल्ली में बादशाह के आदेशों की पालना की जाती थी। बहादुरशाह जफ़र एक अच्छा शासक था। दिल्ली के क्रांतिकारियों ने पुलिस अधिक़ारी निकलसन की हत्या कर दी और दिल्ली पर क्रांतिकारियों की जीत की घोषणा कर दी, परन्तु जनरल हडसन ने बहादुर शाह को पकड़ कर उसके परिवार को समूल से नष्ट कर दिया और बहादुर शाह जफ़र और उनकी बेगम जीनत महल को रंगून (बर्मा/म्यांमार) निर्वासित कर दिया गया। 1861 में बहादुर शाह जफ़र की मृत्यु हो गई, उनका मकबरा वही स्थित है।

कानपुर में नाना साहब की पेंशन बंद कर दी गई। यह बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र थे। नाना साहब ने स्वयं को बहादुर शाह जफ़र का गर्वनर बनाया था। अंग्रेज अधिकारी कैम्प बेल और हेवलॉक ने कानपुर में अंग्रेजी सेना का नेतृत्व किया था। नाना साहब पराजित होकर राजस्थान में कोठारियाँ (राजसमंद) के जोध सिंह के यहाँ चले गए थे तथा बाद में नेपाल चले गए।

ग्वालियर में क्रांति के नेतृत्वकर्ता तात्या टोपे (वास्तविक नाम रामचंद्र पाण्डुरंग) थे। तात्या टोपे, नाना साहेब के सेनापति और रानी लक्ष्मी बाई के गुरू थे। इस क्रांति में तात्या टोपे भी सफल नहीं हो पाए। ग्वालियर में क्रांतिकारियों को खदेड़ने का काम जनरल ह्यूरोज कर रहे थे। तात्या टोपे ग्वालियर से भाग कर राजस्थान भी आए और लगभग सभी राजघरानों को जीता, केवल जैसलमेर को नहीं जीता पाए। 18 अप्रैल, 1859 को तात्या टोपे को शिवपुरी (मध्य प्रदेश) में फाँसी दे दी गई।

लखनऊ में क्रांति का नेतृत्व बेग़म हजरत महल द्वारा किया गया। बेग़म हजरत महल ने अपने पुत्र बिरजिस कादिर को लखनऊ का नबाव घोषित किया था। लखनऊ में अंग्रेज अधिकारी हेनरी लॉरेन्स की हत्या कर दी गई थी। केम्पबेल ने अवध पर पुनः अधिकार किया। इस संघर्ष में हार कर बेग़म हजरत महल भी नेपाल चली गई थी।

झाँसी में क्रांति का नेतृत्व रानी लक्ष्मीबाई कर रही थी। लक्ष्मीबाई, गंगाधर राव की पत्नी थी। लक्ष्मीबाई ने गंगाधर राव की मृत्यु के बाद दामोदर राव को दत्तक पुत्र बनाया। झाँसी में सैनिक विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेज अधिकारी जनरल ह्यूरोज की नियुक्ति की गई थी। झाँसी में संघर्ष काफी लम्बा चला, अंत में स्वयं के लोगों द्वारा किए गए विश्वासघात के कारण लक्ष्मीबाई हार गई।

बिहार में क्रांति का नेतृत्व कुंवर सिंह द्वारा किया जा रहा था। कुंवर सिंह को बिहार का शेर कहा जाता है। लड़ाई के दौरान इनके हाथ में गोली लगने से, इन्होंने स्वयं का हाथ काट लिया था।

फैजाबाद (उत्तर प्रदेश) में क्रांति के नेतृत्वकर्ता मौलवी अहमदुल्लाह थे। इलाहबाद में नेतृत्वकर्ता लियाकत अली थे। बरेली में नेतृत्वकर्ता खान बहादुर थे। असम में नेतृत्वकर्ता मनीराम थे। गोवा राज्य के नेतृत्वकर्ता दीपू जी रांगा थे। इस तरह से क्रांति की लहर लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल गई थी। सभी अपने स्तर पर अंग्रेजी शासन का विरोध कर रहे थे।

इस क्रांति में राजस्थान के सैनिकों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। एरिनपुरा छावनी (पाली) के सिपाहियों ने "चलो दिल्ली, मारो फिरंगी" का नारा दिया था। नसीराबाद छावनी, नीमच छावनी और ऐरिनपुरा छावनी विद्रोह के प्रमुख केन्द्र रहे थे। यह सभी स्थान क्रांति के प्रमुख केन्द्र थे।

इस क्रांति को लेकर इतिहासकारों ने भ्रम फैलाया कि यह क्रांति सैनिक विद्रोह था। इसकी असफलता का कारण समन्वय की कमी थी। परन्तु वह मूल बात नहीं बता पाए

कि इसका प्रभाव हिन्दी भाषी राज्यों पर ही क्यों था? इस तथ्य पर रामविलास शर्मा ने प्रकाश डाला है, ''कुछ लोग समझते हैं कि भारत में आकर अंग्रेज यहाँ का पुराना सामाजिक ढाँचा तोड़ रहे थे और इस तरह नये विकास के लिए रास्ता साफ कर रहे थे। उनकी इस नीति से उन वर्गों में असंतोष फैला जो पुरानी व्यवस्था से चिपके रहना चाहते थे। यह लोग यह नहीं बतलाते कि यह असंतोष हिन्दी प्रदेश में ही क्यों फूटा? बंगाल में अंग्रेजी राज्य का विस्तार पहले हुआ था। वहाँ अंग्रेजों ने पक्का ज़मींदारी बस्तोबस्त किया था। ये सब ज़मींदार अंग्रेजों के समर्थक बने रहे। हिन्दी प्रदेश की अपेक्षा तमिलनाडु और महाराष्ट्र में अंग्रेजी राज्य पहले कायम हुआ। बम्बई और मद्रास अंग्रेजों के मुख्य अड्डे थे, दिल्ली और लखनऊ नहीं। दरअसल अवध प्रदेश अंग्रेजी राज्य में सबसे बाद में मिलाया गया और अवध अंग्रेजों के विरूद्ध लड़ाई का प्रमुख केन्द्र रहा। अंग्रेजों ने हैदराबाद के निजाम, कश्मीर के राजा गुलाब सिंह और नेपाल के राणा जंग बहादुर तथा अन्य सामंतों की मदद से भारतीय जनता के प्रतिरोध का दमन किया। यह सामन्त तो प्रगतिशील थे, किन्तु जिन सामन्तों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया, वे सब प्रक्रियावादी थे। यह तथ्य आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश फौज के हिन्दुस्तानी सिपाही और हिन्दी प्रदेश के किसान अंग्रेजों के विरूद्ध अपनी स्वाधीनता के लिए लड़े और अंग्रेजों ने इस देश के सबसे प्रक्रियावादी सामन्तों के साथ मिलकर इस संघर्ष में विजय पाई। यह न भूलना चाहिए कि भारत में अभी भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज था और यह कम्पनी व्यापारियों की थी, उद्योगपतियों की नहीं। इसके अलावा स्वयं ब्रिटेन में राज्यसत्ता पर भूस्वामी वर्ग का अधिकार था, उद्योगपतियों का नहीं।''[30] अतः यह सैनिक विद्रोह नहीं अपितु हिन्दी प्रांतीय लोगों की लड़ाई थी। 1857 की क्रांति की इतिश्री 1947 के स्वतंत्रता संग्राम में हुई।

4.4 1857 की क्रांति में आम जनता की भागीदारी :–

1857 की क्रांति भारतीय जनता के लम्बे असंतोष का परिणाम थी। 1857 की क्रांति असमाप्त क्रांति थी, जिसकी परिणीति सन् 1947 में पूर्ण हुई। अंग्रेजी इतिहासकारों द्वारा 1857 की क्रांति के लिए एक धुंध फैलाया गया कि यह एक सिपाही विद्रोह था, परन्तु वास्तव में यह एक जातीय प्रतिरोध था। यह हिन्दी पट्टी की लड़ाई थी, जिसमें सभी ने एक होकर अंग्रेजों का विरोध किया। लगभग दो वर्षों तक जनता और शासन के मध्य संघर्ष चलता रहा। इस क्रांति में हिन्दू–मुस्लिम और सिख एकता का अद्भुत संयोग देखने को मिलता है। एकता की भावना भारतीय जनता में कूट–कूट कर भरी हुई थी।

राजस्थान में जब विभिन्न छावनियों में विद्रोह प्रारम्भ हुआ तो इसमें कृषक और मजदूरों की भूमिका मुख्य थी, क्योंकि अंग्रेजो द्वारा कृषि पर विभिन्न प्रकार के लगान लगा दिए गए थे। इसलिए किसानों में रोष अधिक था। पाली के अउवा में भी ठाकुर कुशाल सिंह चम्पावत के नेतृत्व में किसानों ने मोर्चा संभाल रखा था। इस छावनी का नारा "चलो दिल्ली, मारो फिरंगी" बहुत चर्चित हुआ था। कोटा रियासत में भी विद्रोह का नेतृत्व लाला जयदयाल व मेहराब खाँ ने किया। जब यह दोनों पकड़े गए, तो कोटा के मथुराधीश मंदिर के महंत ने कोटा महाराव और इनके मध्य यह समझौता करवाया, कि विद्रोह कोटा महाराव की देख–रेख में हुआ। इस तरह के कई उदाहरण हैं जहाँ सामान्य जनता क्रांति का नेतृत्व और रखवाली दोनों कर रही थी। बूंदी के महाराजा रामसिंह द्वितीय ने तो क्रांतिकारियों का अप्रत्यक्ष रूप से साथ भी दिया था।

1857 का संग्राम हिन्दु–मस्लिम एकता का पर्याय बन गया था। बहादुरशाह जफ़र का आदेश सभी एक होकर मानते थे। इसके अतिरिक्त इस क्रांति की सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि हिन्दुस्तानी आवाम को संगठन की शक्ति का एहसास हुआ। वे जान गए कि ब्रिटिश शासन के खिलाफ एकजुट होकर ही आवाज उठाई जा सकती हैं और ब्रिटिश शासन समझ लिया कि हिन्दुस्तान को जाति के आधार पर तोड़कर ही इसकी शक्ति को नष्ट किया जा सकता है।

1857 के इस राष्ट्रव्यापी मुक्ति संग्राम में महिलाओं की भूमिका भी प्रमुख रही। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने तो अंग्रेजी सेना को धूल चटा ही दी थी। इसके साथ ही उनकी सहयोगी मोतीबाई भी थी, जिन्होंने लक्ष्मीबाई का कंधे से कंधा मिलाकर साथ दिया था। साधारण महिलाओं का योगदान भी कुछ कम नहीं था। घरेलु होने के कारण उनके बाहुबल में अद्वितिय क्षमता थी और विद्रोह की आग उनके हृदय से भी निकल रही थी। उत्तर प्रदेश के मुज़फरनगर जिले में भी 50 से अधिक महिलाओं ने बलिदान दिया। मध्य प्रदेश की भील समाज की महिलाओं ने भी उत्कृष्ट प्रदर्शन किया। ऐसे कई अनगिनत नाम हैं जो इतिहास में दर्ज नहीं हैं परन्तु उनका योगदान अतुल्य है।

मिर्ज़ा ग़ालिब ऐसे शायर है जो क्रांति के समय जीवित थे और इन्होंने अपनी शायरी ने लोगों में देशभक्ति की भावना को प्रेरित किया। यह बदाहादुर शाह ज़फर के सरकारी लेखक भी थे। इन्हें बहादुर शाह ज़फर ने वंशावली लिखने का कार्य सौपा था। ग़ालिब उस समय की संस्कृति, सभ्यता और परम्परा के प्रति निधि कवि थे। इनका योगदान अविश्वसनीय है।

विनायक दामोदर सावरकर ने 1857 की क्रांति को भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा। '1857 का स्वातन्त्र्य समर' पुस्तक को अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रतिबंधित भी किया गया, क्योंकि पुस्तक क्रांति के पश्चात् अंग्रेजों द्वारा फैलाये गये भ्रम का तथ्यों के साथ खंडन करती है। सन् 1907 में इंग्लैण्ड में पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा स्थापित 'इण्डिया हाउस' में 1857 की क्रांति की 50वीं वर्षगांठ मनायी जा रही थी, तब विनायक दामोदर सावरकर अपने अंतस में इस क्रांति के यथार्थ की खोज कर रहे थे। वे इस क्रांति से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने इसके यथार्थ को लेकर कई शोध किए। इस पुस्तक को सावरकर ने मराठी भाषा में लिखा। यह पुस्तक अंग्रेज सरकार द्वारा प्रतिबंधित की गई, क्योंकि इसमें अंग्रेजों की सारी कालगुजारियाँ थी। इस क्रांति को लेकर भ्रम फैलाया था कि 1857 एक सिपाही विद्रोह था। सावरकर ने तथ्यों के साथ अंग्रेज इतिहासकारों का खंडन किया। इस पुस्तक से अंग्रेज हुकूमत इस कदर डरी हुई थी कि उन्होंने एड़ी–चोटी का जोर लगा दिया, इस पुस्तक को खोजने के लिए। परन्तु अंग्रेज अपनी योजना में सफल नहीं हो पाए। इस पुस्तक को प्रतिबंधित करने का एक मूल कारण यह भी था कि उस समय के क्रांतिकारियों के लिए यह प्रेरणा स्त्रोत थी। इस पुस्तक का मराठी से अंग्रेजी में अनुवाद सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी वी.वी.एस. अय्यर के मार्गदर्शन में इंग्लैण्ड में हुआ। इसके पश्चात् इस पुस्तक को स्मग्ल करके भारत लाया गया। अंग्रेजी से इसका हिन्दी में अनुवाद भगत सिंह ने किया। वीर सावरकर ने यह पुस्तक उन वीर योद्धाओं को समर्पित की है, जिनके कारण अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी।

''ओ हुतात्माओं।
स्वतंत्रता संग्राम आरम्भ हो एक बार,
पिता से पुत्र को पहुँचे बार–बार
भले हो पराजय यदा–कदा
पर मिले विजय हर बार।''[31]

रामविलास शर्मा ने इस संग्राम को हिन्दी का जातीय संग्राम कहा है। उन्होंने कहा, ''अवध, रुहेलखण्ड और भोजपुरी क्षेत्रों के हजारों किसान जीविका की तलाश में बंगाल जाकर अंग्रेजी फौज में भरती हो गए थे। इस फौज के सहारे अंग्रेजों ने पलासी के युद्ध के बाद क्रमशः अपना राज्य विस्तार किया, जिनके सहारे वे राज्य विस्तार कर रहे थे, उन सिपाहियों के प्रति उनका व्यवहार बहुत ही अन्यायपूर्ण था। अनेक स्थलों में और अनेक बार फौज के सिपाहियों ने अपनी माँगों के लिए संघर्ष किया। यह संघर्ष अधिकतर अहिंसात्मक था और सत्याग्रह का आदिरूप था। कम से कम अंग्रेजों के विरूद्ध सत्याग्रह के अस्त्र का

प्रयोग सबसे पहले फौज के सिपाहियों ने किया था। अपने अनुभव से उन्होंने बहुत–सी बातें सीखीं और क्रमशः उनकी राजनीतिक चेतना प्रखर होती गयी। पलासी के युद्ध के बाद एक शताब्दी बीतने पर उन्होंने अंग्रेजों को इस देश से निकाल लेने के लिए युद्ध छेड़ दिया। यह युद्ध संगठित रूप में हिन्दी प्रदेश की सीमाओं के भीतर हुआ। इस युद्ध के सूत्रधारों ने प्रयत्न किया कि बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सियों की फौजें भी विद्रोह करें और युद्ध में उनका साथ दें। पर इन फौजों ने विद्रोह नहीं किया।''[32] ''जैसे संस्कृत साहित्य सब नहीं तो अधिकांश, हमारा राष्ट्रीय साहित्य है, और हिन्दी प्रदेश की जातीय विरासत, जैसे हिन्दी राष्ट्र भाषा है और हिन्दी जनता की जातीय भाषा है, वैसे 1857 का गदर भारत का राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम है और हिन्दी प्रदेश की जनता का स्वाधीनता संग्राम भी।''[33]

अमृतलाल नागर ने विष्णु भट्ट गोडशे वरसईकर कृत मराठी पुस्तक 'माझा प्रवास' का हिन्दी अनुवाद किया। पुस्तक में विष्णु भट्ट गोडसे के प्रवास के दौरान की गयी यात्रा का वर्णन है। जब विष्णु भट्ट गोडसे यात्रा कर रहे थे, तब 1857 की क्रांति प्रारम्भ हुई। उन्होंने महाराष्ट्र में क्रांति के प्रभाव और परिणाम को लिपिबद्ध किया है। अमृतलाल नागर इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं, ''हमारे देश का इतिहास विदेश के विद्वानों ने रचा है। देसी आलिम फाज़िलों ने भी ज्यादातर उन्हीं की नकल करते हुए पोथियाँ लिखी हैं। गदर के इतिहास का भी वही हाल है।''[34] ''भारतीय जनता दिल से चाहती थी कि अंग्रेज इस देश से निकाल दिए जाएँ। उस समय के राजे, नवाब स्वतंत्रता की भावना को यदि अपने तक ही सीमित न रखते, सैनिक क्रांति को यदि जन क्रांति का रूप मिला होता तो आज इस देश का इतिहास कुछ और ही बना होता। मगर वह जमाना दूसरा था और हम उस समय की परिस्थितियों और सामाजिक चेतना को महज आज के हिसाब से ही आंकेंगे तो वह एकांगी दृष्टिकोण होगा। फिर मेरा मन उन लोगों से मेल नहीं खाता जो 57 के गदर को भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध कहकर उस पुराने किस्म की राजसी लड़ाई को आज के जन स्वातंत्र्य की चेतना पर लादना चाहते हैं।''[35]

निष्कर्ष :–

1857 का संग्राम भारतीय इतिहास में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण पड़ाव है। 1857 की असमाप्त क्रांति में ही आजादी के बीज छुपे हुए थे। अंग्रेज इतिहासकारों ने हमारी दृष्टि का अपहरण किया और 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को सिपाही विद्रोह की संज्ञा दी। इस लड़ाई में हम तकनीक में पीछे थे, न कि विचारों में। यह मध्य भारत की लड़ाई थी। बंगाल, मद्रास, बम्बई प्रेसीडेन्सी पहले से ही

अंग्रेजों के अधीन थी। जब अंग्रेजों ने लखनऊ, झाँसी, महाराष्ट्र आदि क्षेत्रों को अपने अधीन लिया, तब यहाँ विद्रोह शुरू हुआ। राही मासूम रज़ा ने 'क्रांति कथा 1857' में अवध और झाँसी का जो वर्णन किया है, वह मार्मिक है। उन्होंने उस तथ्य का उद्‌घाटन किया जो हमारी आँखों से ओझल हो गया था। इससे सिद्ध होता है कि राही मासूम रज़ा राष्ट्रीय चेतना के कवि थे। वे किसी संदेह में नहीं रहे। अतः 'क्रांति कथा 1857' राही मासूम रज़ा की एक उदात्त प्रस्तुति है, जिसका मोजूं इंसान है।

संदर्भ सूची

(1) पी.सी. जोशी, इंकलाब 1857, पृष्ठ सं.–28

(2) राही मासूम रज़ा, क्रांति कथा–1857, पृष्ठ सं.–10

(3) वही, पृष्ठ सं.–16

(4) वही, पृष्ठ सं.–21

(5) वही, पृष्ठ सं.–24

(6) वही, पृष्ठ सं.–26

(7) वही, पृष्ठ सं.–26

(8) वही, पृष्ठ सं.–36

(9) वही, पृष्ठ सं.–43

(10) वही, पृष्ठ सं.–43

(11) वही, पृष्ठ सं.–47

(12) वही, पृष्ठ सं.–49

(13) वही, पृष्ठ सं.–52

(14) वही, पृष्ठ सं.–62

(15) वही, पृष्ठ सं.–102

(16) वही, पृष्ठ सं.–108

(17) वही, पृष्ठ सं.–176

(18) वही, पृष्ठ सं.–199

(19) वही, पृष्ठ सं.–197

(20) वही, पृष्ठ सं.–203

(21) वही, पृष्ठ सं.–203

(22) वही, पृष्ठ सं.–131

(23) वही, पृष्ठ सं.–207

(24) वही, पृष्ठ सं.–208

(25) वही, पृष्ठ सं.–208

(26) वही, पृष्ठ सं.–211

(27) वही, पृष्ठ सं.–214

(28) वही, पृष्ठ सं.–222

(29) वही, पृष्ठ सं.–227

(30) रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृष्ठ संख्या–23

(31) विनायक दामोदर सावरकर, 1857 का स्वातन्त्र्य समर, पृष्ठ सं–

(32) रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृष्ठ संख्या–23

(33) वही, पृष्ठ सं.–24

(34) अमृतलाल नागर, आँखों देखा गदर, पृष्ठ सं.–6

(35) वही, पृष्ठ सं.–7

पंचम अध्याय

दृश्य माध्यमों के प्रयोगधर्मी पुरूष–राही मासूम रज़ा

5.1 'मैं समय हूँ' – गंगौली का राही मासूम रज़ा

5.2 महाभारत–संवाद लेखन एक चुनौती

5.3 सिने–कर्म सेमिक्रिएटिव कार्य – राही मासूम रज़ा की दृष्टि में

5.4 सिनेमा और संस्कृति–समन्वय की चुनौती

5.5 राही मासूम रज़ा का हिन्दी सिनेमा को योगदान

5.1 'मैं समय हूँ' – गंगौली का राही मासूम रज़ा :–

राही मासूम रज़ा एक बहुत अच्छे कथाकार थे। उनकी किस्सागोई की शैली बहुत आकर्षक थी। वे गल्प का ताना–बाना इस प्रकार बुनते थे कि वह पाठक को अंत तक बांधे रखता था। अपने जीवन के शुरूआती दिनों में राही मासूम रज़ा ने कई जासूसी उपन्यास लिखे। उन्होंने यह उपन्यास छद्म नाम से लिखे। वे इन उपन्यासों को बहुत कम समय में पूर्ण कर लेते थे। शायरी का फन तो उन्हें बचपन में ही आ गया था। ईद हो या मुहर्रम जब भी कोई मौका मिलता राही मासूम रज़ा अपनी कला का प्रदर्शन करना नहीं भूलते। राही मासूम रज़ा को गंगौली ने जवान किया और अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने उस नौजवान के हुनर को पहचान दी। राही मासूम रज़ा जब तक अलीगढ़ रहे उनकी प्रतिभा में नित नवीन परिमार्जन होता गया। उर्दू विभाग से राही मासूम रज़ा ने डॉक्टर की उपाधि भी प्राप्त की और विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में सहायक प्राध्यापक की अस्थायी नौकरी भी पा ली। विश्वविद्यालय के दिनों में भी राही मासूम रज़ा की प्रसिद्धि कुछ कम नहीं थी। वे एक प्रतिष्ठित शायर थे। कई छद्म नामों से पत्र–पत्रिकाओं में लिखते भी थे। उन्होंने 'आधा गाँव' भी अलीगढ़ में रह कर ही लिखा था। गज़ब की शाख़्यित थे राही मासूम रज़ा। उनका वह अंदाज, शेरवानी पहने, पैरों में हलकी सी लचक और हमेशा लोगों के झुंड से घिरे रहते थे। राही मासूम रज़ा ने शायरी की विधिवत शुरूआत 1945 में की थी। सन् 1966 तक उनके सात काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके थे।

1967 में राही मासूम रज़ा बम्बई आ गए। उनके जीवन की यात्रा का यह दूसरा महत्वपूर्ण पड़ाव था। शुरूआती दिनों में उन्होंने बहुत संघर्ष किए। संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि उनके लेखन और व्यक्तित्व में निखार आता गया। राही मासूम रज़ा सिने संसार में प्रतिष्ठित संवाद लेखक बन कर उभरे। उन्होंने 300 से अधिक हिन्दी फिल्मों के संवाद लिखे। एक नवीन भाषा शैली का उन्होंने सृजन किया। हिन्दी सिनेमा में अपनी पहचान बनाने के बाद दक्षिण भारत के सिनेमा में भी अपना योगदान दिया। उस समय राही मासूम रज़ा ही एक ऐसे लेखक थे जो दक्षिण भारत में भी संवाद लेखन का कार्य कर रहे थे।

राही मासूम रज़ा आजीवन एक प्राध्यापक बने रहना चाहते थे। उन्हें पढ़ने–लिखने का व्यसन था। बम्बई में भी वह कई फिल्मों के संवादों का लेखन एक–साथ करते थे। एक फिल्म का दृश्य लिखने के बाद वह दूसरी फिल्म का दृश्य लिखने लग जाते थे। राही मासूम रज़ा का दृष्टिकोण बहुत ही व्यावहारिक था। उन्होंने यह बात पहले ही समझ ली थी कि साहित्य लेखन और संवाद लेखन दो अलग–अलग विधा हैं। दोनों का दायरा अलग

हैं, परन्तु दोनों ही सृजनात्मक विधा हैं। संवाद लेखन में, लेखक को दर्शकों की अनुभूतियों, अपेक्षाओं, भावनाओं का ध्यान रखना पड़ता है। उसमें संगीत की भी अहम भूमिका होती है। जब कोई दुःखद दृश्य का फिल्माकंन किया जाता है तो संगीत की कुछ ध्वनियाँ भी उस विषय–वस्तु, देश–काल सभी संवाद लेखक की परिधि में आते हैं। उन्हें यह सब ध्यान में रखकर बहुत कम शब्दों में अपनी भावना को व्यक्त करना होता है। वहीं साहित्य लेखन में वातावरण का निर्माण स्वयं लेखक करता हैं। इस पूरी विधा में साहित्यकार अपनी समझ से हर विषय–वस्तु पर लिख सकता है। उसे किसी संगीत, कैमरा या निर्देशक की आवश्यकता नहीं होती। उसे स्वयं अधिकार होता है कि वह अपने अनुरूप रचना की दिशा निर्धारित कर सके।

जब हम राही मासूम रज़ा को एक संवाद लेखक के रूप में देखते हैं तो उनका व्यक्तित्व बहुत संजीदा–सा लगता हैं। वहीं जब हम उन्हें गंगौली के राही के रूप में देखते हैं, तो उनका व्यक्तित्व बहुत उम्दा और शायराना लगता हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। राही मासूम रज़ा बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने उपन्यास, कहानी, महाकाव्य, कविता, शायरी, नज़्म सभी विधाओं में रचनाएँ कीं। उनका रचनाकर्म सीमाबद्ध नहीं था। बम्बई जाने के बाद शुरूआत के वर्षों में उन्होंने काफी संघर्ष किया। एक दौर ऐसा आया जब सभी निर्माता–निर्देशक राही मासूम रज़ा से संवाद लिखवाने लगे। राही मासूम रज़ा एक मात्र ऐसे हिन्दी लेखक हैं जो संवाद लेखक के रूप में सफल हुए।

5.2 महाभारत–संवाद लेखन एक चुनौती :–

भारत विश्वगुरू है। भारत की सभ्यता और संस्कृति चिरकाल से उन गुणों का संवहन किए हुए हैं, जब मनुष्य मनु और श्रद्धा के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुए। आर्यावर्त का इतिहास कुछ पन्नों का नहीं है। यह तो आदिकाल के पहले से सभ्यताओं का मार्गदर्शन करता आ रहा है। प्राचीन ग्रंथ, शास्त्र, वेद इसके प्रमाण हैं। इस सनातन संस्कृति ने मानव को विपरीत परिस्थितियों में मार्गदर्शन दिया है। मानव को भान करवाया की जीवन क्या है? संसार क्या है? संबंध क्या है? और उन संबंधों की आधारशिला क्या हैं?

'महाभारत' भारतीय संस्कृति का एक प्रामाणित दस्तावेज है। इस ग्रंथ की एक–एक पंक्तियाँ मानव जीवन की पाठशाला है। इसमें भारतीय संस्कृति के मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या की गई हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ मानव जीवन में भी नित–नवीन परिवर्तन होते गए। पहले नाटक, लीला, रास के माध्यम से रामायण महाभारत जैसे ग्रंथों को साक्षात् रूप दिया जाता था। समय के साथ दृश्य माध्यमों की बाढ़–सी आ गई। पहले रेडिओ फिर

टेलीविजन ने दर्शकों को घर बैठे धारावाहिक देखने की स्वत्रंतता प्रदान की। दूरदर्शन पर रामानंद सागर की 'रामायण' प्रसारित की गई। भारतीय जनमानस से जुड़ा यह ग्रंथ हमारे जीवन की आधारशिला है। 90 के दशक में प्रसारित यह धारावाहिक बहुत सफल रहा। इसके पश्चात बी.आर. चोपड़ा ने 'महाभारत' को दूरदर्शन पर प्रकाशित करने की योजना बनाई। चूंकि महाभारत की भाषा लौकिक संस्कृत थी। इसलिए यह एक चुनौती थी कि इसका संवाद लेखन हिन्दी में किस प्रकार होगा। ऐसा नहीं है कि पहले हिन्दी में इस पर नाटक नहीं खेले गए या बड़े–बूढ़ों ने इसे कहानी के रूप में नहीं सुनाया गया, परन्तु दूरदर्शन पर इसका प्रसारण करना एक चुनौती से कम नहीं था। उसके संवाद, गीत, परिकल्पना की रूपरेखा बनाना एक चुनौती थी। संवाद किसी भी विधा के प्राण होते हैं। इसीलिए भारतीय भाषा संस्कार का वहन करना ही था। इसके लिए उपयुक्त पात्र राही मासूम रज़ा ही थे।

सर्वप्रथम जब बी.आर. चोपड़ा ने 'महाभारत' जैसे ग्रंथ को दूरदर्शन पर प्रसारित करने का मानस बनाया तो उनके सामने प्रथम चुनौती पटकथा लेखन और संवाद लेखन की थी। इसके लिए उन्होंने सबसे उपयुक्त लेखक डॉ. राही मासूम रज़ा को माना। जब बी.आर. चोपड़ा ने राही मासूम रज़ा को संवाद लेखन के लिए कहा तो सर्वप्रथम राही मासूम रज़ा ने साफ इंकार कर दिया। कुँवरपाल सिंह जी इस प्रसंग के बारे में कहते है कि, "प्रसिद्ध फिल्म निर्माता–निर्देशक बी.आर. चोपड़ा ने 'महाभारत' सीरियल बनाने की घोषणा की और कहा कि मैं इसके संवाद एवं पटकथा राही मासूम रज़ा से लिखवाऊँगा। राही उन दिनों बहुत व्यक्त थे, उन्होंने चोपड़ा सहाब से माफी माँगी, लेकिन एक महीने बाद राही को चोपड़ा साहब ने खतों का एक पैकेट भेजा, ये खत हिन्दुत्ववादी लोगों ने लिखे थे। इनमें लिखा था कि एक मुसलमान 'महाभारत' के संवाद क्या लिखेगा, उसे हमारे धर्म, संस्कृति, सभ्यता और इतिहास की क्या समझ है? आप हमारा अपमान करा रहे हैं। राही की यह कमजोर नस थी, चोपड़ा जी ने वही पकड़ ली राही ने तुरन्त घोषणा की कि 'महाभारत' मैं ही लिखूँगा और इन संकीर्ण लोगों को बताऊँगा कि इनसे ज्यादा भारतीय सभ्यता और संस्कृति जानता हूँ।"[1]

राही मासूम रज़ा ने बचपन में ही 'महाभारत' और 'रामायण' के उर्दू संस्करण पढ़े थे। वे स्वयं को भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता मानते थे। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया और 'महाभारत' की पटकथा और संवाद लेखन में जुट गए। उन्होंने इसके लिए अथक परिश्रम किया। कुँवरपाल सिंह जी कहते हैं, "राही ने आठ महीने 'महाभारत' लिखने के लिए परिश्रम किया। संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, फारसी और अंग्रेजी में 'महाभारत' पर जो भी

सामग्री थी, उसका अध्ययन किया और लगभग 8000 पृष्ठ के नोट्स तैयार किए। व्यास जी ने तो 'महाभारत' को विद्वानों तक पहुँचाया, राही ने महाभारत को देश के कोने–कोने तथा संसार के अनेक भागों में पहुँचाया।"[2]

'महाभारत' का संवाद लेखन एक चुनौती थी। जब राही मासूम रज़ा ने इस पर कार्य आरम्भ किया तो भीष्म उनकी चेतना में सबसे अधिक रहे। राही मासूम रज़ा गंगा को अपनी माँ मानते थे। उन्हें गंगा मइया से बहुत प्रेम था। इसलिए गंगा पुत्र भीष्म उनकी चेतना में सबसे अधिक रहे। उन्होंने करीब आठ महीने तक वेदव्यास की 'महाभारत' का अध्ययन किया। यह ग्रंथ मूलतः संस्कृत में रचित है। अब इसका अनुवाद संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में किया गया, जो किसी परीक्षा से कम नहीं था। राही मासूम रज़ा ने इस कार्य को बड़ी निपुणता से किया। उन्होंने इसके कई महत्वपूर्ण नोट्स तैयार किये। इसकी परिकल्पना का निर्माण करना कठिनाई भरा कार्य था। 'मैं समय हूँ' की अवधारणा भी राही मासूम रज़ा के मन–मस्तिष्क की कल्पना थी। जब महाभारत की कथा शुरू होती है तो सर्वप्रथम 'मैं समय हूँ' का स्वर ही गूँजता है।

भारतीय जनमानस पर राही मासूम रज़ा की पकड़ बहुत गहरी थी। उन्होंने उन पात्रों को जीवित किया जो हमें सत्य के पथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है, "महाभारत लिखते वक्त मेरे सामने एक परेशानी यह भी थी कि इस महाकाव्य के पात्र मेरे नहीं हैं। वेदव्यास के हैं। यदि यह मेरे पात्र रहे होते तो मैं इन्हें अच्छी तरह जानता होता। लेकिन यह पात्र तो मेरी चेतना के घर मेहमान आये हुए हैं और वेद व्यास ने पूरी तरह इनका परिचय नहीं करवाया है, क्योंकि अपने ही पात्रों से अपना परिचय करवाने की जरूरत ही नहीं थी।"[3]

'महाभारत' का प्रसारण दूरदर्शन पर 2 अक्टूम्बर, 1988 से 24 जून, 1990 तक किया गया। इसके कुल 94 एपिसोड थे। एपिसोड की कुल समय सीमा 60 मिनट थी। प्रत्येक रविवार को इसका प्रसारण किया जाता था। 'महाभारत' की प्रसिद्धि चहुँओर थी। फिर चाहे वह पश्चिमोत्तर भारत ही क्यों न हो। अहिन्दी भाषी राज्यों में भी 'महाभारत' को बड़े चाव से देखा जाता था। 'महाभारत' की कथा का मूल आधार वेदव्यास की 'महाभारत' है। जिसका संकलन डॉ. वी. एस. सुखठणकर व एस.के बेलवलकर (भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिटयूट, पूणे) ने किया था। इसका निर्देशन बी.आर. चोपड़ा ने किया था। इस धारावाहिक के प्रथम अध्याय की शुरूआत 'भगवत गीता' के इस श्लोक से होती है। गीता का यह श्लोक अध्याय–दो में लिखित है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।"[4]

उपर्युक्त पद में श्रीकृष्ण, अर्जुन को उपदेश देते है कि अर्जुन निष्क्रिय न हों, अपितु फल के प्रति आसक्त हुए बिना अपना कर्म करें। जो कर्म के फल के प्रति आसक्त रहेगा वह कर्म का कारण बनेगा अर्थात वह कर्मफलों का उपभोग करेगा। इसलिए तुम्हें (अर्जुन) को अपना कर्म करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलों के तुम अधिकारी नहीं हो। तुम न तो कभी अपने आपको अपने कर्मों के फलों का कारण मानो, न ही कर्म न करने में कभी आसक्त हो। अर्जुन युद्धविमुख हो गए थे, क्योंकि वह कर्म के फल अर्थात युद्ध के परिणाम से चिन्तित हो गए थे। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उन्हें यह उपदेश दिया।

इस उपदेश से 'महाभारत' का प्रारम्भ होता है। जिसमें मानव कल्याण के साथ–साथ विश्व कल्याण की भी भावना जुड़ी हुई हैं। इसके पश्चात् 'महाभारत' का शीर्षक गीत आता है। जिसको महेन्द्र कपूर ने स्वर दिया हैं। इस गीत को पं. नरेन्द्र शर्मा ने लिखा था।

"अथ श्री महाभारत कथा.....
महाभारत कथा.....महाभारत कथा.....
कथा है पुरूषार्थ की, यह स्वार्थ की परमार्थ की
सारथी जिसके बने, श्री कृष्ण भारत पार्थ की
शब्द दिग्घोषित हुआ, सत्य सार्थक सर्वथा।"[5]

इसके पश्चात् पार्श्व में शंख ध्वनि गूँजती है और फिर श्रीकृष्ण घोषणा करते है।

"यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे–युगे।"[6]

अर्थात् जब–जब पृथ्वी पर धर्म का पतन होगा और अधर्म की स्थापना होगी तब–तब मैं (कृष्ण) इस धरती पर अलग–अलग रूपों में प्रकट होता हूँ। भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों, नीच, पापी, अधर्मियों का विनाश करने और फिर इस धरती पर धर्म की स्थापना करने के लिए मैं (कृष्ण) अवतार लेता हूँ।

'महाभारत' के हर एपिसोड में यह उपदेशात्मक पंक्तियाँ जरूर आती थी। जब 'महाभारत' का प्रथम एपिसोड का प्रसारण किया गया तब 'मैं समय हूँ' अर्थात् स्वयं समय ने घोषणा प्रस्तुत है। इस घोषणा को स्वर प्रसिद्ध अभिनेता राजबब्बर ने दिया है।

"मैं समय हूँ और 'महाभारत' की अमर कथा सुनाने जा रहा हूँ। 'महाभारत' केवल भरतवंश की कोई सीधी–साधी युद्ध कथा नहीं है। यह कथा है भारतीय संस्कृति के उतार–चढ़ाव की। कथा है सत्य और असत्य के महायुद्ध की। यह कथा है अंधेरे से जूझने वाले उजाले की, और यह कथा मेरे सिवा कोई दूसरा सुना भी नहीं सकता, क्योंकि मैंने इस कथा को इतिहास की तरह गुजरते देखा है। इसका हर पात्र मेरा देखा हुआ है। इसकी हर घटना मेरे सामने घटी है। मैं ही दुर्योधन हूँ, मैं ही अर्जुन और मैं ही कुरूक्षेत्र, क्योंकि महाभारत बनते–बिगड़ते रिश्तों और रिश्तों के आधार और जीवन सागर को मथकर जीवन के तत्व और सत्य को अमृत काढ़ने की कहानी भी है और यह लड़ाई हर युग को अपने–अपने कुरूक्षेत्र में लड़नी पड़ेगी क्योंकि हर युग के सत्य को वर्तमान के असत्य से जूझना पड़ता है और जब तक मैं हूँ यह महायुद्ध चलता रहेगा, मेरा कोई अंत नहीं है। मैं अनंत हूँ। इसीलिए यह आवश्यक है कि हर वर्तमान इस कहानी को सुने और बुने ताकि वह भविष्य के लिए तैयार हो सके। यह लड़ाई लड़ना हर वर्तमान का कत्तर्व्य और हर भविष्य की तकदीर है। इसलिए मैं कभी गुरू, कभी माँ और और कभी ऋषि बनकर, हर नई पीढ़ी को, इस नई कहानी द्वारा, उसे अपने इस महायुद्ध के लिए तैयार करता रहता हूँ। यह कहानी वास्तव में उस दिन शुरू नहीं हुई, जिस दिन श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था या जिस दिन द्रोपद्री ने दुर्योधन का मजाक उड़ाया था। यह कहानी, इन घटनाओं से बहुत पहले, दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र, चक्रवर्ती महाराज भरत की विजय यात्रा से लौटने के बाद, हस्तिनापुर लौटने पर शुरू होती है।"[7]

'महाभारत' की पटकथा और संवाद डॉ. राही मासूम रज़ा ने लिखे थे परन्तु इसके गीत, कथावस्तु का निर्माण पं. नरेद्र शर्मा ने किया था। पं. नरेन्द्र शर्मा भारतीय संस्कृति के ज्ञाता थे। उन्होंने ही राही मासूम रज़ा को हर परिस्थिति में मार्ग दर्शन दिया। 'महाभारत' का प्रसिद्ध गीत भी पं. नरेन्द्र शर्मा ने ही लिखा था। राही मासूम रज़ा की रूपरेखा को अंतिम स्वीकृति पं. नरेन्द्र शर्मा द्वारा ही दी जाती थी। 'महाभारत' के हर एपिसोड में काव्यात्मक पंक्तियाँ होती थी जो कुछ–ना–कुछ संदेश देती थी। जैसे प्रथम एपिसोड में जब राजा भरत, शांतनु को राजकुमार नियुक्त करते हैं और शांतनु गंगा से विवाह करते हैं। गंगा को वचन देते हैं कि वह कभी भी, गंगा से उसके किसी कार्य के बारे में नहीं

पूछेंगे, ना कारण जानने की चेष्टा करेंगे। गंगा अपने 6 पुत्रों को पानी में विसर्जित कर देती हैं। शांतनु अपने दिए गए वचन पर पछताते हैं, तब उपदेशात्मक पंक्तियाँ आती हैं –

"वचन दिया सोचा नहीं, होगा क्या परिणाम।
सोच समझकर कीजिए, जीवन में हर काम।"[8]

इस प्रकार 'महाभारत' के हर एपिसोड में कुछ ज्ञान की बातें होती थीं। जो सामान्य व्यक्ति के लिए किसी उपदेश से कम नहीं। 'महाभारत' का समापन गीत, जिसे पं. नरेन्द्र शर्मा ने लिखा था। जो निम्न है–

"सीख हम देते युगों से, नये युग का करें स्वागत।
करें स्वागत..... करें स्वागत..... करें स्वागत.....
भारत की है कहानी सदियों से भी पुरानी
है ज्ञान की यह गंगा, ऋषियों की अमर वाणी
यह विश्वभारती है, वीरों की आरती है
यह नित नयी पुरानी, भारत की यह कहानी
महाभारत...महाभारत.....महाभारत"[9]

समय की गति अविरल है। जब ऐसे महाग्रंथ का मंचन किया जाना था तब राही मासूम रज़ा के सामने भाषा का एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। उन्होंने इसी पर सबसे अधिक कार्य किया। उन्होंने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग किया। उन्होंने उर्दू, अरबी, फारसी जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया। राही मासूम रज़ा यहाँ भाषा के जादूगर बन गए, उन्होंने अपने सृजनात्मक क्षमता का अद्वितीय परिचय दिया और यह स्वीकार भी किया कि इस संवाद शैली में उर्दू भाषा के उनके संस्कार बड़े कारगर सिद्ध हुए। उनके विचार कुछ इस प्रकार हैं, "इस भाषा को बनाने में मेरे उर्दू बैकग्राउण्ड का भी बड़ा हाथ है। उर्दू ने मुझे यह सिखलाया है कि जुमले में हर लफ़्ज की अपनी एक जगह होती है और अगर उस लफ़्ज को वहाँ से हटाया जाये तो लय टूट जायेगी और संगीत बिखर जायेगा। किसी और की जगह पर बैठ जाना यूँ भी बदतमीजी की बात है, तो उर्दू से ढाँचा लेकर मैंने इस पर संस्कृत शब्दों के परत लगाये और वह भाषा तैयार हो गयी, जो मेरी महाभारत के संवाद के लिए काम में आयी।"[10]

'भगवद् गीता' के उपदेश हमारे दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उन उपदेश को हम अपने व्यवहार में ला कर एक आदर्श मानव समाज की रचना कर सकते हैं। 'महाभारत' के पात्र हमारे ही दैनिक जीवन के पात्र हैं। आज भी हर घर में भीष्म,

दुर्योधन, अर्जुन मिल जाएँगे। 'महाभारत' हमारे जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। जो हमें कई प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा देती है। एक आदर्श परिवार की महत्ता हमें 'महाभारत' से सीखने को मिलती है। राही मासूम रज़ा कहते है, "मैंने महाभारत के हर पात्र में अपने आपको देखा है। अपने आपको पहचाना है। मैं आज अपने अन्दर झाँकता हूँ तो देखता हूँ कि मेरे अपने व्यक्तित्व की इमारत में भीष्म भी एक ईट है, दुर्योधन भी, कर्ण भी और धृतराष्ट्र भी.... यही तो महाभारत की बड़ाई है इसमें यदि कोई देखने का प्रत्यन्त करे तो उसे अपना, अपने परिवार और अपने समाज का चेहरा साफ दिखाई देगा।"[11]

'महाभारत' आज के समय में भी प्रासंगिक है। यह बात राही मासूम रज़ा ने उसी समय कह दी थी कि, "यही कारण है कि घरों में महाभारत न रखने के सामान्य जनविश्वास के बाद भी यह महाकाव्य जिन्दा रहा। यह हर युग के लिए रेलिवैंट हैं।"[12] पटकथा और संवाद लिखना एक दुष्कर काम है, बावजूद राही मासूम रज़ा ने अपनी रचनात्मकता का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने भारतीय जन मानस को वह दिया जिसका अनुकरण आने वाली भावी पीढ़ियाँ करती रहेगी।

इस धारावाहिक की महत्ता और प्रासंगिकता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता कि जब मार्च 2020 से पूरा विश्व कोरोना जैसी जानलेवा बीमारी से जूझ रहा है तब 22 मार्च, 2020 को पूरे भारत में लॉकडाउन अर्थात् भारतबंद का आह्वान किया गया, पूरा भारत अपने–अपने घरों में बंद था। इस विपत्ति के समय में दूरदर्शन पर पुराने धारावाहिक को वापस से दिखाया जाने लगा। इन सबमें सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध 'रामायण' और 'महाभारत' थे। 'महाभारत' का पुनः प्रसारण भारतीय दूरदर्शन के इतिहास में किसी उपलब्धि से कम नहीं है। इस संकटकाल में जब परिवारों में मूल्यों की कमी होने लगी। परिवार के सदस्य जब मोबाइल तक सीमित रह गए, तब महाभारत ने उन टूटे मूल्यों को वापस जोड़ने का प्रयास किया। इसके पुनः प्रसारण से एक बार फिर राही मासूम रज़ा के संवाद लेखन की प्रासंगिकता आज भी खरी उतरती है। वर्तमान में भी उन कथाओं को, उनकी शिक्षा को भावी पीढ़ी ग्रहण कर रही है। उनकी कालजयी लेखनी आज भी हमारे जीवन को सही दिशा प्रदान कर रही है।

5.3 सिने कर्म सेमिक्रिएटिव कार्य–राही मासूम रज़ा की दृष्टि में :–

राही मासूम रज़ा ने सिनेमा में संवाद लेखन को एक सेमिक्रिएटिव कार्य की संज्ञा दी है। उनके अनुसार संवाद लेखन एक रचनात्मक कार्य है। संवाद किसी भी फिल्म, उपन्यास, कहानी, नाटक की आत्मा होती है। संवादों के माध्यम से ही हम अपनी

मनोभावना दूसरे व्यक्ति तक पहुँचा सकते हैं, परन्तु संवाद लेखक को अपनी सीमाओं में रह कर संवाद लेखन करना पड़ता है। संवाद लेखक को अपनी सीमाओं से बाहर लेखन की स्वतंत्रता नहीं है। फिल्म की कहानी के अनुरूप ही संवादों की रचना की जाती है। राही मासूम रज़ा ने इसी सीमा में रहकर अपनी प्रतिभा को निखारा। अलीगढ़ में रहते हुए उनके लेखन में परिमार्जन आता रहा। जब वे अलीगढ़ छोड़कर बम्बई गए तो एक नया सफर उनका इंतजार कर रहा था। उन्होंने फिल्मी दुनिया की भीड़ में हार नहीं मानी। उन्होंने उस दुनिया के गणित को समझा, उसे आत्मसात किया और अपनी रचनात्मक यात्रा अनवरत जारी रखी।

राही मासूम रज़ा ने संवादों को नवीन परिभाषा दी। प्रेमचंद, रेणु तक इस सिने दुनिया को छोड़ आए, परन्तु राही मासूम रज़ा ने अपना संघर्ष जारी रखा। हालांकि उन्होंने कई प्रकार के समझौते भी किए परन्तु संवाद लेखन में वह अपनी बात बिना रोक–टोक के कह देते थे।

सिनेमा एक ऐसी विधा है, जो दर्शकों से सीधे संबंध स्थापित करती है। सिनेमा की अच्छाई, बुराई, सभी रूप, गुण, दोषों से दर्शकों का सीधा सम्पर्क होता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सिनेमा हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया है। दृश्य माध्यम हमारे मनोभावों को सीधे प्रभावित करते हैं। साहित्यकार को अगर कोई बात पाठक तक पहुँचानी होती है तो वह अपने साहित्य के माध्यम से पहुँचाते हैं। उसी प्रकार संवाद लेखक भी अपनी बात संवादों के माध्यम से कहते हैं। राही मासूम रज़ा ने हिन्दी सिनेमा में 300 से अधिक फिल्मों में संवाद लेखन का कार्य किया। उन्होंने अपने लेखनी से भारतीय सिनेमा पर अमिट छाप छोड़ी। भारतीय जनमानस की भावनाओं को वह भली प्रकार से समझते थे। उन्होंने इसी कला के माध्यम से दर्शकों का दिल जीत लिया। राही मासूम रज़ा एक अप्रतिम साहित्यकार थे। वे जिस फिल्म पर कार्य करते, उसी के वातावरण में स्वयं को एकमेव कर लेते थे। वे एक साथ कई फिल्मों पर कार्य करते थे। उन्हें एक फिल्म से, दूसरी फिल्म के वातावरण में आने में कोई परेशानी नहीं होती थी। इन सबके साथ उनका लेखों, उपन्यासों पर भी कार्य चलता रहता था। राही मासूम रज़ा ऐसे व्यक्तित्व थे, जिन्हें अपने लेखन से प्रेम था। राही मासूम रज़ा बहुत ही यथार्थवादी थे, और बहुत ही सफाई से कहते थे, "फिल्म एक कामर्शियल आर्ट है। इसलिए फिल्म लेखक से साहित्यिक लेखक का मुकाबला करना ठीक नहीं। लेखक वह लिखता है जो वह लिखना चाहता है। फिल्मी लेखक वह लिखता है, जो उससे लिखवाया जाता है और लिखवाने वाले की नाक पर मुनाफे की ऐनक चढ़ी होती है।"[13] संवाद ही फिल्म में नायक, नायिका, खलनायकों के पात्र को अमर बनाते हैं। संवाद

का ही प्रभाव होता है, जो दर्शकों को इतना प्रभावित करता है, बाद में पात्र को संवादों की बदौलत स्मरण किया जाता है।

राही मासूम रज़ा सिनेमा को साहित्य का एक अभिन्न अंग मानते थे। उन्होंने इसके माध्यम से भारतीय जनता में करूणा, दया, माया, भाईचारा अनेक गुणों का संचार किया। वे समन्वित संस्कृति के मिसाल थे। उन्होंने संवाद लेखन को एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया। उनका योगदान भारतीय सिनेमा में अमिट है।

5.4 सिनेमा और संस्कृति–समन्वय की चुनौती :–

राही मासूम रज़ा सिनेमा और संस्कृति के समन्वय को एक बड़ी चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि सिनेमा एक दृश्य कला है और मानव जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दृश्य माध्यमों की उन्नति चरम पर थी। दूरदर्शन के धारावाहिकों का निरन्तर प्रसारण और सिनेमा में फिल्मों का निर्माण बड़े स्तर पर होने लगा था। इससे हर वर्ग के लोग इस ओर आकर्षित होने लगे। 70, 80, 90 के दशक में सिनेमा और दूरदर्शन मनोरंजन के केन्द्रीय साधन थे। इसी बदलाव को देखते हुए राही मासूम रज़ा ने कहा कि, "सिनेमा की इस बेपनाह ताकत के अतिरिक्त साहित्य की शिक्षा और समझ के लिए सिनेमा को साहित्य स्वीकार कर उसे साहित्य के पाठ्यक्रम में शामिल करना आवश्यक है।"[14]

सिनेमा का भी एक शास्त्र होता है। जिसके भी कई प्रभाग हैं। जिस प्रकार उपन्यास के तत्वों को पाँच भागों में बाँटा गया है, वैसे ही सिनेमा को पाँच भागों में बाँटा गया है, "स्क्रिप्टराइटिंग, सिनेमेटोग्राफी, एडीटिंग, अदाकारी और निर्देशन।"[15] इन पाँच तत्वों से मिलकर ही एक सम्पूर्ण फिल्म का निर्माण होता है। किसी भी कला में चाहे वह फिल्म हो, साहित्य हो, चित्रकारी हो या फिर संगीत हो सभी में दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण होता है। बिना दृष्टिकोण के उस कार्य की सफलता निश्चित नहीं होती। फिल्म निर्माण में भी दृष्टिकोण एक महत्वपूर्ण तत्व हैं। 20वीं सदी के आरम्भ में सिनेमा को हेय दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु सिनेमा में संस्कृति का समन्वय होने से यह हमारे समाज की प्रगति में कारगर सिद्ध हुआ। इससे हमारे युवावर्ग नवोन्मेष की ओर अग्रसर होए। सिनेमा समाज की बुराइयों को सबके समक्ष लाकर उसको नष्ट करने में भी कारगर हुआ है। जब राही मासूम रज़ा ने सिनेमा में अपना योगदान देना आरम्भ किया, तब यह माध्यम स्थापित हो गए थे। इसको हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। अब यह एक स्थापित और लोकप्रिय माध्यम है।

साहित्य का पाठक जिस भी विधा को पढ़ेगा तो वह उसका रसास्वादन अकेले में करेगा, परन्तु सिनेमा को देखने वाला दर्शक एकांत में भी उसका आनन्द उठा सकता है और सबके साथ भी। कमलेश्वर इस संदर्भ में कहते है कि, "सिनेमा की एक दूसरी विशेषता यह है कि उसका दर्शक, दर्शकों का हिस्सा भी है और अकेला दर्शक भी है। वह सामूहिक रूप से भी फिल्म देख रहा है और व्यक्तिगत रूप से भी वह सबके साथ विलेन को गालियाँ देता है। दुनिया की कोई किताब उससे तालियाँ नहीं बजवा सकती, उससे कहकहा नहीं लगता सकती, उससे गालियाँ नहीं बकवा सकती। यह चीज सामूहिक प्रतिक्रिया का हिस्सा है।"[16] जब व्यक्ति सामूहिक रूप से किसी कला का रसास्वादन करेगा तो उसमें परिवर्तन निश्चित है। समाज के गुण–दोषों की चर्चा वह समूह में करेगा। उसका दृष्टिकोण विकसित होगा। वह समाज की चर्चा में खुलकर हिस्सा लेगा। मानव समाज के विकास के लिए साहित्य के साथ सिनेमा भी एक सशक्त माध्यम है। "सिनेमा शास्त्रविहीन कला माध्यम नहीं है। कविता का काव्यशास्त्र और नाटक का नाट्यशास्त्र यदि हमारे शास्त्रीय रचना–विज्ञान को व्याख्यायित करता है तो सिनेमा का भी अपना एक सिनेशास्त्र है, जो नाट्यशास्त्र से अधिक वैज्ञानिक, यथार्थपरक और संवेदनशील है। इसमें कलात्मक त्रुटियों को संवार सकने का अवसर और विधान भी है। यह नाटकों से अधिक मोबाइल भी है जो कला को भौगोलिक सीमाओं से मुक्त करता है। जो काम नाटक नहीं कर सकता उसे सिने–कला अपने दृश्य–विभाजन और शॉट–विभाजन द्वारा सम्पन्न करता हैं।"[17]

मानव सभ्यता के इतिहास में आदिकाल से ही मनोरंजन के माध्यम सीमित रहे हैं। प्रथम वह चित्र बनाकर, सामुहिक नृत्य, नाटिका के माध्यम से अपना मनोरंजन करता था। इसी मनोरंजन के माध्यम से वह अपनी संस्कृति की अस्मिता बनाए रखता था। कालान्तर में जैसे मानव ने उन्नति की, उसकी खोज बढ़ती गई। विज्ञान की प्रगति ने मानव जीवन की संभावनाओं को और विकसित किया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम विज्ञान के इस तकनीकी युग में मानव संस्कृति और सभ्यता को सहेज पाएँगे। इसका उत्तर स्पष्ट है कि जब मानव संस्कृति और सभ्यता का समन्वय तकनीक में रूपान्तरित करना सीख जाएगा, तब वह एक विकसित समाज का निर्माण कर पाएगा। इसीलिए सिनेमा और संस्कृति दोनों का समन्वय किसी चुनौती से कम नहीं है और देखा जाए तो दोनों एक–दुसरे के पूरक भी हैं, क्योंकि संस्कृति का उत्थान–पतन मानव सभ्यता का मुख्य अंग है। जो सांस्कृतिक मूल्य हमारे जीवन का निर्माण करते हैं, उन मूल्यों का संवाहक मानव समाज ही है और मानव समाज के मनोरंजन के साधन ही इन मूल्यों के संवाहक हैं। राही मासूम रज़ा कहते है, "मेरे विचार में साहित्य, साहित्यकार और पाठक रचनात्मक कला का त्रिभुज हैं। पाठक की

अनुपस्थिति में साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। साहित्य, पाठक के पास पहुँचकर ही साहित्य बनता है।"[18] साहित्य की समझ के लिए शिक्षा का प्रारम्भिक ज्ञान होना अतिआवश्यक हैं। यदि पाठक को पढ़ने–लिखने और समझने का ज्ञान नहीं होगा तो वह सामान्य साहित्य को नहीं समझ सकता। इसके विपरीत, "सिनेमा उन लोगों तक भी पहुँच जाता है जो लिखना–पढ़ना नहीं जानते। भारत जैसे अशिक्षित देश में सिनेमा की कला के महत्व को अनदेखा नहीं कर सकते।"[19] वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सिनेमा, सोशल मीडिया हमारे जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं। सिनेमा एक बहुत शाक्तिशाली साहित्यिक विधा है। यह समाज को बना भी सकती है और बिगाड़ भी सकती है। राही मासूम रज़ा ने सिनेमा को साहित्य का एक अभिन्न अंग बनाने के लिए लम्बा संघर्ष किया। जब उन्हें अलीगढ़ विश्वविद्यालय में 'सिनेमा और पाठ्यक्रम' विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया तब उन्होंने समाज के गुणीजनों से यह कहा, "मैं बुद्धिजीवियों से अपील करने आया हूँ कि सिनेमा को हेयदृष्टि से न देखिये। यह समझिये कि जैसे अच्छी या बुरी गज़ल होती है, अच्छा या बुरा नावेल होता है, उसी तरह अच्छी या बुरी फिल्म भी होती है।"[20] उनका दृष्टिकोण इतना विस्तृत किया जाए कि वह समझ सके कि अच्छी और बुरी सिनेमा मे क्या फर्क हैं। दृश्य माध्यमों में सिनेमा एक विश्वसनीय माध्यम है। इसलिए हमें इसकी आलोचना के साथ–साथ अच्छाई की भी चर्चा करनी चाहिए।

हमारा संतुलित दृष्टिकोण ही सिनेमा और संस्कृति के समन्वित रूप को साकार कर सकता है। जब सिनेमा का पाठयक्रम बनाकर, साहित्य के अंग के रूप में स्वीकार कर लिया जाएगा तब यह चुनौती भी स्वीकार कर ली जाएगी। वर्तमान में सिनेमा की पढ़ाई विधिवत रूप से करवाई जाती है। इसको एक पृथक विषय के रूप में स्थापित किया गया है। इसका लाभ सिनेमा में अपना भविष्य बना रहे छात्रों को मिल रहा है। अतः हमें इस समन्वय की चुनौती को स्वीकार करना चाहिए और इसके विकास में भागीदारी निभानी चाहिए।

5.5 राही मासूम रज़ा का हिन्दी सिनेमा को योगदान :–

राही मासूम रज़ा ने पच्चीस वर्षों से अधिक समय तक फिल्मी दुनिया में अपना योगदान दिया। करीब 300 से अधिक फिल्मों के संवाद भी लिखे। राही मासूम रज़ा पटकथा और संवाद लेखन तक ही सीमित नहीं रहे, उन्होंने धारावाहिक लेखन भी किया। 'नीम का पेड़' प्रसिद्ध धारावाहिक लेखन भी राही मासूम रज़ा ने ही किया। 'महाभारत' के संवादों ने दूरदर्शन के इतिहास में नई क्रांति ला दी थी। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी जिस में उर्दू,

अरबी, फारसी के शब्दों का उपयोग न के बराबर था। उन्होंने भारतीय जनता के समक्ष "मैं समय हूँ" की नवीन अवधारणा प्रस्तुत की।

राही मासूम रज़ा को लेखन के लिए 3 बार सर्वश्रेष्ठ संवाद लेखक का पुस्कार भी मिला था। प्रथम पुरस्कार 'मैं तुलसी तेरे आँगन की' फिल्म के लिए 1979 में, द्वितीय पुरस्कार 'तवायफ' फिल्म के लिए 1986 में तथा अंतिम पुरस्कार 1992 में फिल्म 'लम्हें' के लिए दिया गया था। उन्होंने भारतीय सिनेमा में एक नई पहचान बनाई। उनकी भाषा और किस्सागोई के अंदाज निराले थे। उन्हें फिल्म में संवाद लेखन या पटकथा लेखन के लिए किसी एकांत की जरूरत नहीं होती थी। वे सभी रूपरेखा अपने मस्तिष्क में ही बना लेते थे। राही मासूम रज़ा बहुत ही व्यावहारिक और यथार्थवादी व्यक्ति थे। निर्देशक जिस प्रकार की पटकथा या संवाद की माँग करता था, राही मासूम रज़ा उस वातावरण में स्वयं को जल्द ही ढाल लेते थे। राही मासूम रज़ा ही ऐसे एकमात्र लेखक थे जिन्होंने दक्षिण भारतीय सिनेमा में भी अपनी छाप छोड़ी। उन्हें दक्षिण का वातावरण रास नहीं आता था। इस कारण वह सुबह हवाई जहाज से हैदराबाद जाते और शाम तक वापस बम्बई लौट आते थे।

दृश्य माध्यमों का अलग व्याकरण होता है। जिसमें दृश्य और कैमरा ही बहुत कुछ कह जाते हैं। एक पटकथा लेखक की सृजनात्मकता दर्शक को उसकी भावभूमि से ऊपर उठाकर सत् चित् आंनद की अनुभूति करवाती है। पटकथा लेखक के लिए संवाद लेखन किसी चुनौती से कम नहीं क्योंकि लेखक को वातावरण के अनुरूप ढल कर अपना कार्य करना होता है। फिल्मों के पात्रों की भाषा, उनके मनोभाव, शब्दावली सभी एक विज्ञान की तरह कार्य करते हैं। संवादों की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संवाद ही नायक, नायिक, खलनायक, खलनायिका को प्रसिद्ध करते हैं। जैसे शोले फिल्म का वह संवाद, "यह हाथ मुझे दे दो ठाकुर" बहुत प्रसिद्ध हुआ। उस पात्र का मंचन किस अभिनेता ने किया वह सबको पता होता है, परन्तु उस संवाद को जिसने लिखा वही मुख्य वक्ता होता है। जिसके मस्तिष्क की उपज है वह संवाद लेखक है। आधुनिक सिनेमा की जड़ें हमारी लोक कलाओं से जुड़ी हुई हैं। राही मासूम रज़ा बहुत ही संवेदनशील व्यक्ति थे। उन्होंने "मैं तुलसी तेरे आँगन फिल्म में तुलसी की भूमिका निभाने वाली अभिनेत्री आशा पारेख के संवादों को बड़ी कलात्मक ढंग से लिखा। इसी प्रकार 'तवायफ़' फिल्म के संवाद भी बड़ी शिद्दत से लिखे गए थे।

राही मासूम रज़ा ने आलाप (1977), गोला–माल (1979), कर्ज़ (1980), जुदाई (1988), हम पाँच (1980), अनोखा रिश्ता (1986), बात बन जाए (1986), नाचे मयूरी (1980), आवाज (1987), लम्हें (1991), परम्परा (1992), आइना (1993), किसी से ना कहना (1983),

मैं तुलसी तेरे आँगन की (1993) तवायफ़ (1985) जैसी अनगिनत फिल्मों के संवाद लिखे। कहना नहीं होगा कि इसकी सूची बहुत लम्बी है।

'नीम का पेड़' पहले धारावाहिक के रूप में लिखा गया था। इसको 1991 में प्रसारित किया गया था। यह दूरदर्शन का बहुत सफल धारावाहिक रहा था। इसके पश्चात् इस धारावाहिक को राजकमल प्रकाशन ने उपन्यास के रूप में प्रकाशित किया। इसके उपन्यास के रूप में प्रबंधित प्रसिद्ध अनुवादक प्रभात रजंन ने किया, जिसका पहला संस्करण 2003 में आया।

निष्कर्ष :–

राही मासूम रज़ा ने महाभारत की पटकथा और संवाद लिखे, जो दूरदर्शन के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुए। "महाभारत धारावाहिक समाप्त हुए भी लम्बा अर्सा गुज़र चुका है, लेकिन राही ने "मैं समय हूँ" इन चंद अक्षरों के साथ जिस अमूर्त विचार को परदे पर साकार कर दिया था। उसने राही मासूम रज़ा के नाम को भी भूत, वर्तमान और भविष्य की सीमाओं के बंधनों से मुक्त कर सदा–सदा के लिए हरदिल अजीज नाम बना दिया है।"[21] राही मासूम रज़ा उन चंद संवाद लेखकों में थे, जिनकी संवाद लेखन के साथ–साथ साहित्यिक यात्रा भी अनवरत चल रही थी। उनके उपन्यास फिल्मों के साथ–साथ प्रकाशित होते रहे। उन्होंने फिल्मी दुनिया में रहते हुए भी साहित्य से अपनी दूरियाँ नहीं बढ़ाई अपितु साहित्य को अपने हृदय में प्रथम स्थान दिया।

राही मासूम रज़ा बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने फिल्मी दुनिया के बड़े पर्दे के साथ धारावाहिक लेखन में भी अपनी अमिट छाप छोड़ी। उनका योगदान भारतीय सिनेमा कभी नहीं बिसार सकता। उनका रचना कौशल अद्वितीय था। वे एक ही समय में कई तरह के वातावरण का निर्माण कर सकते थे। कमलेश्वर के शब्दों में, "राही ने इस क्षेत्र में केवल वैचारिक हस्तक्षेप ही नहीं किया है बल्कि रचनात्मक योगदान से सिनेमा और इलेक्ट्रानिक मीडिया की साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिका को भी परिपुष्ट किया है। साहित्य में तो उनका अन्यतम स्थान है ही, फिल्म और टीवी मीडिया में बेपनाह भीड़ के बावजूद डॉ.राही मासूम रज़ा का नाम बहुत आदर के साथ अलग से पहचाना जाता है। इसका मूल कारण है उनकी समन्वित संस्कृति की दृष्टि, भारतीयता की गहरी और धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक पहचान और वह भाषा जो किताबों में बंद नहीं रहती बल्कि अपने समय से संवाद करती है। इसी समन्वित सांस्कृतिक दृष्टि को रेखांकित करते हुए राही ने कहा है कि दृष्टिकोण के बिना कला, की रचना संभव ही नहीं है।"[22]

संदर्भ सूची

(1) कुँवरपाल सिंह, राही मासूम रज़ा और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं.–15

(2) वही पृष्ठ सं.–15

(3) धमवीर भारती कुछ चेहरे : कुछ चिन्तन, पृष्ठ सं.–186

(4) सौजन्य डी.डी. भारती, 'महाभारत' का पुनः प्रसारण। (निर्देशन बी.आर. चोपड़ा) दिनांक 28 मार्च 2020, समय संध्या 7:00 बजे

(5) वही

(6) वही

(7) वही

(8) वही

(9) वही

(10) धर्मवीर भारती कुछ चेहरे : कुछ चिन्तन, पृष्ठ सं. 188

(11) वही, पृष्ठ सं. – 185

(12) वही, पृष्ठ सं. 185

(13) राही मासूम रज़ा, सिनेमा और संस्कृति, पृष्ठ सं.–35

(14) वही, पृष्ठ सं. – 19

(15) वही, पृष्ठ सं. – 25

(16) कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं. 35

(17) वही, पृष्ठ सं. – 37

(18) कुँवरपाल सिंह, सिनेमा और संस्कृति, पृष्ठ सं.–17

(19) वही, पृष्ठ सं. – 18

(20) वही, पृष्ठ सं. – 27

(21) पुष्पा भारती, यादें, यादें और यादें, पृष्ठ सं. – 52

(22) कुँवरपाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, पृष्ठ सं. 38

षष्टम् अध्याय

राही मासूम रज़ा के उपन्यासों की कथाभूमि की समीक्षा

6.1 हिम्मत जौनपुरी

6.2 टोपी शुक्ला

6.3 दिल एक सादा कागज

6.4 असन्तोष के दिन

6.5 ओस की बूँद

6.6 सीन–75

6.7 नीम का पेड़

प्रस्तुत अध्याय में राही मासूम रज़ा के उपन्यासों की कथाभूमि की समीक्षा की गई है। उपन्यासों की कथ्य की प्रभावशीलता, रोचकता और सपाटबयानी राही मासूम रज़ा को एक अलग फ़लक पर ले जाती है। उनके उपन्यासों में लोक जीवन की नवीनता है। उन्होंने लोक संस्कृति के अनछुए पहलुओं को जीवन्त कर दिया है। उनके सभी उपन्यासों में गाज़ीपुर और अलीगढ़ की सौंधी महक है। उनके उपन्यास सिर्फ हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वह भारत की सांझी संस्कृति के साक्षी हैं। वह उस हिन्दुस्तान की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, जिसके पुरखे ग़ालिब और तुलसी हैं। राही मासूम रज़ा उस परम्परा के लेखक हैं जिन्होंने कई भ्रांतियों को तोड़ा। लोकजीवन की झांकियाँ उनके हर पात्र में मिल जाती हैं। उनके पात्र किसी जादू के चिराग से नहीं निकले हैं। उनके पात्रों का संघर्ष सजीव है। हिम्मत, रफ्फ़न, टोपी शुक्ला, अब्बास मुसवी, बज़ीर हसन, अली अहमद और बुधई यह सभी जीने के लिए अपना हक माँगते हैं। उनका संघर्ष जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण पैदा करता है। 'टोपी शुक्ला' उपन्यास का यह संवाद पठनीय है।

''जिस देश की यूनिवर्सिटी में यह सोचा जा रहा हो कि ग़ालिब सुन्नी थे या शिया और रसखान हिन्दू थे या मुसलमान, उस देश में पढ़ाने का काम नहीं करूँगा।''[1]

इसी प्रकार से "ओस की बूँद" में शहला, पद्मा से सवाल करती है।

''अच्छा तो पद्मा रानी, यह बताओ कि जायसी, कुतुबन, ताज, रहीम, उस्मान, वगैरा किस खेत की मूली है? और कबीर को कब गिरफ्तार करेगी तुम्हारी सरकार?''[2]

ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ राही के पात्र ऐसे सवाल करते हैं जिनका उत्तर शायद किसी के पास नहीं है। उन्होंने पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। राही मासूम रज़ा का पूरा जीवन विपरीत परिस्थितियों के विरूद्ध एक सतत संघर्ष था। उन्होंने "सीन पचहत्तर" में भारतीय संस्कृति के विघटन को उकेरा है। फिल्मी दुनिया अपसंस्कृति की ओर जा रही है। इसी के साथ हमारे देश में एक नया देश पैदा होता जा रहा है। सामाजिक संरचना में विकृतियाँ आती जा रही हैं। मानवीय मूल्यों का हनन होता जा रहा है? राही मासूम रज़ा ने उपन्यासों में विभाजन के पहले और बाद की परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। बेरोजगारी अपने चरम पर है। ज़मींदारी प्रथा खत्म हो गई है। राजनीति की बातें करना मध्यम वर्ग का नया शगल बन गया है। समाज के अन्दर एक ऐसा समाज पैदा हो रहा है जो स्मगलिंग की वस्तुएँ उपयोग में लाना फैशन समझता है। प्रगतिशीलता सभी के सिर चढ़ कर बोल रही है, परन्तु इस शब्द के सही मायने किसी को पता नहीं हैं। सब एक

अंधी दौड़ में प्रथम आने का प्रयास कर रहे हैं। ज़मींदारी प्रथा खत्म होने के बाद लोगों के जीवन में नवीन परिवर्तन आते हैं। प्रस्तुत उदाहरण जैसे –

"अल्लाह ग़ारत करे इ झाड़ूमारी कांगरेस को। ज़मींदारी का गयी कि शिराफ़त चली गयी। जेको देखो ऊहे पक्का घर बनवाये में लगा है।"[3]

देश स्वतंत्र होने के बाद ज़मींदारी प्रथा खत्म हो गई। इसके साथ ही समाज में नवीन तबके ने जन्म लिया। वह तबका जो सिर्फ हुक्म की तालीम करना जानता था। जो सिर्फ यह जानता था कि उसको आदेशों का पालन करना है। जब वह आवाज उठाता है तो उच्च वर्ग की ज़मीन कच्ची होने लगती है। उनके लिए यह परिवर्तन असहनीय हो जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि निम्न वर्ग के लोगों को एक पाख़ाना बनवानें के लिए भी सत्याग्रह का सहारा लेना पड़ता है। 'दिल एक सादा कागज' उपन्यास में जब केला तंबोली यह कदम उठाता है तो उसको बहुत संघर्षों का सामना करना पड़ता है। प्रस्तुत उपन्यास में उन परिस्थितियों का जीवन्त चित्र उकेरा गया है।

"प्यारे भाइयों और बहनों। महत्व पाख़ाने का नहीं। लड़ाई मानव जाति के अधिकारों की है। मैं पूछता हूँ कि ठाकुर साहब हीरा–मोती हगे हैं कि उन्हें पक्की खुड्ढी की जरूरत पड़ती है फरागत होने के लिए? स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी ज़मींदारी के अबालीसन के बाद भी जनता फरागत करने के लिए खेतों–खेतों मारी–मारी फिरे?" [4]

समाज में यह नवीन परिवर्तन के संकेत थे। हम उस काल में संचरण करने लगते हैं जहाँ हमें भावी हिन्दुस्तान की जड़ें फूटती दिखाई पड़ती है।

भाषा राही मासूम रज़ा का दूसरा हथियार है। वह ऐसी मिठास घोलती है कि उपन्यासों के पात्रों से प्रेम हो जाता है। भोजपुरी मिश्रित उर्दू ही लोकसंस्कृति की दूसरी परिभाषा है। भाषा के कुछ सुन्दर उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है। इन उदाहरण के माध्यम से राही मासूम रज़ा कहना चाहते हैं कि उस समय खड़ी बोली को अंचल विशेष में उतनी मान्यता प्राप्त नहीं थी।

"ए घिया ई रंडियन की बोली तूँ उभई तक ना छोड़यों होंका?" [5]

----------×----------×----------

"ए दुलहिन तो हमसे ई मुसटंडन जयसी खड़ी बोली मत बोला करो।" [6]

----------×----------×----------

"अरे दुलहिन झाडू मारौ ज़बान को। चूल्हे–भाड़ में जाए ऊ जबा़न जो हमारी दुलहिन को रोलाए।"[7]

राही ने बाल मनौविज्ञान का भी बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। जब टोपी की माता को पुत्र होने वाला होता है तो वह पूछता है।

"साईकिल ना हो सकती का?"[8]

राही मासूम रज़ा ने अपने उपन्यासों में सांप्रदायिकता की समस्या उठाई है। राही के पात्र शासन से संघर्ष करते हैं। उनके पात्रों की दुनिया सशक्त है, परन्तु क्या राही अपने पात्रों के साथ न्याय कर पाए हैं इसकी समीक्षा इस अध्याय में की गई है।

6.1 हिम्मत जौनपुरी :–

'हिम्मत जौनपुरी' हिम्मत के जीवन की संघर्ष गाथा है। यह एक चरित्रात्मक उपन्यास है। इस चरित्रात्मक उपन्यास का मुख्य पात्र हिम्मत जौनपुरी है। राही मासूम रज़ा ने हिम्मत जौनपुरी की पिछली तीन पीढ़ियों का पूरा इतिहास बताने के बाद हिम्मत जौनपुरी की कहानी बताई है। उसके पूर्वजों के इतिहास के बिना हिम्मत की जीवनी अधूरी है। "श्री हिम्मत जौनपुरी वास्तव में गाज़ीपुरी थे। कई सौ बरस पहले के शर्की बादशाहों के जमाने में इनके बुजुर्गों को जौनपुर छोड़ना पड़ा तो यह लोग गाज़ीपुर में आ बसे, परन्तु ज़ौनपुर से इनकी आत्मा का रिश्ता न टूटा।"[9] इस तरह इनकी रगों में दौड़ने वाला खून ज़ौनपुरी से गाज़ीपुरी हो गया। ज़ौनपुरी से गाज़ीपुर की पहली शाखा दिलगीर जौनपुरी से निकली। जो गाज़ीपुर की एक लड़की पर आशिक हो गए। उनकें घर वालों ने बहुत समझाया कि ज़ौनपुरी लड़की से शादी कर लो परन्तु वह नहीं माने। "और इस तरह ज़ौनपुरी परिवार के पेड़ में गाज़ीपुर की पहली शाखा निकली परन्तु यह शाखा भी अपने आप को ज़ौनपुरी ही कहती रही।"[10] दिलगीर ज़ौनपुरी जब मरे तो अपने दो बेटों के साथ एक मसजिद् और एक मसनवी 'दरबयान इश्के रामो सीता' छोड़ गए। बड़े बेटे शेख सुबहान अल्लाह तखल्लुस बर्क़ थे। जो एक बहुत अच्छे शायर थे। छोटे बेटे शेख बरकतुल्लह आरजू ज़ौनपुरी थे। आरजू ज़ौनपुरी को पहलवानी का बड़ा शौक था। दिलगीर साहब, आरजू से बहुत खफ़ा रहते थे। वह अपनी बेगम से बोलते, "तुम्हारे बेटे ने हमें जलील करने का बीड़ा उठाया हुआ है। क्या भया? बेगम मुसकुराई। दिलगीर साहब को इस अया भया वाली भाषा से बड़ी नफरत थी, परन्तु जब बेगम बोलती तो इसी भाषा में ऐसी मिठास आ जाया करती थी कि उनके होठ चिपक जाया करते थे। तुमसे तो कुछ कहना फ़िज़ूल है। अरे भई, यह कुश्ती

लड़ना क्या शरीफों का काम है? आपो कभई–कभई कैसी बात करे लगते हैं। ए भाई कउन खराबी है। हमारे बड़के बाबा ही पहलवान रहे।"[11]

दिलग़ीर जौनपुरी को बेगम की बात बिल्कुल रास नहीं आई और बात इतनी बढ़ गई कि दिलग़ीर जौनपुरी ने बेगम बी को तलाक दे दिया। तलाक के ठीक सात दिन बाद बेगम बी मर गई और दिलगीर जौनपुरी भी उसी समय अल्लाह मियाँ को प्यारे हो गये। बेगम बी को अपने मायके जाने की इजाज़त नहीं थी। बेगम बी चुपके–चुपके अपने मायके जाती थी। आरजू ज़ौनपुरी अपनी खाला की बेटी सुक्कन पर आशिक हुए और सुक्कन विवाह के बाद दुल्हन बी बन जाती है। दिलगीर ज़ौनपुरी सुक्कन के अभिवादन पर उसे बहुत सारा आशीर्वाद देते हैं, परन्तु आरजू ज़ौनपुरी को उन्होंने माफ़ नहीं किया।

सुक्कन विवाह के बाद अपने मायके नहीं गई। बेगम बी की तरह उसे भी दिलगीर साहब ने मायके जाने की इजाज़त नहीं दी। जब दिलगीर साहब ने बेगम बी के साथ निकाह किया था तो उनके पिता ने घर से निकाल दिया था। जिस घर से दिलगीर ज़ौनपुरी को निकाला था। आज वह घर उन्होंने वापस खरीद लिया है और बेगम बी को उस घर की चाबियाँ दे दी। बेगम बी सोचने लगी जिस घर में मैं नौकरानी थी अब वहाँ मालकिन बनके कैसा लगेगा। दुलहिन बी को उसके मायके जाने की इजाज़त दे दी गई। परन्तु आरजु को माफ़ नहीं किया। इन्हीं आरजू के बेटे थे नादिर ज़ौनपुरी। जो आशिक हुए इमामबादी पर, इमामबादी एक मशहूर तवायफ़ होती है। "शैख बरकतुल्लाह आरजू ज़ौनपुरी कोई दिलगीर जौनपुरी तो थे नहीं कि दरबयाने बेगम में कुछ शेर बढ़ाकर रह जाते। वह तो पहलवान थे और पहलवान मसनवी नहीं लिखते चुनाँचे बात बढ़ गई और जवान बेटे पर उनका हाथ उठ गया।"[12] "यूं नादिर ज़ौनपुरी अपने खानदान के सदियों पुराने इतिहास में दूसरे बेटे थे जो आक़ (परिवार से निष्कासित कर देना) किए गए। दिलगीर ज़ौनपुरी बेगम के लिए आक़ किए गए थे और नादिर ज़ौनपुरी इमाम बांदी के लिए आक़ किए गए।"[13]

बर्क़ साहब ने आरजू ज़ौनपुरी को माफ़ नहीं किया क्योंकि आरजू ज़ौनपुरी ने दिलगीर ज़ौनपुरी का घर खरीद लिया। बर्क़ साहब ने आरजू ज़ौनपुरी से अपनी कड़वाहट नादिर के घर जाकर निकाली। जब ये बात आरजू ज़ौनपुरी को पता चली तब उन्होंने इस हरकत के लिए, बर्क़ साहब को माफ नहीं किया। सुक्कन को जब यह बात चली की बर्क़ साहब नादिर से मिलने गए थे, तो वह नद्दू से मिलने के लिए उतावली होने लगी। वह अपने नद्दू से मिलने सट्टी मस्जिद वाले घर में मिलने चली गई। आरजू ज़ौनपुरी को जब सुक्कन की इस हरकत का पता चला तो उन्होंने सुक्कन को तलाक देने की धमकी दे दी।

तब सुक्कन तिलमिला गई और बोली "ई त तोरे घर का फसन चला आ रहा। इहे आंगन में खड़े होके बुढ़ऊ बेगम बी को तिलाक़ दिहिन रहा। खबरदार जो फिर कभई तिलाक़ की धमकी दियो। हमरा एक्कावन हजार का मेहर धरद्यो सीधे हाथ की हथेली पर और देद्यो तिलाक़। तूँ हम्में हमरे बेटे से छोड़ाए हो। हम क़यामत के दिन तौरा दामन ना पकड़े तब कहियो। बड़े आए है तिलाक़ देने वाले। कल के देते आज देद्यो। हम जा रहें अपने बेटे के पास।"[14]

सुक्कन अपने बेटे नद्दू के घर जाकर इमाम बांदी से मिलती है। जो अब कायदे से उसकी बहू है। सुक्कन उसकी खड़ी बोली सुनकर हैरान रह जाती है। "ए घिया ई रंडियन की बोली तँ अभई तक ना छोडयों हौ का?"[15] इमाम बांदी यह सुनकर घबरा जाती है और उसे अपने बचपन की बात याद आ जाती है। जब उसने अपनी माँ से कहा था, "हम्में भूक लगी है।"[16] वह इतना ही बोल पाई थी की उसकी माँ ने एक जोरदार थप्पड़ मारा। तब से इमाम बांदी गोरखपुर के मिट्टी की सुगन्ध नहीं छोड़ पाई। सुक्कन की नज़रों में खड़ी बोली मुसटंडन और रण्डियों की बोली थी। बर्क़ ज़ौनपुरी ने समय का फायदा उठा कर आरजू ज़ौनपुरी से अपना बदला निकला। वह सुक्कन को आरजू से तलाक माँगने का मुकदमा करवा देते हैं। आरजू जौनपुरी इस बेइज्जती को झेल नहीं पाते हैं। वह मुक़दमा जीत जाते हैं, परन्तु सुक्कन को ज़लील करने के लिए पाँच रूपये हर महीने भेजते हैं। आरजू ज़ौनपुरी के मरने के बाद बर्क़ साहब ने उनके घर पर कब्ज़ा कर लिया। ऩादिर ज़ौनपुरी जब अपना हक़ माँगने गया तो उसे पुलिस से पिटवा दिया। हिम्मत ज़ौनपुरी की किस्मत भगवान ने सट्टी मस्जिद वाले मकान में लिख दी। ऩादिर को एक दिन हवालात में भी बंद करवा दिया था बर्क़ साहब ने। "नादिर, जौनपुरी चाहते तो आजादी के बाद इस हवालात में गुजरने वाली रात को राजनीतिक और देश–प्रेम का लबादा ओढ़ा कर सरकार से दाम वसूल कर लेते। एम.एल.ए. तो खैर न होते, परन्तु पेंशन बंध गई होती।"[17] परन्तु ऩादिर ने ऐसा कुछ नहीं किया।

हिम्मत जौनपुरी का एक सपना था कि वह अपने परदादा की मसनवियों को ज़रूर छपवाएँ। "मसनवी दरबयाने इश्के रामो–सीत" में राम–सीता की कहानी को मसनवी में लिखा गया है। लेखक कहता है मैं अपनी बेटी मरियम और अब्बू को इस मसनवी के शेर जरूर सुनाऊँगा। उन्हें भी पता चले की कोई हिन्दुस्तानी ऐसे भी थे जिसनें मस्जिद बनवाई और राम–सीता की कहानी मसनवी में भी लिखी। जब यह मसनवी लिखी गई तब साढ़े पाँच हजार शेर थे। अब हर साल इसमें से कुछ शेर खत्म होते जा रहे हैं। "राम और मसजिद का बैर बहुत पुराना नहीं है। यदि इनमें झगड़ा होता तो 'रसखान' ने मक्के के

गड़रिये की जगह ब्रज के गड़रिये को अपने काव्य की आत्मा क्यों बताया होता और सूफियों ने कृष्ण की काली कमली अपने मोहम्मद को उढ़ा कर उन्हें काली कमली वाला क्यों कहा। मोहम्मद की कमली तो स्याह और सफेद धारियों वाली थी–जमइयतुल ओलमाये (हिन्द) के झण्डे की तरह।"[18]

हिम्मत सातवें दर्जे तक पढ़ा फिर उसे स्कूल से निकाल दिया गया। सिटी स्कूल के हेड मौलवी अब्दुल हफ़ीज साहब को लगता था कि वह बहुत अच्छा शायर बन सकता था, परन्तु उनका अफ़सोस अफ़सोस बन कर रह गया। एक बार अब्दुल हफ़ीज ने हिम्मत से इंकबाल का तराना गवाया। उस तराना को गवाने में बर्क़ साहब का बहुत बड़ा हाथ था। वह कट्टर कांग्रेसी थे, ऐसा लोगों को लगता था। पाकिस्तान बनने के बाद वह पाकिस्तान चले गए और उस दिन ऩादिर ज़ौनपुरी ने हिम्मत को पहली बार पीटा, उस पिटाई से डरकर हिम्मत बम्बई भाग गया।

हिम्मत की जीवनी के तीन हिस्से हैं। पहला उसके पूर्वजों का लेखा–जोखा फिर बम्बई भाग जाना और अंत में गाज़ीपुर की दो टिकटों के साथ उसकी मौत। "श्री हिम्मत जौनपुरी की कहानी एक ऐसे निहत्थे की कहानी है जो जीवन भर जीने का हक़ मांगता रहा। जो एक सीन से दूसरे सीन में डिज़ाल्व होता रहा और जो डिज़ाल्व होने की इसी कोशिश में एक दिन फेड–आउट हो गया। मरने वाले ने अपने पीछे एक धांसू फिल्म सब्जेक्ट, मंजन की कुछ पुड़ियाँ और नामर्दी दूर करने वाले भस्म की कुछ शीशियाँ छोड़ी और उसने एक कहानी भी छोड़ी।"[19]

हिम्मत बम्बई लीला चिटनिस पर आशिक़ होकर गया था और जल्द ही यह भूत उसके ऊपर से उतर गया। कैसर बाग वाले मुशायरे में हिम्मत से कथाकार मिलता है। हिम्मत बम्बई में मंजन की पुड़िया बेचता है। उसने बर्क़ साहब की दोनों मसनवियाँ छपवा दी है।

कथाकार से कहता है "हम त इ बंबई में अय्यसा फँस गए कि क्या बताएँ। महूरत हो जाए त सोच रहे कि बी और मियाँ को हिंअई बुला लें।"[20] उसने लेखक को बताया कि उसने बहुत ही धांसू सब्जेट तैयार किया है। हीरोइन ऐसी है जिसके आगे मीना कुमारी और वैजयन्तीमाला भी फैल है। हीरो उसका दिलीप कुमार है। साइड हीरोइन के लिए उसने जमुना यानि जुबैदा को लेने का सोचा है। हिम्मत जमुना से प्रेम करता है,जमुना राजा से और राजा बिल्लो से प्रेम करता है। जमुना ने अपना नाम जुबैदा इसलिए रखा की बम्बई में मुसलमानी नाम से धंधा चलता है। जब हिम्मत ने जमुना से पूछा की उसने अपना

नाम क्यों परिवर्तित किया तो वह बोली "अरे भाई हिआं का चक्करे अलग है। कहती है कि मुसलमानी नाम हो तो धंधा अच्छा होता है।"[21]

हिम्मत जब बम्बई गया तो वहाँ सबसे पहले उसे जमना मिली। जमना उसे गफ़्फार चाचा के पास लेकर गई। गफ़्फार चाचा को जब पता चला हिम्मत आरजू ज़ौनपुरी का बेटा है तो उसे अपना मान लिया।

"अरै त इ काँहे न कहत्यों की आरजू उस्ताद के पोते हो। यह कहते–कहते गफ़्फार चाचा राजा की तरफ मुड़े। अरे इ आरासिंह, दारासिंह उस्ताद आरजू के सामने मिनट भर ना टिक सकते राजा। वह उस्ताद आरजू की पहलवानी की कहानियाँ सुनाने लगे। फिर वह हिम्मत से बोले "ऊ हमरे उस्ताद हैं।"[22]

हिम्मत गाज़ीपुर की दो टिकट लेकर जमना के पास जाता है। वह उसे ग़ाज़ीपुर ले जाना चाहता है, पर ज़मना मना कर देती है। हिम्मत, जमना से कहता है,

"हम तोके अपने प्यार की राख से माँज–मूँज के चमका लेंगे। अरे तै दपदपाये न लगे त हम अपना नाम बदल देंगे। तू नई हो जाएगी, नई।"[23]

फिर एक सिटी बजती है जमुना उस आदमी की तरफ चली जाती है और अंत में एक अपाहिज सी आवाज रह जाती है।

"गाज़ीपुर दो सवारी। ग़ाजीपुर दो सवारी।"[24]

यह आवाज हिम्मत जौनपुरी की होती है। जो एक सीन से डिजाल्व होकर दूसरे सीन में चला जाता है वह बम्बई आया था बिना टिकट के और अब बम्बई से भी बिना टिकट के जाना चाहता है। टिकट बेचते हुए वह एक बस के नीचे आकर मर जाता है ।

"गाज़ीपुर के एक लोकल समाचार पत्र में यह समाचार भी छपा कि श्री हिम्मत जौनपुरी जब अपनी फिल्म 'नींद का गाँव' की कागजी तैयारियाँ पूरी कर चुके थे यकायक दिल की धड़कन बंद हो जाने के कारण स्वर्गवासी हो गए। सुना जाता है कि अपनी फ़िल्म के लिए वह दलीपकुमार को साइन कर चुके थे।"[25]

सम्पूर्ण उपन्यास हिम्मत जौनपुरी के संघर्ष की कहानी है। जो एक अजनबी की तरह घटती है और पहचान बनाकर पाठक से रूखसत लेती है।

6.2 टोपी शुक्ला :–

'टोपी शुक्ला' छोटा किन्तु मार्मिक उपन्यास है। उपन्यास में विभाजन के पहले और बाद की परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। पूरा उपन्यास व्यंग्यात्मक शैली में लिखा गया है। उपन्यास की कथा टोपी शुक्ला अर्थात् वीरभद्र नारायण शुक्ला के इर्द–गिर्द धुमती है। टोपी शुक्ला मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। दलगत राजनीति किस प्रकार हमारे प्रशासनिक तंत्र को भ्रष्ट कर देती है। इसका जीवन्त उदाहरण 'टोपी शुक्ला' है। राही मासूम राज़ा ने उपन्यास की भूमिका में कहा है, "आधा गाँव में बेशुमार गालिया थी। मौलाना 'टोपी शुक्ला' में एक भी गाली नहीं है, परन्तु शायद यह पूरा उपन्यास एक गंदी गाली है।"[26] उपन्यास के अंत में जब टोपी आत्महत्या कर लेता है तो वह स्वयं से नहीं हारता अपितु हमारे समाज से हार जाता है। टोपी मध्यम वर्ग की त्रासदी बन कर उभरा है। टोपी शुक्ला का जन्म पण्डित भृगु नारायण शुक्ला नील वाले के घर में होता है। "टोपी शुक्ला की सूरत खराब थी, परन्तु थे बड़े शर्मीले। नंगे पैदा नहीं हुए। सिर के बाल सारे बदन पर उगाकर पैदा हुए। नतीजा यह हुआ कि सुबह जब चमाइन आई और रामदुलारी को मल–मलाकर अपने घर गई तो उसने अपने पति से कहा, दागदर साहब के घर बनमानुष भइल बया।"[27] टोपी का बचपन बहुत उपेक्षित रहा। इस कारण वह बचपन से ही विद्रोही हो गया। जिसका पूर्ण साकार रूप अलीगढ़ विश्वविद्यालय में देखने को मिलता है। कुरूपता के कारण टोपी को ना दादी का प्रेम मिला न पिता का। मुन्नी भइयाँ को दादी तरह–तरह की कहानियाँ सुनाती, परियों की, राजाओं की, परन्तु टोपी को वह अपने पास भी फटकने नहीं देती थी। एक बार टोपी ने दादी को कहा, "दादीजी आप काले– कलूटे कृष्ण को पूजती हैं ना तो एक ना एक दिन आपकी पूजा काली जरूर हो जाएगी।"[28] इस प्रसंग में राही मासूम रज़ा ने बाल मनोविज्ञान का वह सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। टोपी के एक और छोटा भाई होने वाला था। तब टोपी सहज ही निश्चल मन से अपनी नौकरानी से पूछ लेता है "साईकिल ना हो सकती का?"[29]

टोपी का बचपन अकेलेपन में गुजरा। उसका एकमात्र दोस्त इफ़्फन हैं। इफ़्फन की दादी टोपी को बहुत अच्छी लगती है, क्योंकि वह भी टोपी की माँ की तरह भोजपुरी–उर्दू बोलती है। इफ़्फन की दादी टोपी को जिन्नों, परियों, बादशाहों, की कहानी सुनाती है और टोपी का बाल मन फिर से जी उठता है। टोपी का अकेलापन इफ़्फन और उसकी दादी के पास जाकर खत्म हो जाता है। टोपी इफ़्फन से पूछता है, "कि अय्यसा ना हो सकता की हम लोग दादी बदल लें।"[30] परन्तु यह संभव नहीं, इस बात से टोपी के बालमन पर बहुत चोट लगती है। जब इफ़्फन की दादी मर जाती है तब टोपी कहता है ऐसा नहीं हो सकता

कि तुम्हारी दादी की जगह मेरी दादी मर जाती। "टोपी और दादी में ऐसा संबंध हो गया था जो मुसलिम लीग, कांग्रेस और जनसंघ से बड़ा था।"[31] इफ़्फन की दादी की मृत्यु के बाद इफ़्फन के पिताजी की बदली मुरादाबाद हो जाती है और टोपी फिर इस संसार में अकेला रह जाता है।

टोपी का बाल्यकाल साम्प्रदायिक शिक्षा के इर्द–गिर्द घूमता है। टोपी हिन्दू–मुस्लिम सियासी राजनीति को समझने का प्रयास करता है। इफ़्फन भी अपने बाल्यकाल में इन साम्प्रदायिक घटनाओं का सामना करता है। इफ़्फन अपने पिता से कहता है "हिन्दू मास्टर हमें जी लाकर नहीं पढ़ाते। हिन्दू लड़के हमको पेरशान करते है। परसों भवानी की मिठाई में मेरा हाथ लग गया तो उसने मिठाई फेंक दी और बोला ऐ मियाँ इ पाकिस्तान ना है।"[32] परन्तु इफ़्फन के पिता उसके प्रश्नों का विवेकपूर्ण उतर देते है। कथाकार ने भारत की तत्कालीन समस्या पर प्रकाश डाला है। किस प्रकार हमारे समाज को साम्प्रदायिकता दीमक की तरह खा रही है और उसका शिकार हमारी आने वाली पीढ़ी हो रही है। साम्प्रदायिकता का जीवन्त उदाहरण हमारे सरकारी स्कूलों में मिलने लगे। जब पण्डित जी का रजिस्टर हिन्दी पढ़ने वालों से भर गया और मौलवी का रजिस्टर उर्दू पढ़ने वालों से। दो भाषा जो हिन्दुस्तान की सांझी संस्कृति की विशेषता है। वह अब धर्म तक सीमित हो गई। इस तरह जब खड़ी बोली ने अपने पैर पसारने शुरू किए तब मोलवी बोले, "लाहौलविला कुव्वत क्या लम्ब जबान है। दो लफ़्ज बोलो तो जबान बेचारी हाँफने लगती है।"[33] विभाजन के पश्चात सांस्कृतिक विघटन हुआ और भाषा भी धर्म बदलने लगी। "उर्दू और हिन्दी एक ही भाषा, हिन्दवी के दो नाम है परन्तु अब खुद देख लीजिए कि नाम बदल जाने से कैसे–कैस घपले हो रहे है। नाम कृष्ण हो तो उसे अवतार कहते है और मुहम्मद हो तो पैगम्बर। नामों के चक्कर में पड़कर लोग यह भूल गए दोनों ही दूध देने वाले जानवर चराया करते थे। दोनों ही पशुपति, गोबरधन और ब्रजकुमार थे।"[34]

टोपी शुक्ला अलीगढ़ विश्वविद्यालय में शोध करता है और इफ़्फन वहाँ इतिहास का प्रवक्ता होकर आता है। टोपी को अपना पुराना दोस्त मिल जाता है परन्तु रिश्तों के मध्य धर्म की एक गहरी खाई है। टोपी और सकीना की अकाल्पनिक प्रेम की अफवाएँ फैलाई जाती है। जिससे तीनों की भावनाएं संतृप्त हो जाती है। टोपी, सकीना से कहता है कि वह उसको राखी बांध दे, परन्तु सकीना मना कर देती है। वह कहती है, "मैं कोई आपा नहीं हूँ मैं जिसे राखी बांधती हूँ वह मर जाता है।"[35] सकीना ने महेश को राखी बांधी तो वह उसके पिताजी को दंगाईयों से बचाते हुए मर गया। सकीना ने रमेश को राखी बांधी तो वह जंग में मर गया। इसलिए सकीना टोपी को राखी बांधने से डर गई, क्योंकि वह टोपी जैसा भाई

खोना नहीं चाहती थी। सकीना धर्म के ठेकेदारों से नहीं डरती थी। भारत में धर्म भीरूता, भक्ति को ज्यादा भयभीत करती है, परन्तु सकीना इन ढकोसलों को नहीं मानती थी। टोपी और सकीना का काल्पनिक प्रेम संबंध इफ़्फन, टोपी और सकीना तीनों के जीवन को प्रभावित करता है, परन्तु इससे किसी के व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ता। तीनों निर्विकार रूप से आडम्बरों का विरोध करते है। टोपी कट्टर हिन्दू होता है वह मुसलमालनों का छुआ नहीं खाता और सकीना कट्टर मुसलिम वह हिन्दुओं का छुआ नहीं खाती। वह टोपी को अपना भाई मानती है। इफ़्फन, टोपी से कहता है, "तुम मुसलमानों से नफरत करते हो, सकीना हिन्दुओं से घिन खाती है। मैं... मैं डरता हूँ शायद। हमारा अंजाम क्या होगा बलभद्र।"[36] विभाग की भ्रष्ट दलगत राजनीति इफ़्फन को जीने नहीं देती। वह डरता है कि कहीं उसकी नौकरी ना चली जाए और टोपी डरता है कि कहीं हिन्दू होने कारण उसे नौकरी नहीं मिलेगी। कथाकार ने यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। विभाजन से ऊपजी बेरोजगारी सामाजिक वैमनस्य का रूप ले लेती है। सियासत नवयुवकों के सपनों पर अपनी योजनाएँ सेकने में लगी हुई है। कहीं धर्म, कहीं जाति तो कहीं अपसी वैमनस्यता देश का भविष्य धुंधला कर रही है। इसी सियासी राजनीति का शिकार टोपी, इफ़्फन और सकीना तीनों होते है। जहाँ पर इफ़्फन की प्रतिभा और टोपी की काबलियत घुटने टेक देती है। ऐसा प्रतीत होता है, "नौकरी ही हमारे युग का सबसे बड़ा ऐडवेंचर है।"[37] टोपी और इफ़्फन की दुनिया इसी शब्द के चारों और घुमती है।

टोपी शेरवानी पहन कर रेलगाड़ी का सकर करता है। रेलगाड़ी में उसका पहनावा लोगों को विचलित करता है। टोपी कहता है, "आप लोग ही मुसलमान को भारत विरोधी दल में ढकेल रहे है। क्या यह शेरवानी मुसलमान है? यह तो कनिष्क के साथ आई थी। यह पाज़ामा कनिष्क का ही है।"[38] अब यह पहनावा ही रह गया है सामाजिक वैमनयस्क फैलाने को।

टोपी के बड़े भाई मुन्नी बाबू और छोटे भाई भैरव दोनों ही अलग–अलग दल से चुनाव लड़ने के लिए खड़े होते है। परन्तु टोपी निष्पक्ष होकर कल्लन के चुनाव प्रचार में उसका साथ देते है। टोपी के पिताजी टोपी की इच्छा के विरूद्ध उसका विवाह रिटायर्ड थोनेदार बालकृष्ण की पुत्री से कर देते है। जिसे टोपी अस्वीकार कर देता है। अंत में पण्डित भृगु नारायण अपने पुत्र वीरभद्र नारायण शुक्ला को घर से निकाल देते हैं।

सलीमा से टोपी का परिचय अलीगढ़ की केन्टीन में होता। टोपी, सलीमा से प्रेम करता है, परन्तु सलीमा किसी और से विवाह कर लेती है। टोपी फिर अपने जीवन में अकेला रह जाता है। टोपी के जीवन की रिक्तता इफ़्फन, सकीना और शबनम भरते हैं।

टोपी का पूरा जीवन एक गाली है। उपन्यास में टोपी के चरित्र की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि वह जिस वस्तु या व्यक्ति से प्रेम करता है, वह धोखे से उससे छीन ली जाती है।

टोपी के जीवन की अंतिम घटना शमशाद मार्केट में घटती है। जिसमें टोपी से इफ़्फन, सकीना और शबनम को हमेशा के लिए छिन लिया जाता है। टोपी और सकीना के अकाल्पनिक प्रेम पर कुछ लोग व्यंग्य करते है। जिससे टोपी को गुस्सा आ जाता है और वह छोटी सी लड़ाई साम्प्रदायिक दंगों का रूप ले लेती है। इसमें टोपी घायल हो जाता है। जब टोपी को होश आता है तो वह खुद को हॉस्पीटल के बिस्तर पर पाता है। यह टोपी के जीवन की सबसे दुःखद घटना है। सकीना उससे रोज मिलने आती है। और कहती है "इफ़्फन ने दाढ़ी मुड़वा दी।"[39] टोपी कहता है "भाई को मैं इतना डरपोक नहीं समझता था।"[40] टोपी रो पड़ता है। उसकी आत्मा झनझना जाती है। वह उस वातावरण में सांस लेने से भी डरता है। साम्प्रदायिक दंगों से डरकर इफ़्फन अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देता हैं। इफ़्फन, टोपी और सकीना तीनों अन्दर से टूट जाते है। टोपी, इफ़्फन को पाकिस्तान जाने को कहता हैं तो इफ़्फन कहता है, "नहीं मैं पाकिस्तान कैसे जा सकता हूँ। मुहर्रम में इमाम हुसैन हिन्दुस्तान आते हैं। इस साल उनसे मुलाकात करके पुछूँगा की सच बोलने की सज़ा आदमी को कब तक मिलती रहेगी।"[41] परन्तु अब ना इमाम हुसैन सुनेंगे, ना कृष्ण क्योंकि सियासत ने हिन्दुस्तान की आजादी को छीन लिया है। इफ़्फन, सकीना और शबनम अलीगढ़ छोडकर कश्मीर चले जाते हैं। इफ़्फन कश्मीर में इतिहास का प्रोफेसर हो जाता है। अब उसे वहाँ यह कोई नहीं पूछेगा कि वह किसका इतिहास पढ़ा रहा है, के. एम. मुंशी की या ख़लीफ़ निज़ामी की। टोपी अंत में सनातन धर्म डिगरी कॉलेज बहराइच में हिन्दी के प्रवक्ता के लिए साक्षात्कार देने जाता है। वहाँ उससे सवाल किया जाता है "आप रसखान को हिन्दू मानते है या मुसलमान?"[42] तब वह कहता है, "मैं तो जायसी को भी हिन्दू मानता हूँ और ग़ालिब और मीर को भी।"[43] टोपी का उत्तर ही तमाचा होता है। जो इन साम्प्रदायिक दलगत प्रशासन को पड़ना जरूरी है। जो प्रशासन इतिहास को धर्म में बांटने पर तुले हो वह किसी प्रवक्ता का निष्पक्ष चुनाव किस प्रकार कर सकते है। "जिस देश की यूनिवर्सिटी में यह सोचा जा रहा हो ग़ालिब सुन्नी थे या शिया और रसखान हिन्दू थे या मुसलमान, उस देश में मैं पढ़ाने का काम नहीं करूँगा।''[44] टोपी ने अपना अंतिम फैसला सकीना को सुना दिया। अंत में जब टोपी शुक्ला उर्फ वीरभद्र नारायण शुक्ला का सनातन धर्म डिग्री कॉलेज, बहराइच में हिन्दी प्रवक्ता के लिए चयन हो जाता है तो वह आत्महत्या कर लेता है, क्योंकि उसने सकीना को कहा था अगर मेरा चयन हो गया तो मैं आत्महत्या कर लूंगा। टोपी के घर जब पुलिस आती है तो उनको दो सुपरफास्ट चिट्टी

मिलती है। एक टोपी के कॉलेज में प्रवक्ता के रूप में चयन की होती है और दूसरी सकीना की राखी की होती है। दोनों का मर्म पुलिस नहीं समझ पाती।

पूरा उपन्यास साम्प्रदायिकता का दस्तावेज है। टोपी की हार पूरी सभ्यता की हार है। मानवीयता की हार है। टोपी की आत्महत्या केवल जीवन की हार नहीं अपितु समाज के मूल्यों का पतन है। टोपी अपने विद्रोही स्वभाव के कारण परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाता है और आत्महत्या कर लेता है। इफ़्फन का निरपेक्ष, उदारवादी दृष्टिकोण और टोपी का विद्रोही दृष्टिकोण दोनों ही परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाते है। उपन्यास का अंत दुःखद है और देश के भविष्य की ओर संकेत करके कहता है यह टोपी, इफ़्फन या सकीना की हार नहीं है यह पूरी सभ्यता की हार है। यह सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन नहीं यह पैगम्बर और कृष्ण की सामासिक विरासत का विघटन है।

6.3 दिल एक सादा कागज़ :–

'दिल एक सादा कागज़' गाज़ीपुर के ज़ैदी विला की कहानी है। 'ज़ैदी विला' उपन्यास में एक घर का नाम है। जिसमें हिन्दुस्तान, बांग्लादेश और ज़ैदी विला का त्रिकोणीय संघर्ष है और इस त्रिकोणीय संघर्ष का केन्द्र बिन्दु है 'रफ्फ़न'। "ज़ैदी विला का भूत रफ़्फन के कई रूप है। वह सय्यद अली, रफ़अत ज़ैदी, बागी आज़मी के रूप में बहरूपिया हैं। ज़ैदी विला काज़ी टोला मुहल्ले में गंगा के किनारें बना एक घर था। रफ़्फन के दादा कर्नल साहब, रफ़्फन के पिता भाई जानू, अब्दुस्मद, मौलवी साहब सभी इसी ज़ैदी विला के हिस्से हैं। इनके बिना ज़ैदी बिला, खण्डहर से बढ़कर कुछ नहीं। अब्दुस्मद एक बावर्ची है जो ज़ैदी विला के स्टेटस सिम्बल है। क्योंकि वह कई कलेक्टरों के घर खाना बना चुके थे। अब्दुस्मद, कर्नल साहब मिस नोर्थ ज़ैदी विला के शान थे। ज़न्नत, मिस नार्थ रब्बन बी, बेगम ज़ैदी, मन्तों बुआ, फुक्कू ज़ैदी विला के अनछुए पहलु हैं। ज़ैदी विला की आत्मा रफ़्फन में निवास करती हैं। सभी रफ़्फन के प्रश्नों से भी पेरशान रहते हैं। वह ऐसे प्रश्न पूछता है जिसका जवाब उसे कोई नहीं दे पाता। सैदानी बी हर वर्ष ज़ैदी विला आती है। उनके पास ताज़महल का एक रोज़ा होता है, जो बीवियों का रोज़ा कहलाता है। वह अजीब अजीब सी कहानियाँ सुनाती हैं। इसलिए रफ़्फन को कर्नल साहब की मूछों के बाद सिर्फ अल्लाह मियाँ से डर लगता हैं। ज़ैदी विला का भूत रात को भी नहीं सोता। उसे जन्नत बाजी अच्छी लगती है। रफ़्फन की कई वेबकूफियाँ थीं। इन्हीं वेबकूफियों के कारण भाई जानू का जन्नत से निकाह हो जाता है। जैदी बिला में शहनाईयाँ बजने लगती है

लोकगीत और गालियाँ गाई जाती है और ज़ैदी विला फिर से जी उठता है। ज़ैदी विला का बचपन विभाजन के पहले का है और जवानी विभाजन के बाद की।

रफ़्फन अलीगढ़ विश्वविद्यालय में पढ़ता है। अब वह बाग़ी आज़मी हो गया। भाई जानू के पाकिस्तान चले जाने के बाद ज़ैदी विला को कस्टोडियन ने नीलाम कर दिया। अब उसमें गुरूचरण शाह आ गए। विभाजन के बाद स्थितियाँ बदल गई, परन्तु रफ़्फन पाकिस्तान नहीं गया। उसे ज़ैदी विला से बहुत प्यार था। उसकी आत्मा ज़ैदी विला में ही निवास करती थी। जन्नत का विवाह सैयद अली रफ़अत ज़ैदी हिस्ट्री के टीचर से हुआ। रफ़्फन अपनी जन्नत को 103, सट्टी मस्जिद में नहीं रखना चाहता था। उसे नारायण गंज हाजी मस्तान नेशनल डिगरी कॉलेज में हिस्ट्री पढ़ाने की जगह मिल गई। इस तहर ज़ैदी विला के बाद अलीगढ़ भी रफ़्फन से दूर हो गया। नारायणगंज से रफ़्फन की जिन्दगी दूसरी दिशा में मुड़ गई। "नारायण गंज उन दोगली बस्तियों में से एक था जिसे न शहर कह सकते हैं न गाँव।"[45] नारायण गंज एक प्रगतिशील मौहल्ला था या यूँ कह सकते हैं कि अभी–अभी प्रगतिशीलता के यौवन से गुजर रहा था। नारायण गंज में एक महिला सुधार समिति बनाई गई, जिसकी लीडर थी शारदा। शारदा में राजनीति के कीड़े भरे हुए थे। शारदा के बाद उसका पिता केला तम्बोली खड़ी बोली बोलने लगा और उसने अपने घर में पाखाना बनवाने का निर्णय लिया। जिसने पूरे नारायण गंज में हलचल मचा दी। ठाकुर साहब के इज्ज़त की बात आ गई। मक्खनलाल जो कांग्रेस के लिए चुनाव लड़ना चाहता था उसे एक तरीका मिल गया अपना पैर जमाने के लिए। इस लड़ाई में "बस एक मक्खनलाल ऐसे थे जिनका कुछ भी दांव पर नहीं लगा हुआ। इसलिए वह बाज़ी खेलने बैठ गए। जीत गये तो पौबारा है। हार गये तो अपनी गिरह का क्या गया।"[46] जन्नत के लिए यह सभी नया था। सायरा बी बोली, "अमोली तम्बोली भी पाखाने में हग्गे लगिहें त शरीफ लोग का करिहें?"[47] "अल्लाह गारत करे इ झाड़ू मारी कांगरेस को। ज़मींदारी का गयी कि शिराफत चली गयी। जेको देखो ऊहें पक्का घर बनवाये में लगा है।"[48] इसके बाद जन्नत को पता चला की पाखाना बनवाना नारायणगंज में एक स्टेटस सिम्बल से कम नहीं। नारायण गंज उन बस्तियों में था। जो समय के साथ आगे तो बढ़ रही थी परन्तु उसकी आत्मा अभी भी बूढ़ी थी। समाज के अन्दर एक नया समाज पैदा हो रहा थी। ज़मींदारी खत्म हो गई थी। निम्न वर्ग के लोगों को अधिकार दिए जा रहे थे। कांग्रेस, जनसंघी कम्पयूनिस्ट पार्टी का टिकट लेने को लोग हाथ पैर मार रहे थे। एम.एल.ए., एम.पी. की आमदनी कम होती है परन्तु ऊपर की कमाई ज्यादा होती है। श्री मक्खन लाल चुनाव लड़ने के पैतरें लगा रहे थे। उन्होंने केला तम्बोली को न्याय दिलवाने के लिए भूख

हड़ताल कर दी और इस तरह मक्खन लाल का राजनीतिक जीवन रफ़्तार पकड़ गया। उनकी तक़रीर जनता से कुछ इस प्रकार थी। "प्यारे भाईयों और बहनों महत्व पाखाने का नहीं। लड़ाई मानव जाति के अधिकारों की है। मैं पूछता हूँ कि क्या ठाकुर साहब हीरा–मोती हगते है कि उन्हें पक्की खुड्ढी की ज़रूरत पड़ती है फरागत होने के लिए? स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी, ज़मींदारी के अबालीसन के बाद भी जनता फरागत करने के लिए खेतों–खेतों मारी मारी फिरे? मैनें तो पिछली मरतबा मुख्यमंत्री से साफ–साफ कह दिया था कि यदि सरकार ने भाई श्री केलाराम जी के पाखाने में पूरा सहयोग न दिया तो नाराणगंज की जनता इस अपमान को सहन नहीं करेगी। मुख्यमंत्री दांत निपोड़ के ही–ही करने लगे और बोलें माखनलाल जी आप कांग्रेस में भरती हो जाइए तो केलाराम जी का पाख़ाना सरकार अपने खर्चे से बनवा देती। मैंने कहा मक्खनलाल तो अपनी जनता में भर्ती हो चुका है। पर यदि आप आज्ञा दें तो मैं कांग्रेस के टिकट पर भी चुनाव लड़ने को तैयार हूँ।"[49] जब पाखाना बन गया तो केला तंबोली हिसाब लगाने लगा कि पाखाना बनवाने का कुल खर्च साढ़े उन्नीस हजार बैठा। जिसमें नौ हजार पाखाने पर खर्च, पाँच सौ मुकदमें पर, दस हजार घूस–जलसे–जुलूस पर और पांच हजार तो मक्खनलाल ने ही ले लिए भूख हड़ताल के।

रफ़्फन, रामावतार और चन्द्रशेखर तीनों बचपन के दोस्त थे। नारायणगंज में इन तीनों का मिलन फिर से हो जाता है। रफ़्फन नारायण गंज में हिस्ट्री का टीचर बन जाता हैं। उसे यह नहीं पता होता कि रामावतार को निकाल कर उसे टीचर रखा गया है परन्तु रामावतार, रफ़्फन और जन्नत से मिलकर खुश होता है। रामावार 'वर्तमान' पत्रिका का सम्पादक होता है। चन्द्रशेखर एक ट्रेड यूनियनिस्ट होता है।

'वर्तमान' पहले 'इमरोज' नाम से छपती थी। इसमें दाग़ साहब की बेदाग़ गज़ले छपती थी। जब रामावतार इसमें आया तो 'इमरोज' को प्रगतिशील होना पड़ा। जब रामवतार ठाकुर साहब के खिलाफ लिखने लगा तो दाग साहब ने बोला "तुम लोगों को यह सब छापना है, तो भय्या मैं तो साफ़ बात कहता हूँ, खरीद लो इस प्रेस को।"[50] इस तरह रामावतार, कालीचरण और शारदा ने मिल कर प्रेस खरीद लिया। शारदा का जीवन महिला सकेट्री बनने के बाद बदलने लगा हैं। वह नारायण गंज की सड़कों पर साईकिल चलाने लगती है। तंग सलवार और कुर्ती की घुटन सिर्फ रामावतार महसूर कर पाता है। शारदा रामावतार से दूर होने लगी है। शारदा अंत में चीफ साहब की हवस का शिकार हो जाती है। कोर्ट में केस चलता है। रफ़्फन से कई सवाल पूछे जाते है। इस तरह नारायण गंज रफ़्फन की एक बुरी याद बन कर रह जाता है। माला, जी. साहब से शादी कर लेती है।

डॉ. रामकुमार चीफ एडमिनिस्टेटर हो जाते है। डॉ. खान राष्ट्रपति के परसनल फिजीशियन बन जाते है। चन्द्रशेखर को जेल हो जाती है। रामावतार नारायण गंज कांग्रेस कमेटी का सेकेट्री बन गया। रफ़्फन जन्नत के साथ बम्बई आ जाता है। वह पटकथा लेखक बन जाता है। "रफ़्फन भी इसी दोराहे पर था। साहित्य जरूरी या घर का किराया? साहित्य का महत्व ज्यादा है या राशन कार्ड का? जिन्दगी को एक खूबसूरत नज़्म, एक उदास चौपाई ज्यादा खूबसूरत बनाती है या पत्नी की एक आसूदा मुसकुराहट? ग़ालिब का दीवान या धोबी का हिसाब? लड़ाई या कम्प्रोमाइज़?"[51] वह अपनी कहानी बेचने प्रोड्यूसर के पास जाता है। जहाँ उसे भैरवी मिलती है। यह भैरवी नारायणगंज की शारदा होती हैं। अब वह छोटे प्रोड्यूसर शाहजादा कश्मीरी की बहन हो गई। जिसकी जांघ पर हीरो ने अपना हाथ रख रखा है। जिसे वह हंसते हुए उठाना भूल गया है। शारदा का भाई कालीचरण अब कालीचरण नहीं रहा। अब वह छोटी हीरोईन यानि भैरवी का जनरल सैकेट्री हो गया है और सबसे बड़ी बात उसने रफ़्फन को पहचानने से साफ इंकार कर दिया है। इसलिए रफ़्फन ने काम्प्रोमाइज कर लिया। उसकी कहानियाँ चल पड़ी। अब वह चेम्बूर के एक सड़े फ्लेट से पाली हिल्ज़ में रहने आ गया। बाग़ी आज़मी का नाम फिल्मी दुनिया में चल पड़ा और फिर रफ़्फन ने जाना "हिन्दुस्तान के बड़े शहरों में इधर एक नाया क्लास पैदा हो गया है। जिसके लिए स्मग्ल्ड कपड़े पहनना, स्मगल्ड सिगरेट पीना, स्मगल्ड ख़यालात रखना स्टेंटस सिम्बल हो गया।"[52]

भाई जानू बांग्लोदश चले गए थे और वहाँ पढ़ा रहे है और रफ़्फन को भी पाकिस्तान आने के लिए खत लिखते है। वे लिखते है ढाका विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाने की जगह खाली है। रफ़्फन उनका खत पढ़ कर सोचता हैं, ''मैं उस मुल्क़ में हिस्ट्री पढ़ाने क्यों जाऊँ जिसके पास अपनी कोई हिस्ट्री ही नहीं है।"[53]

भाई जानू को लगता था कि शहरबानों और उनके बेटे सय्यद अली सफ़अत को पाकिस्तान को कोई उर्दू नहीं सीखाएगा इसलिए वह शरबानों को कराची भेजना चाहते हैं और रफ़्फअत अली को लंदन। "रामावतार कहता है कि अगर उर्दू भाई जानू के साथ पाकिस्तान चली गई है तो यह मौलवी अली अहमद अजिज़ और प्रोफेसर अलो–अहमद सुरूर हिन्दुस्तान में किसके लिए हाय मचा रहे है।"[54] "और भाई जानू क्या वहाँ सिर्फ अच्छी उर्दू के लिए तरस रहे हैं?"[55] "गाज़ीपुर के लंगड़ो मलीहाबाद के दसहरी, रामपुर के समर बहिश्त तो जैसे उन्हें रोज खाने को मिल जाते होंगे और मीर, ग़ालिब और अनीस की तो उन्होंने ढाके में क़लमें लगवा ली होंगीं और वहाँ के जामुन के पेड़ों पर तो गिरजापूरी कजरी के फल आते होगें।"[56] कई सवाल रफ़्फन के सामने आकर खड़े हो जाते है। भाई

जानू ने विभाजन के बाद हिन्दुस्तान को छोड़ दिया। मुसलमानों के मुल्क में भी वह शरणार्थी बन कर रहे थे। जन्नत भाभी जो रफ़्फन को जान से भी अधिक प्रिय थी, उनसे जबरजस्ती किसी बिग्रेडियर न्याजी से शादी कर ली। शरबानों के साथ जनरल न्याजी की इस्लामी फौज के सिपाहियों ने कई रातें गुजारी थी और वह अब माँ बनने वाली थी। और उसके कंवारेपन की जिल्लत की कहानी उसके चेहरे पर जैसे उर्दू लिपि में लिखी हुई थी, क्योंकि रफ़्फन ने उसे साफ–साफ पढ़ लिया था।"[57]

भाई जानू उर्फ़ अली सामिन हिन्दुस्तान से शरणार्थी बन कर गए थे और अब वह मेरठ कैम्प में शरणार्थी बनकर रह रहे है। रफ़्फन ने फिल्मी दुनिया में बहरूपिये का मुखौटा पहन लिया है। उसने गुरूशरण से जैदी विला को वापस खरीद लिया है। रफ़्फन की जिन्दगी के चार कटु अनुभव जिसने रफ़्फन की जिन्दगी पूरी तरह बदल दिया।

पहला अनुभव : गुलबहरी और अनाज की कोठरी
दुसरा अनुभव : जन्नत बाजी (या भाभी) और दुल्हन का कमरा।
तीसरा अनुभव : पाकिस्तान का सफर।
चौथा अनुभव : जन्नत और ब्रिगेडियर न्याजी।

अन्त में रफ़्फन की आवाज यह कह सकी "जिन्दगी को तजरबों के गज़ में नापना चाहिए। भाई जानू पाकिस्तान इसलिए गए थे कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों की इज्ज़त आबरू महफूज नहीं थी और अब उनकी इज्ज़त आबरू ढाके में दुरूद पड़ रही है।"[58]

"यह कहानी शुरू हुई तो ढाका हिन्दुस्तान में था। फिर वह पूरबी पाकिस्तान में होने लगा और कहानी के खत्म होते–होते बांग्ला देश में हो गया। एक तरह से यह ढाका की इस यात्रा की कहानी भी है, हांलाकि ढाका इस कहानी में कहीं नहीं है पहले वहाँ से खत आना शुरू होते है और रिफ़्यूजी बस।"[59] हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और जैदी विला का त्रिकोणीय संघर्ष रफ्फन के जीवन की दुःखद त्रासदी से बढ़ कर कुछ नहीं।

6.4 असंतोष के दिन :–

अंतोष के दिन (1986) में प्रकाशित राही मासूम रज़ा का अंतिम उपन्यास है। उपन्यास की कथा भूमि 1984 के सिख हिन्दू दंगो से ली गई है। 1984 तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की हत्या हिन्दू सिख दंगों का जीवन्त उदाहरण है। पंजाब के अकाली दल के नेता जनरल सिंह भिण्डारवाला ने स्वर्ण मन्दिर के हरिसाहिब मंदिर पर कब्ज़ा कर लिया था। वह पंजाब को भारत से स्वतंत्र राज्य खालिस्तान घोषित किए जाने

की मांग कर रहा था और पंजाब को हिन्दुओं से मुक्त करवाना चाहता था। इससे देश में आतंकवाद का भी खतरा बढ़ रहा था। तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने आतंकवादी गतिविधियों को रोकने के लिए ऑपरेशन 'ब्लू स्टार' का गठन किया। भारत की एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए देश में अराजकता के माहौल को खत्म करने के लिए यह एक सहासी कदम था। ऑपरेशन 'ब्लू स्टार' में जनरल भिण्डारवाला मारा गया । पंजाब में आतंकवादी गतिविधियाँ समाप्त हो गई, परन्तु इसका परिणाम बड़ा दुःखद रहा। 31 अक्टूबर 1984 को इन्दिरा गांधी को उनके अंग रक्षक बेअंत सिंह व सतवंत सिंह ने गोली मार दी।

"असंतोष का एक मौसम खत्म भी नहीं हो पाया कि असन्तोष का दूसरा मौसम शुरू हो गया।"[60] यही पंक्तियाँ उपन्यास की मूल संवेदना है। अभी हम 1947 के विभाजन की त्रासदी से उभर भी नहीं पाएँ थे कि 1984 ने उन ज़ख्मों को वापस हरा कर दिया। उपन्यास का प्रारम्भ आकाशवाणी में बताएँ गए मरने वालों की संख्या से होता है। रेवती का फोन लन्दन से आता है। वह अब्बास से बम्बई के माहौल के बारे में पूछता है। रेवती और सलमा का अन्तर्जातीय विवाह हुआ है। सलमा, अब्बास की बहन है। सलमा और रेवती का विवाह परिवार के विरूद्ध जाकर होता है। अब्बास ने ही सलमा और रेवती का विवाह करवाया था। "वह जानता था कि इश्क पोस्टल ऐडरेस नहीं पूछता पर वह हमेशा ठीक पते पर पहुंच जाता हैं।"[61] सलमा की दो बेटियाँ है, तसनीम सत्रह साल की और तहसीन पन्द्रह साल की है। तसनीम उर्दू बोल लेती है। परन्तु पढ़–लिख नहीं पाती। इसका सलमा को बहुत दुःख है। तसनीम अपने नीग्रो फ्रेण्ड की बर्थडे पार्टी में जाती है, तो सलमा कहती है "खाकपड़ी को वह कलूटा ही पसंद आया।"[62] "साढे सत्तर बरस पहले मुहल्ला सैयदवाड़े की बड़ी बुढ़िया खुद सलमा के बारे में ऐसी बात कह चुकी थी। खाकपाड़ी को वह मुआ हिन्दू ही पसंद आया। सन् 66–से सन् 84 तक 18 वर्ष में सिर्फ एक शब्द 'हिन्दू' की जगह' कलूटा' आ गया। सन् 66 की क्रांतिकारी सलमा सन् 84 तक आते– आते जब 17 वर्ष की तसनीम की माँ बनी तो अतीत की दल–दल में गिरी और बड़ी बाजी बन गई।"[63] हम कितने भी सभ्य हो जाए परन्तु हमारे अन्दर कहीं न कहीं पुरानी सड़ी–गली परम्पराएँ, रीति–रिवाज आज भी साँस ले रहें है। जो हमें पूरी तरह ना तो मुक्त होन देते है ना पूरी तरह रूढ़िवादी बनने देते हैं। बस बीच की धारा में केवल प्रगतिशीलता की चादर ओढ़ा दी जाती है। सलमा, सैयदा डॉ. विष्णु मेहरोत्रा और उनकी पत्नी कान्ता इसका जीवन्त उदाहरण हैं। जो कभी धर्मनिरपेक्षता की ऊहापोह से बाहर नहीं आ पाते और अपने बनावटीपन की सीमा में कैद होकर रह जाते है।

अब्बास मूसवी 'अदब' मासिक का सम्पादक होता है। "मूसवी उन लोगों में था जो साहित्य और राजनीति को अलग–अलग खानों में रखते है।"[64] वह धर्म की दीवारों को रिश्तों के मध्य आने नहीं देता है। इसी कारण उसने सलीमा का रेवती से विवाह करवाया। उसने माज़िद और संगीता के साथ–साथ रवि और फ़ात्मा का भी रिश्ता स्वीकारा। असल में अब्बास निरपेक्ष चरित्र है। वह धर्म की ढकोसली रूढ़ियों को नहीं मानता। उसके लिए मानवता सबसे बड़ा धर्म है। जब बर्क़ साहब की दंगो में मृत्यु हो जाती है तो वह धर्माधिकारी से कहता है, "तो डॉक्टर से कहो न यार कि बर्क़ साहब का दिल चीरकर दूर तक देखे। देखना चाहिए ना कि उसमें से क्या–क्या निकलता है।"[65] अब्बास का मन बम्बई के साम्प्रदायिक वातावरण से बहुत विचलित है। वह सम्पादकीय में लिखता है, "बम्बई श्री बाल ठाकरे की है, तमिलनाडू डी. एम. के. या अन्ना डी. एम. के. का है, आन्ध्र श्री एन.टी. आर. का है, कनाटक श्री राजकुमार का, पंजाब संत भिण्डार वाले का है, असम एक बड़े टेढ़े नामवाली संस्था का है, बनारस भवानी शंकर का है, अजमेर मुईनुद्दीन चिश्ती का, यू. पी. एटा के डाकूओं का है और राजस्थान चम्बल के डाकूओ का, श्री नगर डॉ. फारूक अब्दुल्लाह का है, अमेठी मेनका गाँधी या राजीव गांधी की है पर मुझे कोई सारे जहाँ से अच्छा जो हिन्दुस्तान है, उसका पोस्टल ऐडरेस नहीं बताता। यह नहीं बताता की हिन्दुस्तान का दाखिल खारिज़ किसके नाम है। यह नहीं बताता कि हिन्दुस्तान किसका है। ऐ लावारिस मुल्क तू मेरा है।''[66] लिखते–लिखते अब्बास की अन्तर्आत्मा झनझना गई। ऐ लावारिस मुल्क तू मेरा है या मैं भी तेरा हूँ या फिर मैं भी तेरी तरह लावारिस हूँ।

सैय्यदा का चरित्र विरोधाभास लिए हुए हैं। सैय्यदा को श्रीमती गांधी पर अटूट विश्वास है। आपातकाल के समय अब्बास को पुलिस आकर पकड़ ले गई तो उसका विश्वास नहीं डिगा "इल्ज़ाम यह था कि वह सरकार का तख़्ता उलटने–पलटने की कोशिश कर रहा है। इश्क़िया शायरी करने वाला और मासिक 'अदब' निकालने वाला अब्बास संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र का तख़्ता उलटने की कोशिश कर रहा है।"[67] सैय्यदा दंगे होने पर हिन्दुओं को गालियाँ भी देती है और अपने नौकर राममोहन के परिवार के लिए चिन्तित भी है। वह माज़िद और संगीता के रिश्ते को स्वीकार भी करती है और फ़ात्मा और रवि के संबंध को अस्वीकार।

मुंशी गोपीनाथ उर्फ़ बर्क़ साहब औरंगाबादकर की दंगों में मृत्यु हो जाती है। वह मुम्बई संवाद लेखक बनने आते है। फिल्म डारेक्टर को मुंशी गोपीनाथ का नाम पसंद नहीं आता तो वह उसके पीछे बर्क़ जोड़ देते है। यही बर्क़ अंत समय तक उनके साथ रहता है। बर्क़ साहब की माता हिन्दू वैष्णवी होती है और पिता मुसलमान, परन्तु कभी भी बर्क़ साहब

के पिता ने अपनी पत्नी को धर्म परिवर्तन करने पर मजबूर नहीं किया। बर्क़ साहब को 62 साल जीने के बाद पता चला कि वह हिन्दू है।

कथाकार तत्कालीन परिस्थितियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं। धर्म सिर्फ हिन्दू, मुसलमान, सिख ईसाई तक सीमित नहीं। "अब तो हिन्दुओं और सिखो में भी नयी शाखें निकल आई है। कांग्रेसी हिन्दू, कांग्रेसी हरिजन हिन्दू, कांग्रेसी ब्राह्मण हिन्दू, बी. जे. पी. हिन्दू, लोकतंत्र हिन्दू, जनता पार्टी हिन्दू, आर. एस. एस. हिन्दू, मराठा हिन्दु आदि आदि।"[68] विभाजन के बाद देश में मुसलिम अल्पसंख्यक हो गए। वह एक कटी पतंग के समान हो गए है। "मुसलमानों के पास कोई क्षेत्रीय पहचान नहीं रही। हमारी राजनीति भी मुसलमान को केवल एक धार्मिक पहचान देती है।"[69] इसी कारण देश की अराजकतावादी स्थिति है।

अब्बास मुसवी़ और धर्माधिकारी दोनों बम्बई के साम्प्रदायिक माहौल से खिन्न थे। उन्हें इस वातावरण में आशा की कोई उम्मीद नज़र नहीं आ रही थी। धर्माधिकारी ने अब्बास को कहा "आप तो शीआ है। आप तो पाकिस्तान में भी महफूज़ नहीं है। वहाँ सुन्नी मार डालेगें?"[70] धर्माधिकारी की यह बात सुनकर अब्बास के मन में फिर वहीं बात कौंध गई "ऐ! लावारिस मुल्क तू मेरा है।" नफरतों को कोई मौसम नहीं होता है। वह पतझड़ की तरह होती है। जो बसंत के जाने का इंतजार करती है। इसी प्रकार असंतोष का भी कोई मौसम नहीं होता।

ज़र्रीक़लम मीर अली अहमद, ज़ौनपुर वाले तुकाराम मिराजकर के वंशज थे, परन्तु उनको यह पता नहीं था। उन्हें तो शिवाजी पार्क में होने वाले एक हिन्दू मराठी नेता का भाषण याद आ रहा था "यह मुसलमान कैंसर है।"[71] "एक आदमी छत्रपति शिवाजी महाराज की मूर्ति के नीचे खड़ा छत्रपति शिवाजी महाराज की सेना के एक सिपाही तुकाराम मिराजकर के पड़पोते के बारे में यह कह रहा है कि वह कैंसर है और उसे काट कर फेंक देना चाहिए।"[72] तुकाराम मिराजकर को एक मुस्लिम महिला से प्यार हो गया था। वही जन्नत भटिहारी बड़ी कट्टर शिया मुसलमान थी, परन्तु दोनों में प्रेम हो गया। इनका प्रेम परवान चढ़ा और इस तरह तुकाराम मिराजकर का एक सिलसिला सैयद हो गया।

ज़र्रीक़लम जवाहर नगर में रहते थे और घर जाते–जाते यह सोच रहे थे दंगो में एक पहनावा और जुबान बहुत बड़ी चीज है। इसी से आदमी की पहचान होती है। नहीं तो हत्यारे पेण्ट सरका कर बोलते है कि उसने अपने धर्म वाले को मार दिया। "साला मिशटेक हो गया।"[73] ज़र्रीक़लम की बेटी हलीमा की शादी मुर्तुज़ा चाचाजाद भाई से हुई थी। इस कारण मुर्तुज़ा को उसके पिता ने घर से निकाल दिया था हलीमा अपने पिता जर्रीकलम के

यहाँ ही रहती थी। मुर्तुजा अबूधाबी चला गया था। वहाँ से पैसे भेजता था। जिससे ज़र्रीकलम के घर सोनी का कलर टी.वी. और नेशनल का वी. सी. आर आ गया।

यह "जवाहर नगर भारतीय राजनीति का चबुतरा था।"[74] नट्टा करीम ने जवाहरनगर में पहली शिवसेना की मुस्लिम शाखा खोली थी। नट्टा करीम के बाद जवाहर नगर में कांग्रेस आई। जिसके अध्यक्ष श्री अमीर ज़ादा कुरेशी थे और उनकी बिरादरी की जवाहर नगर में पाँच सौ से ज्यादा झोपड़िया थी। अमीर ज़ादा मोहल्ले में कांग्रेस की शाखा की आड़ में गलत काम भी करता था। जिसमें शराब और कोकीन का धंधा शामिल था। नट्टा करीम को अमीर ज़ादा कुरेशी का बढ़ता वर्चस्व बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। औरंगजेब, पहले अमीर ज़ादा के गिरोह में था। दोनों का गठजोड़ मजबूत था। जिससे नट्टा करीम की रातों की नींदे हराम थी। नट्टा करीम चाहता था कि दोनों का गठजोड़ किसी न किसी प्रकार तोड़ दिया जाए। नट्टा करीम लगातार दो वर्ष की मेहनत से अमीर ज़ादा को यह यकीन दिलवाने में कामयाब हो गया कि औरंगजेब इन्द्रानगर के लम्बे कालेकर के साथ मिलकर उसका कत्ल करवाना चाहता है। उपस्वास्थ्य मंत्री फूलमती गायकवाड़ को अमीरज़ादा पंसद नहीं था और जवाहर नगर उनका चुनाव क्षेत्र था फिर एक दिन वह भी आ गया जब इस षडयंत्र को साकार रूप दिया जाना था। जवाहर नगर और इन्द्रा नगर के बीच एक मैदान था। जहाँ औरगंजेब नमाज़ पढ़ा करता था। वहीं कालेकर ने एक दिन गणपति महोत्सव मनाने का निर्णय लिया और आपसी तू–तू मैं–मैं शुरू हो गई "इन्द्रा नगर ने फौजदारी का मुकदमा दायर कर दिया। अमीर ज़ादा कहता था कि यह जगह तीस बरस से जवाहर नगर की ईदगाह है। कालेकर कहता था कि गणेश चबूतरा है।"[75] इस तरह दोनों बस्तियों में तनाव बढ़ने लगा। कथाकार यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता है कि सत्तारूढ़ दल काई भी क्यों न हों, वह अपनी ताकत सत्ता में बनाएँ रखना चाहता है। वह इसके लिए कभी नट्टा करीम को मोहरा बनाती है, तो कभी अमीरज़ादा को, जिसका कद सत्ता में ऊँचा होने लगता है तो वह उसको खत्म कर देना चाहती है।

"समगलिंग x दादागिरी = राजनीति

ज़बान x भाषा = राजनीति

धर्म x मज़हब = राजनीति

चूंकि समगलिंग x दादागिरी = राजनीति

चूंकि धर्म x मजहब = राजनीति

इसलिए समगलिंग x दादागिरी = धर्म x मजहब

और अगर इन सबको जोड़ दे तो हासिल जमा लाश।" [76]

अंत वही हुआ जो सदियों से होता आया है। जब साम्प्रदायिक दंगो का रूख जवाहरनगर की तरफ हुआ तो नट्टा करीम अपने आदमियों को लेकर भिण्डी बाजार चला गया। लम्बा कालेकर ने अपना परिवार वहाँ से हटा दिया। "कर्माकर ने कालेकर के आदमियों को घासलेट, सोड़े की बोतलें और देसी बम सप्लाई किये जिसका खर्च उपस्वास्थ्यमंत्री के चुनाव फण्ड से दिया गया।"[77] बलवें में ज़र्रीक़लम मीर अली अहमद ज़ौनपुरी का पूरा परिवार खत्म हो गया। धर्माधिकारी सिर्फ ज़र्रीक़लम की ही लाश पहचान सका। "जिस वक्त जवाहर नगर में लाशें शिनाख़्त की जा रही थी उस वक्त लम्बा कालेकर नट्टा करीम के साथ उसके बहनोई के मुहम्मद अली रोड़वाले घर में हलीमा के घर से उठवाएँ हुए वी. सी. आर. पर यश चौपड़ा की फिल्म 'दीवार' देख रहा था।"[78] वस्तुस्थिति स्पष्ट है। राजनीति का शिकार वो लोग हुए जिनसे इनका कोई संबंध नहीं था बस जब भी दंगे होते अखबारों में मरने वालों की संख्या जरूर आ जाती। सरकार रीलिफ फण्ड जारी कर देती ओर फिर वही लोग टेबल पर मिलकर उस रिलिफ फण्ड का अपना–अपना हिस्सा बाँट लेते।

हिन्दुस्तान, अनेकताओं में एकता का देश है। औपनिवेशिक ताकतों ने हिन्दू और मुस्लिम को जिस प्रकार अलग किया है। यह एक बड़ी सोची समझी साजिश थी। अब्बास इस साम्प्रदायिक वातारवण से बहुत निराश हो जाता है। वह सैय्यदा से कहता है "मैं दाढ़ी रख रहा हूँ और अब वाहिद की मुसलमानी कर देना चाहिए।" सैय्यदा यह सब सुन कर परेशान हो जाती है, क्योंकि उसने अब्बास को इस तरह निराश कभी नहीं देखा। वह सोचने लगती है "अब्बास की आवाज पर कड़वाहट और पराजय की यह धूल न जमने दे। फ़ात्मा, माज़िद और वाहिद को मैं कड़वाहट का यह ज़हर चटाकर पालना नहीं चाहती। मुझे संत जनरैल सिंह भिण्डारवाला, सरदार खुशवंत सिंहों, बाल ठाकरों, बनात वालों, शाही इमामों या देवरसों से क्या लेना–देना मुझे तो अपने घर के नीचे बहने वाली गंगा कभी हिन्दू लगी न मुसलमान। मुझे हरिशंकरी वाला बूढ़ा मन्दिर भी कभी कट्टर हिन्दू नहीं दिखाई दिया।"[79] वह सोचती है इस बम्बई को क्या हो गया सपनों की बम्बई को, जो कभी सतरंगों वाली थी। आज सिर्फ एक ही रंग में क्यों होली खेल रही है। वह अपने परिवार के लिए चिन्तित हो गई और सबसे बड़ी चिंता अब्बास का व्यवहार था। जो अचानक दाढ़ी रखने लगा ओर वाहिद की मुसलमानी कराने पर उतारूँ हो गया।

विष्णु मेहरोत्रा कांग्रेसी थे। यह विष्णु जी की तीसरी पीढ़ी थी जो कांग्रेसी थी। ''विष्णु जी का फैमिली अलबम राष्ट्रीय इतिहास की कोई किताब लगता था।"[80] उनके घर

में बातें भी साम्प्रदायिकता की होती थीं। यही वातावरण संगीता और रवि को मिला। रवि, फ़ात्मा से प्रेम करता था और माज़िद, संगीता से। माज़िद और फ़ात्मा को अपने परिवार से कोई डर नहीं था। चूंकि उन्हें बचपन से ही उन्मुक्त वातावरण मिला था। जब सैय्यदा को फ़ात्मा और रवि के प्रेम की बात पता चली तो उसने कहाँ, "बेटे की बात और है। वह चाहे जिसे ले आये पर बेटी को हिन्दू तो हिन्दू है सुन्नी से नहीं ब्याहूंगी।''[81] अंत में वह व़ाहिद को लेकर अपने भाई के घर चली जाती है। विष्णु जी को जब यह बात पता चलती है कि सैय्यदा घर छोड़ कर चली गई है तब वह कहते है, "इन मुसलमानों में यही भारी दोष है। भाषण देंगे क्षेत्र और धर्मनिपेक्षता पर परन्तु हिन्दू के लड़के से बेटी नहीं ब्याहेंगे पर सैय्यदा को मैं तो सेकुलर समझता था।"[82] विष्णु जी भी सैय्यदा की तरह संकुचित विचारधारा के व्यक्ति होते हैं। उन्होंने रवि, फ़ात्मा का तो रिश्ता स्वीकार कर लिया था परन्तु संगीता और माज़िद का नहीं।

जब अब्बास विष्णु महरोत्रा के घर म़ाजिद और फ़ात्मा की बात करने जाते है तो विष्णु जी कहते है। "वास्तव में हमीं लोगों को मिसाल बनानी पड़ेगी। यदि आपको कोई ऐतराज न हो तो रवि ओर फ़ात्मा का विवाह करके हम मिसाल कायम करें।"[83] अब्बास कहता है, "रवि फ़ात्मा के साथ–साथ माज़िद भी संगीता से प्रेम करता है। इसलिए दोनों मंगनियाँ एक साथ ही जो जानी चाहिए। मंगनी अभी किये देते है, निकाह होता रहेगा।"[84] यह बात सुनकर कान्ता और विष्णु मेहरोत्रा चौंक जाते है। विष्णु जी कहते है ''मैंने अभी संगीता का रिश्ता स्वीकार नहीं किया है। मैं हिन्दू–मुसलमान के चक्कर में नहीं पड़ता। मेरा धर्म मानवता है।"[85] विष्णु जी स्वयं को बड़े मानवता के हिमायती बताते है, परन्तु उनकी कथनी–करनी में फर्क होता है। जहाँ वह संगीता का रिश्ता नहीं स्वीकार करते वही सैय्यदा के बारे में कहते है। "इन मुसलमानों में यही भारी दोष है।"[86] और जहाँ स्वयं की बात आती है तो उन्हें परिवार की सारी लड़कियों का भविष्य धुँधला दिखाई देने लगता है। "लड़के की बात और है, पर मैं अपनी लड़की मुसलमानों में नहीं ब्याह सकता।"[87] मुस्लिमानों में भारी दोष है, हिन्दुओं में नहीं। कान्ता कहती है उसने ''मुसलमान लड़के से प्यार किया है तो भुगतों।"[88] विष्णु मेहरोत्रा कान्ता से कहता है कि, ''क्या मैं मुसलमान होता तो तुम मुझसे प्यार नहीं करती। कान्ता कहती है, तुम मुसलमान होते तो मैं तुम्हें प्यार ही क्यों करती, पर जो प्यार करती तो ब्याह भी करती।"[89] सैय्यदा, अब्बास से ख़फा होकर चली जाती हैं। फ़ात्मा और माज़िद अपने पिता से कहते हैं कि, "उन्हें रवि और संगीता से शादी नहीं करना आप मम्मी को घर ले आओ।"[90] इसी उधेड़बुन में खबर आती हैं इन्द्रिरा गाँधी

की उनके रक्षक ने हत्या कर दी और फिर दिल्ली उसी सन् 47 के विभाजन में लौट जाती हैं। पूरा हिन्दुस्तान उसी विभाजन की आग में जलने लग गया।

भारतीय जनता के सामने ऊहापोह की स्थिति है। हम एक उलझी हुई मानसिकता के साथ जी रहे है और हम चाहते है कि हमें सुलझा हुआ जीवन मिले परन्तु उस जीवन का अंत रवि ओर माज़िद की आत्महत्या के परिणाम से कुछ अधिक नहीं हो सकता। "धर्मनिपरपेक्षता की ज़मीन बहुत कमजोर है। कुदाल, फावड़े की जरूरत नहीं, नाखुन से जरा सा खुर्चे तो निरपेक्षता कागज़ की तरह फट जाती है और कोई शाही इमाम, कोई भिण्डारवाला, कोई देवरस, कोई बाल ठाकरे निकल आता है।"[91] इन स्वार्थी तत्वों की लाभ की कीमत ज़र्रीक़लम का परिवार तो कभी बर्क़ साहब अपनी जिन्दगियों से चुकाते है। कभी–कभी मिशटेक भी हो जाती है। हिन्दू–मुस्लिम लम्बे समय तक साथ रहे है। इसलिए इन्हें साम्प्रदायिकता के लिए लड़ाना आसान है। साम्प्रदायिक विष्णु मेहरोत्रा और कांता के घर सेकुरलिज्म का रूप तो ले लेता है, परन्तु कथनी–करनी का अन्तर कर देता है। असल में "साम्प्रदायिकता का प्रेत हमरे अन्दर, दिलों की किसी अंधेरी गली में छिपा बैठा है और जब किसी तरफ से रोशनी आने लगती है तो यह प्रेत उठकर दिल के दरवाजे–खिड़कियाँ बंद देता है।"[92]

6.5 ओस की बूँद :–

'ओस की बूँद' साम्प्रदायिकता पर चोट करता ज्वलंत उपन्यास है। उपन्यास की कथाभूमि गाज़ीपुर पर केन्द्रित है। गंगौली, गाज़ीपुर और अलीगढ़ को राही मासूम रज़ा अपने जीवन के अंत तक नहीं छोड़ पाएँ। गाज़ीपुर में उनकी आत्मा बसी हुई है और उनकी रचनात्मकता का उन्नयन भी यही गाज़ीपुर, गंगौली और अलीगढ़ है। विभाजन के दर्द से भारतीय समाज आज भी पीड़ित है। राही मासूम रज़ा ने विभाजन के दर्द को अपनी तरह प्रस्तुत किया है। 'ओस की बूँद' उसका सशक्त उदाहरण है। राही मासूम रज़ा भाषा के प्रति बहुत सजग थे। उनका भाषा प्रयोग नवीन और आंचलिक है। हिन्दी, उर्दू मिश्रित भोजपुरी उनके पात्रों की विशेषता है। राही मासूम रज़ा को अपनी आंचलिक भाषा से बहुत प्रेम है। वह कहते है, ''मैं साहित्यकार हूँ। मेरे पात्र यदि गीता बोलेगें तो मैं गीता के श्लोक लिखूगाँ और वह गालियाँ बकेंगे तो मैं अवश्य उनकी गालियाँ लिखूँगा। मैं कोई नाज़ी साहित्यकार नहीं हूँ कि अपने उपन्यास के शहरों पर अपना हुक्म चलाऊँ और हर पात्र को एक शब्दकोश थमाकर हुक्म दे दूँ कि जो एक शब्द भी अपनी तरफ से बोले तो गोली मार दूँगा।"[93]

राही हिन्दुस्तान में अपनी जड़े तलाश कर रहे है। उन्होंने साम्प्रदायिकता के ज़हर को आँखों से देखा। 'ओस की बूँद' उपन्यास साम्प्रदायिकता में मानवीय संवेदना तलाश कर रहा है। वज़ीर हसन और हयातुल्लाह अंसारी हिन्दुस्तान–पाकिस्तान में उलझे जीवन में अपनी पहचान तलाश रहे है। वज़ीर हसन और हयातुल्लाह अंसारी दोनों साथ मे मुस्लिम लीग में भर्ती हुए। हयातुल्लाह अंसारी, वज़ीर हसन के लिखे बयानों को पढ़कर जोशीला भाषण देकर जिला सेकेट्री बन जाते है और बज़ीर हसन सिर्फ नायब सदर ही रह जाते है। वज़ीर हसन ने कभी सोचा भी नहीं था कि पाकिस्तान बन जाएगा। ''पाकिस्तान के बारे में तो उन्हे केवल यह मालूम था कि क़ायदे आज़म कर रहे है तो कोई अच्छी ही चीज़ होगी।"[94] यही हाल हयातुल्लाह अंसारी का था। "उनका तो यह ख्याल था कि अँग्रेज जाने वाले नहीं हैं। सर सैयद अहमद ख़ाँ से लेकर श्री हयातुल्लाह अंसारी तक बहुत से मुसलमान बुद्धि जीवियों का यही ख्याल था कि ब्रिटिश सरकार का सूर्य अस्त होने के लिए नहीं निकला और इसीलिए उनके तमाम सपनों का आधार यही झूठा सच था।"[95] इस तरह जब पाकिस्तान बन गया तो उन्हें अपनी तमाम जोशीले बयानों पर गुस्सा आया। ''यह ख्याल उन्हें भिड़ की तरह चिमट गया कि पाकिस्तान बहुत दूर बना हैं और उन्हें गाँधी और नेहरू के हिन्दुस्तान मे ही रहना हैं।"[96] उन्हें लगा वह रेत के समुन्दर में अपनी नाव चलाने की नाकाम कोशिश कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने अपनी जिन्ना टोपी अपने नौकर को दे दी और गाँधी आश्रम जाकर एक गांधी टोपी खरीद़ लाएँ। फिर उनका बयान छपा कि "भारत के मुसलमानों को कांग्रेस में चला जाना चाहिए। पाकिस्तान एक गलती।"[97] "यह अपना देश भी अजीब है कि यहाँ राजनीति विचारों से नहीं पहचानी जाती बल्कि टोपियों से पहचानी जाती है। अधिकतर लोगों के पास कोई विचारधारा नहीं होती केवल टोपियाँ होती है।"[98] उपन्यासकार ने यहाँ तत्कालीन राजनीतिक वातावरण पर व्यंग्य किया। राजनीति का गलियारा हिन्दुस्तान में बिना पेंदें के लोटे की तरह हैं। वह कभी हयातुल्लाह अंसारी बन जाता हैं तो कभी बुखारी साहब। राजनीति में सभी बहरूपिए हैं। जिस प्रकार बहरूपियाँ किसी का भी रूप रख सकता है। उसी प्रकार टोपियाँ भी पलक झपकते बदल जाती हैं।

वज़ीर हसन के दो बेटे थे, एक ''मुस्लिम एंगो वर्नाक्युलर हाई स्कूल'' और दूसरा बेटा अली बाकर जो पाकिस्तान चला गया। हयातुल्लाह अंसारी स्कूल की वर्किंग कमेटी के प्रेसिडेटं थे। उन्होंने मुसलिम एंग्लो वर्नाक्युलर हाई स्कूल का नाम बदलकर 'मुस्लिम ऐंग्लो हिन्दुस्तानी हायर सेकेण्ड्री' रखने का प्रस्ताव रखा, क्योंकि विभाजन के बाद सरकार की तरफ से इसको फण्ड भी मिल जाएगा और स्कूल हाई सेकेण्ड्री भी हो जाएगा। इसी के साथ बाबू गोबरधन प्रसाद मास्टर के वेतन में भी ईजाफा किया जाएगा। वही वज़ीर हसन,

इन सबका विरोध करता है और कहता है सिर्फ गोबरधन के वेतन की बढ़ोत्तरी क्यूँ की जाएँ। इनके साथ बद्रुल हसन, मास्टर अलताफ, शेख माहीउद्दीन, मास्टर जब्बार, मास्टर, अतहर, प्रिंसिंपल अलीमंजर के वेतन क्यों न बढ़ाए जाए। इस तरह वज़ीर हसन का दुसरा बेटा भी उनसे दूर हो जाती है। घर की इमारत पुरानी और स्कूल की इमारत नई थी। वज़ीर हसन ने यह जमीन अली बाक़र के लिए घर बनवाने के लिए रखी थी, परन्तु जब अली बाक़र पाकिस्तान चला गया। तो उन्होंने इसे स्कूल बनवाने के लिए दान में दे दी। वज़ीर हसन मस्जिदों के लिए मुश्किल से चंदा देते थे। उन्होंने जब इसे स्कूल के लिए दान में दिया तो शहर के लोगों की दांतों तल अंगुली दबा ली।

उपन्यास में ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ हिन्दू–मुस्लिम एक ही पेड़ की कई जड़ो के रूप में है। जो आपस में उलझ गई है। इसकी जड़े भाषा, संस्कृति, अल्ला मियाँ और कृष्ण के स्वरूप से भी गहरी हैं। जब वज़ीर हसन को गोबरधन प्रसाद मास्टर मिलते हैं तो वह उनको तसलीमात अर्ज़ करते हैं तो वज़ीर हसन कहते हैं तो "अब तसलीमात छोड़िए बाबू गोबरधन, तहलीमात तो पाकिस्तान चली गई।"[99] वज़ीर हसन का व्यंग्य एक प्रश्न उठाता हैं कि क्या दो संस्कृतियों को अलग कर देने से मानवता जीवित रहेगी या फिर मुरझा कर खत्म हो जाएगी। गोबरधन की बेट़ी की शादी का वज़ीर हसन पुछते हैं तो वह कहता है, "मैं क्यों फिक्र करू कवँर साहब अल्ला जब चाहेगा, हो जाएगी ? बज़ीर हसन कहते है" ए भाई अल्लाह मियाँ अभई तक इहई डटे हुए हैं का?"[100] वज़ीर हसन अन्दर से अकेले हो गए थे। वज़ीर हसन का बेटा अली बाकर हिन्दुस्तान छोड़कर पाकिस्तान जाना चाहता था, परन्तु बज़ीर हुसैन हिन्दुस्तान नहीं छोड़ना चाहते थे। वह अपना घर छोड़कर क्यों जाएँ। वह कहते है, ''मैं एक गुनहगार आदमी हूँ और उसी सरज़ीमन पर मरना चहता हूँ जिस पर मैंने गुनाह किया हैं।"[101] वज़ीर हसन जानते थे उनके पुरखो ने मीर, ग़ालिब के साथ साथ तुलसी, मीरा, सूर, की भी विरासत उन्हें दी हैं। वह मानते थे", "घर नफरत और मुहब्बत दोनों से ऊँचा होता हैं।"[102] वज़ीर हुसैन की आत्मा चार हजार बरस पुरानी थी। वह जब से जीवित थी जब हिन्दुस्तान में इस्लाम आया भी नहीं था। बज़ीर हुसैन के पुरखे हिन्दुस्तानी थे और उन्होंने इस्लाम को अपनाया था। "कैसी अयोध्या, कैसी काशी और कैसा पाटलीपुत्र, तक्षशिला, वैशाली एक अकेले वज़ीर हसन की आत्मा इन सबसे पुरानी है और इन सबसे बड़ी थी।"[103]

दीनदयाल और वज़ीर हुसैन बचपन के सखा थे। दोनों ने अमियाँ साथ में चुराई, साथ में गालियाँ खाई। "मुस्लिम लीग हो या महासभा वह दीनदयाल और वज़ीर हसन से बड़ी नहीं।"[104] दीनदयाल मुसलमानों से झल्लाए हुए थे और वज़ीर हसन हिन्दुओं से भयभीत

थे। इन दोनों के मध्य 1920–22 से ही अलगाव शुरू हो गया था, परन्तु अभी भी दोनों एक–दूसरे को जानते थे। कि दीनदयाल न तो कांग्रेसी हैं और वज़ीर हसन न ही लीगी है। फिर भी एक मौन सन्नाटा दोनों के बीच में था। दीनदयाल यह सोच रहा था कि हिन्दुस्तानी मुसलमानों को जीने के लिए पाकिस्तान बनवाने की क्या जरूरत हैं अखण्ड भारत के सपने इन्हीं आँखो ने देखे थे। शायद सपना एक था परन्तु आँखे अनेक। वज़ीर हसन देश के विभाजन से दुःखी हैं। आबेदा अपने पति अलि बाक़र के पाकिस्तान जाने से दुःखी थी। शहला पर से पिता का साया उठ गया है। सभी दुःखी और असंतुष्ट हैं। सभी दिशाहीन होकर बस समय के साथ चलने की कोशिश कर रहे हैं और यह समय ऐसा स्वार्थी हो गया हैं। कि सबको एक चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया–हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, मंदिर और वज़ीर हसन की मज़ार।

पाकिस्तान बनने के बाद सभी नौजवान पाकिस्तान चले गए। बस हिन्दुस्तान में छोड़ गए अपना परिवार। अब महिलाए कस्टोडियन पर मेहर का दावाँ कर रही हैं। क्योंकि वह अकेली रह गई हैं। वह अपना परिवार किस प्रकार चलाए। वहशत के पास अब इसी प्रकार के केस आने लगे कस्टोडियन पर दावें के। कहानी एक थी पाकिस्तान और उसके रूप अलग–अलग थे। "यह कस्टोडियन कितनी बीवियों का शौहर बना हुआ है। बीवियाँ क्या कस्टोडियन के नाम की चूड़ी पहने ? बच्चे क्या कस्टोडियन से ईदी मांगें?"[105] वहशत से मुसम्मात अकबरी ने कहाँ "ए भया, मेहर त हम माफ कर दिया रहा। बाक़ी एक ठो बेटी है अल्ला रक्खे। कस्टोडियन साहब पर दावा करो चाहे कलट्टर पर। तू हम्मे हमरा मेहरा दिलवाय दयो। यतीम बच्ची तुँहे दुआ दी हैं।''[106] विभाजन के पश्चात् सामाजिक स्थितियाँ और विद्रूप हो गई। यही स्थिति शहला और आबिदा की थी। हाजरा दिन–रात यही सोचा करती थी अली बाक़र विभाजन के खिलाफ था। वज़ीर हसन पाकिस्तान बनवाना चाहता था। पर आली बाक़र पाकिस्तान चला गया और वज़ीर हसन यही रह गए।

शहला मीराँ बाई का पद गुनगुनाती हैं ''माई मेरे नैनन बान परी"। शहला, वहशत से प्रेम करती है, परन्तु शहला राजपूत मुस्लिम खानदान से होती हैं और वहशत जुलाहा परिवार थे। धर्म में भी कई परतें होती हैं, और यह परतें दीवार बनकर खड़ी हो जाती है। इस प्रेम कहानी का अंत दस रूपये के नोट से होता है। जब वहशत वज़ीर हसन का केस लेने से इन्कार कर देता है।

शहला, वज़ीर हसन को मुशायरे वाली गज़ल मँगवाने को कहती है, तब वज़ीर हसन उदास हो जाता है क्योंकि उसे भोजपुरी उर्दू ही आती है। वह शहला से कहते हैं कि, ''ससुराल से हम्में ख़त लिखियो तो महल्ले भर में डौड़ियाएँगे कि ए भाई हमारी

शहलिया का खत आया है, कोई पढ़के सुना दे और जो कोई पढ़के सुनाऊ दीहे त हम एक–एक लफ्ज़ का मतलब पूछेंगे तब कहीं जाके हम्में पता चलि है कि हमारी पोती हम्में का लिक्खिस हैं।''[107] शहला बोलती हैं हम आपको हिन्दी पढ़ना सिखा देगें। वज़ीर हसन कहते है, "पढ़े में त कउनों हरज ना है। बाकी हम ई सोच रहें कि हम अपनी जबान पढ़े के काहें न जी सकती अपने मुलुक में? हम का दीनदयाल से कम हिन्दुस्तानी हैं। दसवीं सदी में आप हमहूँ हिदूं रहे।"[108] वज़ीर हसन का अन्तर्द्वन्द्व चरम पर हैं। वह इन परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाते हैं। वह स्कूल की कमेटी से भी इसलिए इस्तीफा दे देते हैं, क्योंकि हयातुल्लाह हिन्दू मास्टर का प्रमोशन करना चाहते हैं, मुसलमान मास्टरों का नहीं। शहला भी स्कूल में ऐसी परिस्थितियों का सामना करती हैं। जहाँ मुसलमानों को पाकिस्तान का जासूस बाताया जाता हैं। औरंगजेब को भला बुरा कहा जाता हैं। जब शहला और पदमा में बहस होती है तो वह पदमा से पूछती हैं। ''अच्छा तो पद्मा रानी, यह बताओ कि यह जायसी कुतुबन, ताज, रहीम, उस्मान बग़ैरा किस खेत की मूली है? और कबीर को कब गिरफ्तार करेगी तुम्हारी सरकार?"[109] पदमा यह सुनकर चौंक जाती है।

शहला की दादी हाज़रा पागल हो गई थी। वह अली बाक़र के पाकिस्तान जाने और आबिदा को तलाक़ दिए जाने के सदमें को झेल नहीं पाई। वह अपने आप से कहती है, ''हम पाकिस्तान बनावे पर वज़ीर हसन को माफ करे वाले ना हैं।''[110] लोगों को लगता था उस पर जिन्न–बादशाहों का साया आता हैं। अल्ला मियाँ उससे आकर बातें करते हैं "वज़ीर हसन पाकिस्तान बनाए को कहते रहे। अली बाकर ओके खिलाफ़ रहे। त तैं हमने ई समझा कि जब ई पाकिस्तान माटी मिला बन गया ता बतिया उलट कैसे गई। अली बाक़र पाकिस्तान की और कैसो हो गए?"[111] ये बातें वो ऐसे करती थी। जैसे सच में उसे कोई सुन रहा हैं। वज़ीर हसन के घर में जिन्ना साहब की एक तस्वीर लगी हुई थी। आबिदा जीवन से हार गई थी और घर की परिस्थितियों से भी। वह ज़िन्ना साहब की तस्वीर के पास जाकर बोलती हैं। "एहर काहे ना देख रहयो मरकिनौने। एहर देखो। बड़े क़ायद हौ त शहला के बाप का रस्तवा कैसे भुलाय दियो! ऐ?"[112] सभी बुझी हुई आँखो में एक दर्द था। जिस दर्द का ना ही कोई अंत ना ही कोई जबाव।

बीबी के कटरे में एक मंदिर था। यह मंदिर मुसलमान मोहल्ले में था। इस मंदिर में शायद ही कभी कोई पुजारी देखा गया था। मंदिर का इतिहास यह था कि उदयभान सिंह और जयपाल सिंह भाई थे। इनमें से उदयभान मुसलमान हो गया और मंदिर उसी की हवेली में इसलिए उसने जयपाल को इस पर कब्ज़ा जमाने नहीं दिया। उदयभान की पीढ़ियाँ ही इस मंदिर के पुजारी का देख रेख करती थी। वज़ीर हसन के परदादा ने

इसकी वसीयत बनवाई और पुजारी का वेतन वक़्फ से दिया जाने लगा। वज़ीर हसन के लिए दुसरा मकान बनवा दिया गया और बीबी के कटरे मे गरीबों का डेरा हो गया। रामावतार जो दीनदयाल के बड़े भाई थे, उन्होंने उस मंदिर में डेरा डाला हुआ था। वह मंदिर में भगवान की सेवा करते थे। जब बीबी के कटरे में शंख बजाया तो मुसलमानों के मोहल्ले में हड़कंप मंच गई। संवेदनशील माहौल में शंख ने ज्वलनशील पदार्थ का क़ाम किया और गाज़ीपुर की परिस्थितियाँ बदल गई। दुकानों के शटर गिर गए, बाजारों में सन्नाटा छा गया। हिन्दू अलग और मुसलमान अलग से दो–दो हाथ करने को तैयार हो गए। शहर में कर्फ़्यू लग जाता हैं। पी.एस.सी. के जवान मंदिर के चारो और पहरा दे रहे। "वज़ीर हसन ने महसूस किया कि हिन्दुस्तान का इतिहास और उसका भविष्य दोनों ही मंदिर में खड़े उन्हें गौर से देख रहे हैं।"[113] और उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि वह मंदिर में जाकर शंख बाजएंगे। उन्होंने वहाँ जाकर पहले नमाज़ पढ़ी। उसके बाद कुएँ में उतर कर शंक निकाला। जिसे रामावतार ने कूएँ में फेंक दिया था। जैसे ही वज़ीर हसन शंख बजाने लगे, उन्हें गोली मार दी गई। दूसरे दिन समाचार पत्रों में यह छपा कि एक मुसलमान मूर्ति तोड़ते हुए मारा गया। आस–पास के इलाकों में तनाव हो गया। सप्ताह भर के लिए दफ़ा चवालीस लगा दी गई। बलवा ख़त्म हो गया। शहला अपने दादा वज़ीर हसन की मज़ार उस मंदिर में बनवाना चाहती थी।

इसके लिए उसने वहशत अंसारी को वकील बनाना चाहा, परन्तु वहशत ने मना कर दिया। क्योंकि अब परिस्थितियाँ बदल गई थी। मुकदमें भी हिन्दू–मुस्लिम होने लगे थे। दीनदयाल को समाचार पत्र की छपी खबरों पर यकीन नहीं था। वह यह मानने को तैयार नहीं था कि वज़ीर हसन मूर्ति तोड़ने गया था। शहला ने ठाकुर शिवनारायण से अपना मुकदमा दायर करवाया। दीनदयाल ने कहाँ, "ए बिटिया, वज़ीर हसन का मज़ार तू हमरे आगन में बनवाल्यो। इ मत समझल्यों कि खाली वज़ीर हसन मरे हैं। हमहूँ मर गए हैं आधे। बाकी धरम वज़ीर हसन अउर दीनदयाल और तोहरे वकील ठाकुर शिवनायण सिंह से बड़ा हैं।"[114] शहला ने कहा, "धर्म बड़ा है तो क्या वह मेरी ज़मीन पर कब्ज़ा कर लेगा। मैं वह तमाम मस्जिदें तो वापस नहीं माँग रही हूँ ना दीनदयाल दादा जो सन् सैतालीस में हमसें छिन गई, क्योंकि पाकिस्तानी मंदिरों से निकाले हुए भगवान को भी घर चाहिए ही आख़िर, लेकिन मैं आपके भगवान को अपना घर नहीं दूँगी।"[115] इस तरह शहला के कोर्ट में सात दिन तक बयान होते रहे। वहशत अंसारी उसे सात दिन तक देखने आता रहा। वहशत का विश्वास गाज़ीपुर से उठ गया था। उसने सोचा जब मुकदमें भी हिन्दू–मुस्लिम होने लगे तो वकालत का क्या फायदा। उसको अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में रीडर का

पद मिला रहा था। उसने सोचा ''गाय और आदमी। कौन बड़ा है? तो आखिर, जब बलवे होते हैं तो पुरी के शंकरचार्य बोलते क्यों नहीं कि मनुष्य को काटना बंद करो। यही से यह सवाल पैदा होता है कि शुद्र ब्रह्मा के पाँव से निकले। ब्रह्मा का बदन ख़त्म हो गया तो मैं वहशत अंसारी कहाँ से निकला हूँ? क्या कोई और ब्रह्मा हैं?"[116] टेढ़ी बाजार के कुएँ मे किसी ने गाय काट कर डाल दी। शहला को इस बात का पता नहीं था। वह घर से रिक्शे पर बैठकर ठाकुर, शिवनारायण के घर जाने लगी। बीच में शाह साहब ने रोक लिया और कहा, "इ तू एह बख़त कहाँ जा रहियु। ऐ? मुसलमानन का कल्लेआम हो रहा।"[117] वह शहला को अपने घर ले गए। "जब पुलिस आई तो वहाँ कोई नहीं था। केवल दो लाशें थी। शहला की लाश नंगी थी और शाह साहब की लाश पर दाँतो के निशान नहीं थे। बाहर सड़क खामोश थी और सूरज ओस की बूँद को ढूँढ़ रहा हैं।"[118]

वज़ीर अंसारी और दीनदयाल जिस पीढ़ी के आंगन में खेले तो थे वो परम्पराओं की पीढ़ी थी। जिसे मुस्लिम और हिन्दुस्तान की जवान पीढ़ी नहीं समझ सकती। वह तो बेचारी हैं। जिसे उस परम्पराओं का आंगन प्राप्त कहा हुआ। आपसी वैमनस्य, भाई–चार, और हिन्दुस्तान की विरासत के प्रगाढ़ संबधों की छाया इस पीढ़ी को नहीं मिली।

6.6 सीन पिचहत्तर :–

'सीन पिचहत्तर' उपन्यास फ़िल्मी जगत की चमचमाती दुनिया के चेहरों को बेपर्दा करता हैं। इस उपन्यास में फ़िल्मी दुनिया के लोगों के भीतरी और बहारी बनावटी पन को बखूबी उकेरा गया हैं। राही मासूम रज़ा ने फ़िल्मी जीवन को बहुत नजदीक से देखा। उन्होंने पटकथा लेखन को सेमीक्रिएटिव कार्य कहा। "सीन पिचहत्तर हिन्दी फिल्म उद्योग की चमचमाती दुनिया की कुछ स्याह और उदास छवियों को बेपर्दा करता उपन्यास हैं।"[119] उपन्यास में चार दोस्तों के संघर्ष की कहानी है। जो फ़िल्मी दुनिया में अपनी पहचान बनाने की कोशिश कर रहे है और जीवन के उतार चढ़ाव में स्थिरता ढूंढने की जद्दोजहद। कथा का प्रारम्भ 'सीन पिचहत्तर' दिन डाकखाना के लेखन से शुरू होता हैं। जिसे अली अहमद लिखता है और उसे अब बिना सोचे समझे लिखने की आदत हो गई है। उसने परिस्थितियों के साथ क्राम्प्रोमाइज़ कर लिया हैं। "क्योंकि फिल्मी दुनिया में लेखक के सिवा सभी लोग लेखक होते हैं। चाहे सही हिन्दी बोल न सके पर लेखक होते हैं।"[120] अली अहमद जब कभी भी सीन लिखता उसमे काट–साट होती। वह कई दिनों तक बेरोजगार रहता, परन्तु अब उसने फिल्मी दुनिया में जीना सीख लिया हैं। अली अहमद, हरीश, वीरेन्द्र

कुमार और अल्लीमुल्लाह खाँ चारों दोस्त हैं और फिल्मी दुनिया से किसी न किसी प्रकार जुड़े हुए हैं।

फंदा जी अपने नौकर रामनाथ के द्वारा अपने सपने पूरा करना चाहते हैं। वह रामानाथ द्वारा सुनाई कहानियों को अपने शब्दों में ढाल कर, निर्देशक के सामने प्रस्तुत करते। इसी तरह उनकी लिखी कहानियाँ चल जाती हैं। फंदा जी ने 'सांच की आच' कहानी लिखी, जो निर्देशक को बहुत पसंद आई। फंदा जी पत्नी राधिका और बेटी पुष्पलता दोनों रामनाथ के साथ हमबिस्तर होती हैं। अब घर में राधिका, पुष्पलता और रामानाथ का त्रिकोण बन जाता हैं। रमानाथ घर छोड़कर भाग जाता हैं। इस तरह फंदा जी का फिल्मी करियर फिर बेपटरी हो जाता हैं। फंदा जी का और रमानाथ को देखकर ऐसा लगता था। "हिन्दी फिल्मों की दुनियाँ आधे–अधूरे लोगो की दुनिया हैं। यहाँ दो से मिलकर तीन नहीं बनते। यहाँ दो से मिलकर एक बनता हैं।"[121] सभी एक–दुसरे के माध्यम से स्वंय को पुरा करने की कोशिश करते हैं। फंदाजी ने रमानाथ को अपना पार्टनर बना लिया और उसके लिए 'देवनिवास' में एक फ्लैट बुक करवाया। जिसे बाद में उन्होंने अपने दामाद, को देने के लिए सोच रखा था। जब रमानाथ 'देवनिवास' में रमा से मिलता है तो वह झूठी कहानी सुनाता है कि फंदाजी के यहाँ उसका जुड़वा भाई काम करता है क्योंकि एक स्टोरी राइटर किसी के यहाँ नौकर कैसे हो सकता है और रमा भी यह सुनकर संतुष्ट हो जाती है कि उसकी नौकरानी का प्रेमी 'देवनिवास' में फ्लैट लेने की औकात कैसे रखता है।

यही बात जब वो फंदा जी को बताता हैं। तब वह बोलते हैं, "यह तो गोल्डन जुबिली आइडिया है।"[122] वही रमा भी यह सोचकर खुश हो जाती है कि जान बची तो लाखों पाएँ। फिल्मी दुनिया पतनशीलता की और बढ़ती जा रही हैं। मध्यम वर्ग इसी पतनशीता और जड़ मानसिकता से ग्रसित है। वह किसी भी परिस्थितियों मे निर्णय नहीं ले सकता बस दिखावट से भरी जिन्दगी जी रहे हैं।

अली अहमद एक मुस्लिम है। इस कारण उसको कोई फ्लैट किराए पर नहीं देता है, क्योंकि "मुसलमानों से नफरत करना उन दिनों उत्तर भारत के फैशन में भी दाखिला था।"[123] 'सुरसिंगार' सोसायटी में जब अली अहमद को फ्लैट किराए पर मिला तो रमा को बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगा। वह नहीं चाहती थी कि किसी मुसलमान को फ्लैट किराए पर दिया जाए। "जब पाकिस्तान की हवा चली तो गिरवी रक्खे हुए सोने चाँदी के तमाम गहने लेकर, दंगे शुरु होने से पहले ही (रमा के परिवार वाले) दिल्ली आ गये।"[124] रमा को जब पता चला की अली अहमद फिल्म राइटर है तो उसके भाव ही बदल गए। वह किसी

न किसी बहाने से अली अहमद से बात करना चाहती थी और धर्मेन्द्र से मिलने के सपने देखने लगी। यहाँ रमा की गलती नहीं हैं क्योंकि बहुत से भारतीय इस पूर्वाग्रह से ग्रस्त थे। "लोगों को पाकिस्तान में मारे जाने वालों का हिसाब जबानी याद था और लोग उस में इस कदर उलझे हुए थे कि हिन्दुस्तानी सड़को पर बिखरी हुई लाशों को गिनने का वक्त ही नहीं निकल पा रहा था। आमतौर से लागो का ख़्याल यह था कि इज्ज़त सिर्फ हिन्दू औरतों की होती है और मुसलमान औरतों के पास केवल बदन होता हैं।"[125]

सरला मिढ़ा एक होमोसेक्युअल पात्र है। जब मिढ़ा साहब को पता चला की सरला आजकल रमा पर आशिक़ है तो उन्होंने अपना ध्यान रमा से हटा लिया। ''सरला मिढ़ा उन औरतों में से थी जो किसी मुसलमान लड़की से इश्क करने पर भी तैयार नहीं खाती थी। उसका खाना अलग पकता था। उसे तो डर था कि अली अहमद से रमा की मुलाकात हो गयी तो उसके लिए परेशानी हो जाएगी।"[126] रमा अपने पति के पैसो से शौक पूरा नहीं कर पाती थी। इसलिए सरला उसकी भी जरुरत थी। वह सरला के माध्यम से अपने शौक पूरा करती थी और सरला अपनी तनहाई रमा के द्वारा खत्म करती थी।

अली अमजद इस स्वार्थी वातावरण से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है। वह अन्त में आत्महत्या कर लेता है। अली अमज़द को लगता था फ़िल्म में संवाद लिखना एक सृजनात्मक कार्य है। उसकी रचनात्मकता से वह फ़िल्मों में एक नया मुकाम हासिल करेगा परन्तु वह इस चकाचौंध भरे जीवन से हार जाता है। अमज़द का मित्र हरीश स्वार्थपरत्ता की सीमा लांघ जाता हैं। उसे लगता है अभी फ़िल्म का प्रीमियर होना है और अली अमजद को अभी मरना था। हरीश की फ़िल्म का प्रीमियर हो जाता है बस एक कुर्सी खाली रहती है फिल्म पटकथा लेखक सैयद अली अमजद हुसैनी तिरमिज़ी बारहबवी की।

"अली अमजद नज़र नहीं आया"? काकटेल पार्टी में अलीमुल्लाह ने हरीश से पूछा।

हा। हरीश ने कहा, वह कल रात किसी वक़्त मर गया। यह कहते–कहते वह एकदम से मुस्कुरा दिया, क्योंकि एक फ़टोग्राफर पास खड़ी हुई हेमामालिनी के साथ उसकी तस्वीर ले रहा था।"[127]

बम्बई की सतरंगी दुनिया को विविध कोणों से देखता 'सीन पचहत्तर' अपनी तरह का अलग उन्यास हैं। अली अहमद की मौत का किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिल्म का प्रीमियर बड़ी धूमधाम से होता है। रामानाथ–हिल्डा जैसे चरित्र बम्बई में हीरो–हीरोइन बनने आते है। पर वह फंदा जी के लेखन का निमित्त मात्र बन जाते हैं। पुष्पलता, राधिका दोनों रामानाथ को शारीरिक संतुष्टि का साधन मात्र समझती हैं। अभिनय के इच्छुक युवा

पीढ़ी सिर्फ़ फिल्म प्रोड्यूसरों के हवस के शिकार होते हैं। भारतीय संस्कृति का पतन चरमोत्कर्ष पर दिखाया गया है।

6.7 नीम का पेड़ :–

'नीम का पेड़' राही मासूम रज़ा का अंतिम प्रकाशित उपन्यास हैं। जो उनकी मृत्यु के पश्चात् 2003 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। सर्वप्रथम को धारावाहिक के रूप में लिखा गया। इस उपन्यास में 1946–79 तक के कालखण्ड का वर्णन है। 90 के दशक का यह सबसे प्रचलित धारावाहिक है। इसका प्रसारण लगभग 25 मिनिट होता था। राही मासूम रज़ा इस धारावाहिक के 1991 से 1992 तक 58 एपिसोड ही लिख पाए थे, और 15 मार्च, 1992 को उनकी मृत्यु हो गयी। इसके बाकी के एपिसोड विलायत ज़ाकरी ने लिखे थे। इस धारावाहिक में बुधई की भूमिका पंकज कपुर ने निभाई थी। जिसके कारण इसकी प्रसिद्व चरम पर थी और बुधई को सिर्फ पंकज कपूर ही जीवन्त कर पाएँ। ज़ामिन मियाँ की भूमिका अरूण बाली और मुसलिम मियाँ की भूमिका एस.एम. जहीर ने निभाई थी। इस धारावाहिक का निर्देशन गुरूबीर सिंह ग्रेवाल और निर्माण नवमान मलिक ने किया। इस धारावाहिक का सुप्रसिद्ध शीर्षक गीत "मुँह की बात सुने हर कोई, दिल के दर्द जानें कौन आवाजों के बाजारों में खामोशी पहचाने कौन?" को निदा फाज़ली ने लिखा था। जिसे अपनी आवाज सुप्रसिद्व ग़जलकार जगजीत सिंह ने दी थी। 'नीम का पेड़' दूरदर्शन के इतिहास में एक प्रसिद्व धारावाहिक हैं। जो 90 के दशक की यादों को ताजा कर देता है। 'नीम के पेड़' की भूमिका में राही मासूम रज़ा लिखते हैं, "मैं अपनी तरफ से इस कहानी में कहानी भी नहीं जोड़ सकता था। इसीलिए इस काहानी में आपको हदें भी दिखाई देंगे। सपने दिखाई देगें तो उनका टूटना भी और इन सबके पीछे दिखाई देगी सियासत की काली स्याह दीवार। हिन्दुस्तान की आजादी को जिसने निगल लिया। जिसने राज को कभी भी सुराज नहीं होने दिया। जिसे हम रोज़ झंडे और पहिए के पीछे ढूढ़ते रहे कि आख़िर उसका निशान कहां हैं।"[128] नीम को पेड़ उपन्यास मदरसा खुर्द और लछमनपुर कलाँ गाँव की कहानी हैं। अली ज़ामिन खा और मुसलिम मियाँ दोनों खालाज़ाद भाई हैं। एक के पास मदरसा खुर्द की ज़ागीर है तो दुसरे के पास लछमनपुर कलाँ की। बुधई अर्थात् बुधीराम अली जामिन खाँ ज़मीदार के यहाँ बंधुआ मजदुरी करता हैं, परन्तु इस कहानी का वक्ता तो नीम का पेड़ हैं। जिसने इन दोनों गाँवो की सच्चाई को अपनी आँखों से देखा। बुधई की पत्नी रामदुलारी ने जिस दिन सुखई को जन्म दिया उसी दिन 8 जुलाई, 1946 को बुधई ने इस नीम के पेड़ को लगाया। बुधई के बेटे और नीम के पेड़ की

उम्र एक ही है। पेड़ लगाते समय बुधई ने एक सपना देखा की जिस प्रकार पेड़ की छाया परतंत्र नहीं है, उसी प्रकार मेरा सुखई भी परतंत्र नहीं रहेगा। आजादी के बाद ज़मींदारी प्रथा खत्म हो जाएगी और गाँव में विद्यालय खुलेगा, उसका सुखई पढ़ लिख कर बड़ा आदमी बनेगा।

उपन्यास में विभाजन के पहले की ज़मीदारी प्रथा, बंधुआ मजदुरी तथा विभाजन के बाद की राजनीति, भ्रष्ट प्रजातंत्र, पद लोलुपता, अवसरवादी नौकरशाही का वर्णन किया गया हैं। ज़ामिन मियाँ और मुसलिम मियाँ होते खलाजाद भाई हैं, परन्तु दोनों एक–दुसरे से नफरत करते हैं। दोनों के पास अलग–अलग गाँव की ज़ागीर होती हैं। परन्तु कुछ ज़मीन विवाद को लेकर दोनों भाईयों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं। ज़ामिन खाँ के शागिर्द लाला रूपनारायण कहते है रामबहादुर यादव गाँव वालो ज़मींदारी के खिलाफ भड़काता है कि उसका प्रभाव बढ़ने लगा है। ज़ामिन खाँ, मुसलिम मियाँ को एक खत भिजवाते हैं बुधई के हाथ जिसमे रामबहादुर यादव को समाज से निष्कासित करने की बात करते है। मुसलिम मियाँ को यह बात संतोषजनक नहीं लगती। वे बुधई से कहते हैं "जा अपने मियाँ से कह देना कि उसे खत का जवाब अदालता सबजजी से मिलेगा।"[129] रामबहादुर यादव कांग्रेस का कार्यकर्त्ता होता है। जामिन खाँ बजरंगी को रामबहादुर को मारने भेजते हैं। रामबहादुर मारा जाता हैं और मुसलिम मियाँ, ज़ामिन मियाँ के खिलाफ केस कर देते हैं। बुधई जामिन मियाँ का गवाह होता हैं। वह अपना रटा–रटाया जबाब जज सहाब को बोलता है, "ई तो दिन की बात न है मालिक। रात काफी होय चुकी, हम शोर सुनके उधर लपके जात रहने कि का देखा की बोलन कि अरे ओहर कहाँ जा रहा रे बुहाइया। उधर तो लाठी चलत हैं।"[130] बुधई के बयान से ज़ामिन मियाँ पुलिस केस से आज़ाद हो जाते है। इसके बाद ज़ामिन खाँ ने सोचा पाकिस्तान बन जाएगाँ और मामला रफा–दफा हो जाएगाँ परन्तु मुसलिम मियाँ पाकिस्तान नहीं गए। वह लखनऊ चले गए वहाँ डिप्टी मिनिटर हो गए। मुसलिम मियाँ राजनीति का हर दाव–पेंज जानते थें पहले तो उन्होंने जिन्ना की तस्वीर लगा रखी थी पर डिप्टी मिनिटर बननें के बाद वह नेहरूवादी हो गए और उन्होंने रामबहादुर यादव का केस वापस खुलवायाँ। सभी गवाहों ने अपने बयान बदल दिए। बस एक बुधई के बयान पर ज़ामिन मियाँ को भारोसा था, परन्तु "अब मिनिटर साहब के लात–गुसों ने उसे समझा दिया कि बयान उसी का याद रखो जिसके गुलाब रहो। सलामती इसी में रहती हैं।"[131] इस तरह बुधई ने भी बयान बदला और ज़ामिन मियाँ को आजीवन कारावास हो गया।

हिन्दुस्तान आजाद हो गया और सु–राज की कल्पान बुधई की सच होने लगी। एक दिन सरकारी पटवारी आया और उसने नाप कर कहा कि जहाँ तक नीम के पेड़ की छाया जाती हैं। वहा तक ज़मीन बुधी राम की होगी। ज़मींदारी प्रथा समाप्त हो जाती हैं। गाँव में स्कूल खोला गया 'अली मोहसिन मेमोरियल नेशनल स्कूल'। "यहाँ मैंने (नीम के पेड़ ने) एक ज़मींदार को खाक में मिलते देखा और यही मैंने खाकपतियों को शिखर पर चढ़ते देखा। बस नहीं बदला तो नफरतों का सिलसिला।"[132] सुखीराम पढ़ लिखकर लोकसभा में एम.पी. बन जाता है और ज़ामिन मियाँ का बेटा सामिन सुखीराम के यहाँ बेगार हो जाता हैं। सुखीराम पद लोलुप और अवसरवादी नेता होता हैं। वह लालच के लिए झूठ को भी सत्य का चोगा पहना देता हैं यही बात सामिन को अच्छी नहीं लगती है और वह सुखीराम का साथ छोड़ देता हैं। सुखीराम चरित्रहीन और आदर्शहीन पुत्र का प्रतिनिधित्व करता है। जब यह बात बुधई को पता चलती हैं। तो वह कहता हैं ''सब कुछ मिल गवा, इज्जत अयसी कि न जाने कौन–कौन पाँव छुअत है और बेटे का सुख।"[133] बुधई का पूरा जीवन विसंगतियों से भरा रहा। वह अपने बेटे को ईमानदार, बड़ा पढ़ा–लिखा आदमी बनाना चाहता था। उसके विपरित सुखीराम भ्रष्ट राजनीतिक बन जाता हैं। बुधई कहता है, "वाह रे मोर एम.पी. जी सरकार से कहि के प्यार और इज्जत के लिए राशन की दुकान काहे नहीं खुलवाय देते हैं। सुखीराम तुम्हारा नाम जिन्दा रखै की खतिर हमको कितनी बार में पड़ा हैं"[134] बुधई के त्याग, बलिदान और ईमानदारी को सुखीराम नहीं समझ पाता है। वह चरित्रहीन हो जाता हैं। शारदा के होते हुए सुखीराम शहर में कमलिनी से प्रेम का नाटक करता हैं जिससे कमलिनी मदरसा ख़ुर्द आ जाती हैं। सुखीराम, बंजरगी द्वारा उसकी हत्या करवा देता है। सुखीराम अपने पद की गरिमा बचाने के लिए सभी सीमाएँ पार कर लेता हैं जब सुखीराम का भ्रष्ट चेहरा बुधीराम के सामने आता है तो वह कहता है, "कितनी बार ताज़िया के सामने इमाम हुसैन से तुमका बड़ा आदमी बनावै के लिए दुआ मांगी हैं।"[135] परन्तु सुखीराम अपने पद के घमण्ड में अंधा हो जाता है। वह कहता है, "अगर आपको मेरी मेहनत की कमाई हराम की लगती है तो अब तक आपने जो खोया हैं उसे उलट दीजिए। हलक में उगली डाल कर उलटी कर दीजिए।"[136] सुखीराम का ऐसा टका सा जबाब सुनकर बुधई को लगता हैं कि उसका जीवन निरर्थक हैं। आखिर उसने सुखीराम की परवरिश में ऐसा क्या कमी रखी है। जिससे उसे यह दिन देखना पड़ रहा है। वह कहता है, ''हमरा ईश्वर पैदा एही दिन के लिए किए हैं न कि हम डांट और गाली खाई–कबहुँ मियाँ लोगन की, कबहुँ अपने हाथो से हमारे नसीब में सुख नहीं न अपने बेटवा का और न अपने हाथो से लगाए नीम के पेड़ का।''[137]

सामिन, रामबहदुर के बेटे रामखिलाव के साथ मिलकर चुनाव लड़ता हैं। रामखिलावन एम.पी. बन जाता है और सामिन एम.एल.ए. बन जाता है। "सामिन जानता था कि शासन और सत्ता का असली मतलब क्या होता हैं। उसने खद्दर पहना था तो जानता था। इसके पीछे कुबानियों का एक लम्बा इतिहास रहा हैं। वह यह भी जानता था कि ये सारे पद जनता की सेवा के लिए होते हैं और उनकी दुआओं से बड़ा ईमान इसके लिए कुछ नहीं होता।"[138] सुखीराम को उसको सुख का साम्राज्य ढलते हुए नजर आता है। वह सब कुछ बेचकर दिल्ली चला जाना चाहता है क्योंकि वह जानता हैं, "सियासत को क्या है कि जैसे दिन बनते हैं, वैसे बिगड़ते भी हैं।"[139] इसी ईर्ष्या में आकर सुखीराम एक दिन सामिन को गोली मार देता है परन्तु गोली लगने से सामिन सिर्फ घायल होता है। जब यह बात बुधई को पता चलती है तो बहुत दुःखी होता है। उसको अपने बेटे पर विश्वास नहीं होता कि वह इस सीमा तक गिर सकता है। सामिन ने बुधई से कहाँ, ''सुखई ना होतो तो बाबा जेल मे थे तो हम लोग भूखों मर जाते। उन्होंने ही हमारे घर का जेवर, बर्तन, कपड़ा खरीदा, अपने साथ रखा।"[140] बुधई का सपनों का महल सूखी रेत की भाँति बिखर गया था। उसको अपनी परवरिश पर विश्वास नहीं हुआ।

सुखीराम अपना घर बचेना चाहता था और सभी झंझटो से दूर दिल्ली चला जाना चाहता था, परन्तु घर बुधई के नाम था। वह बुधई से बोला घर बेच देते हैं तो बुधई ने कहाँ, "अब तो ई अहातो हमरे नाव हैं। तुम हमरे झोपड़ी उजाड़ हौ– हमार झोपड़ी जे मा छत नाही रही मुदा शानती रही। हमार शानती उजाड़े हो। हम न ई अहाता तुमको देब, न बेचे देब हमार जो जी चांही कर।"[141] इसके पश्चात् झूठ का सहारा लेता है और झूठे अँगूठे के निशान लगा कर घर के कागज मुसलिम मियाँ को दे देता हैं। मुसलिम मियाँ अब एम.एल.ए. का चुनाव सामिन के खिलाफ लड़ना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने यह रणनीति अपनाई। अंत में जब मुसलिम मियाँ बुधई के मकान को अपना बता कर पुलिस के साथ उसका घर खाली करवाने आते हैं तो बुधई कुल्हाड़ी लेकर सुखई को मार देता है और कोर्ट में जवाब देता हैं "हम तो ई जानत हैं कि सुखीराम न तो हमार बिटवा रहे न लोकसभा के मेम्बर, वह तो बस ई देस के बासिन्दा रहे नागरकि रहे।"[142] बुधई का पुरा जीवन विसंगतियों भरा रहा। वह न तो सुखीराम को अच्छा आदमी बना पाया न ही नीम के पेड़ की छाँव में सुकुन के दो पल जी पाया। सुखई भ्रष्ट, पदलोलुप, दोगली मानसिकता वाला नेता ही रहा। अंत में सुखीराम का अंत, बुधई की आत्मा को शांति देता हैं, क्योंकि वह समाज का कल्याण नहीं कर पाया। आजीवन सुखीराम ने पद का प्रयोग बुराईयों को छिपाने के लिए किया।

राही मासूम रज़ा ने विभाजन के पहले और बाद की यथार्थ परिस्थितियों का वर्णन किया है। विभाजन के पहले जमीदारी और बाद में भ्रष्ठ राजनेता हमारे देश को खा गए। विकास के नाम पर प्रशासन भ्रष्ठ हो गया, नेता अवसरवादी हो गए जीवन मूल्यों का हनन होने लगा, रह गया तो बस वह नीम का पेड़ कहानी का अंत बुधई के इस वाक्य को पूर्णतः चरितार्थ करता है, "काश, हम अपने अरमानो का पेड़ लगाया ही न होते।"[143]

निष्कर्ष :–

राही मासूम रज़ा के सभी उपन्यासों में विभाजन की विभीषिका के दर्शन होते हैं। वे सशक्त, जागरुक और सक्रिय लेखक हैं। 'हिम्मत जौनपुरी' उपन्यास की कहानी जौनपुरी परिवार की है। इस उपन्यास में जौनपुरी परिवार की पिछली सात पीढ़ियों का वर्णन है। 'टोपी शुक्ला' उपन्यास में टोपी की कहानी है। उसका एकाकी जीवन त्रासदियों से भरा हुआ है। 'दिल एक सादा कागज' भी हिन्दुस्तान–पाकिस्तान–बांग्लादेश के ध्रुवीकरण की पृष्ठभूमि पर लिखा गया सशक्त उपन्यास है। 'असंतोष के दिन' उपन्यास 1946 के सिक्खों के नरसंहार के कथानक पर लिखा गया है। 'ओस की बूँद' उपन्यास हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों की कहानी है। 'सीन पिचहत्तर' सिने संसार की कृत्रिम मानवीय संवेदनाओं का उपन्यास है। 'नीम का पेड़' दो खालाज़ाद भाइयों की जमींदारी के लिए आपसी संघर्ष की कहानी है। इस अध्याय में इन सभी उपन्यासों की कथाभूमि की समीक्षा विस्तार से की गई है। इन सभी उपन्यासों में विभाजन, जमींदारी प्रथा, हिन्दू–मुस्लिम संबंध, राजनीति सभी का पुट शामिल है। सभी उपन्यास अपने विशिष्ट कथानक के कारण साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परन्तु मुझे 'टोपी शुक्ला' उपन्यास अत्यधिक प्रिय है। टोपी की कहानी ने मेरे मन–मस्तिष्क को छुआ। टोपी का उपेक्षित जीवन और अपनी आजीविका का संघर्ष सलाम करने लायक है। 'हिम्मत जौनपुरी' ने मुझे इतना प्रभावित नहीं किया। इसका कथानक इतना रोचक नहीं है। वहीं 'दिल एक सादा कागज', 'असंतोष के दिन', 'ओस की बूंद', 'सीन–75' भी सामान्य कोटि के उपन्यास हैं। हाँ, 'नीम का पेड़' थोड़ा विशिष्ट लगता है, क्योंकि यह सर्वप्रथम धारावाहिक के रूप में लिखा गया था। बाद में इसका लिप्यन्तरण उपन्यास के रूप में किया गया। राही मासूम रज़ा के लेखन में जो विद्रोह था। वह राजनीतिक परिस्थितियों के कारण था। वह विभाजन को अंतिम सांस तक नहीं भुला पाए, इसलिए उनके सभी उपन्यासों में विभाजन की त्रासदी के दर्शन होते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

(1) राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला, पृष्ठ सं.–135

(2) राही मासूम रज़ा, ओस की बूँद, पृष्ठ सं.–42

(3) राही मासूम रज़ा, दिल एक सादा, कागज, पृष्ठ सं.–129

(4) वही, पृष्ठ सं.–129

(5) राही मासूम रज़ा, हिम्मत जैनपुरी, पृष्ठ सं.–66

(6) वही, पृष्ठ सं.–70

(7) वही, पृष्ठ सं.–70

(8) राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला, पृष्ठ सं.–22

(9) राही मासूम रज़ा, हिम्मत जैनपुरी, पृष्ठ सं.–7

(10) वही, पृष्ठ सं.–7

(11) वही, पृष्ठ सं.–16

(12) वही, पृष्ठ सं.–50

(13) वही, पृष्ठ सं.–51

(14) वही, पृष्ठ सं.–65

(15) वही पृष्ठ सं.–66

(16) वही, पृष्ठ सं.–87

(17) वही, पृष्ठ सं.–8

(18) वही, पृष्ठ सं.–51

(19) वही, पृष्ठ सं.–97

(20) वही, पृष्ठ सं.–98

(21) वही, पृष्ठ सं.–118

(22) वही, पृष्ठ सं.–118

(23) वही, पृष्ठ सं.–125

(24) वही, पृष्ठ सं.–125

(25) वही, पृष्ठ सं.–103

(26) राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला, पृष्ठ सं.–5

(27) वही, पृष्ठ सं.–17

(28) वही, पृष्ठ सं.–18

(29) वही, पृष्ठ सं.–22

(30) वही, पृष्ठ सं.–28

(31) वही, पृष्ठ सं.–29

(32) वही, पृष्ठ सं.–28

(33) वही, पृष्ठ सं.–39

(34) वही, पृष्ठ सं.–23

(35) वही, पृष्ठ सं.–88

(36) वही, पृष्ठ सं.–58

(37) वही, पृष्ठ सं.–62

(38) वही, पृष्ठ सं.–73

(39) वही, पृष्ठ सं.–91

(40) वही, पृष्ठ सं.–91

(41) वही, पृष्ठ सं.–93

(42) वही, पृष्ठ सं.–94

(43) वही, पृष्ठ सं.–95

(45) राही मासूम रज़ा, दिल एक सादा कागज, पृष्ठ सं.–5

(46) वही, पृष्ठ सं.–131

(47) वही, पृष्ठ सं.–129

(48) वही, पृष्ठ सं.–129

(49) वही, पृष्ठ सं.–129

(50) वही, पृष्ठ सं.–104

(51) वही, पृष्ठ सं.–188

(52) वही, पृष्ठ सं.–206

(53) वही, पृष्ठ सं.–186

(54) वही, पृष्ठ सं.–174

(55) वही, पृष्ठ सं.–186

(56) वही, पृष्ठ सं.–187

(57) वही, पृष्ठ सं.–211

(58) वही, पृष्ठ सं.–192

(59) वही, पृष्ठ सं.–214

(60) राही मासूम रज़ा, आसंतोष के दिन, पृष्ठ सं.–108

(61) वही, पृष्ठ सं.–12

(62) वही, पृष्ठ सं.–13

(63) वही, पृष्ठ सं.–13

(64) वही, पृष्ठ सं.–23

(65) वही, पृष्ठ सं.–32

(66) वही, पृष्ठ सं.–23

(67) वही, पृष्ठ सं.–19

(68) वही, पृष्ठ सं.–51

(69) वही, पृष्ठ सं.–51

(70) वही, पृष्ठ सं.–41

(71) वही, पृष्ठ सं.– 47

(72) वही, पृष्ठ सं.–47

(73) वही, पृष्ठ सं.–24

(74) वही, पृष्ठ सं.–66

(75) वही, पृष्ठ सं.–65

(76) वही, पृष्ठ सं.–66

(77) वही, पृष्ठ सं.–69

(78) वही, पृष्ठ सं.–69

(79) वही, पृष्ठ सं.–78

(80) वही, पृष्ठ सं.–89

(81) वही, पृष्ठ सं.–96

(82) वही, पृष्ठ सं.–99

(83) वही, पृष्ठ सं.–100

(84) वही, पृष्ठ सं.–100

(85) वही, पृष्ठ सं.–101

(86) वही, पृष्ठ सं.–98

(87) वही, पृष्ठ सं.–101

(88) वही, पृष्ठ सं.–101

(89) वही, पृष्ठ सं.–101

(90) वही, पृष्ठ सं.–102

(91) वही, पृष्ठ सं.–102

(92) राही मासूम रज़ा, ओस की बूँद, पृष्ठ सं.–7

(93) वही, पृष्ठ सं.–13

(94) वही, पृष्ठ सं.–14

(95) वही, पृष्ठ सं.–14

(96) वही, पृष्ठ सं.–15

(97) वही, पृष्ठ सं.– 23

(98) वही, पृष्ठ सं.–25

(99) वही, पृष्ठ सं.–26

(100) वही, पृष्ठ सं.–19

(101) वही, पृष्ठ सं.–20

(102) वही, पृष्ठ सं.–21

(103) वही, पृष्ठ सं.–20

(104) वही, पृष्ठ सं.–32

(105) वही, पृष्ठ सं.–32

(106) वही, पृष्ठ सं.–31

(107) वही, पृष्ठ सं.–32

(108) वही, पृष्ठ सं.–42

(109) वही, पृष्ठ सं.–41

(110) वही, पृष्ठ सं.–36

(111) वही, पृष्ठ सं.–35

(112) वही, पृष्ठ सं.–51

(113) वही, पृष्ठ सं.–61

(114) वही, पृष्ठ सं.–62

(115) वही, पृष्ठ सं.–62

(116) वही, पृष्ठ सं.–112

(117) वही, पृष्ठ सं.–112

(118) वही, पृष्ठ सं.–113

(119) राही मासूम रज़ा, सीन पिचहत्तर, उपन्यास के फ्लैप से साभार

(120) वही, पृष्ठ सं.–16

(211) वही, पृष्ठ सं.–61

(122) वही, पृष्ठ सं.–62

(123) वही, पृष्ठ सं.–81

(124) वही, पृष्ठ सं.–81

(125) वही, पृष्ठ सं.–81

(126) वही, पृष्ठ सं.–86

(127) वही, पृष्ठ सं.–129

(128) राही मासूम रज़ा, नीम का पेड़, पृष्ठ सं.–1 (फ्लैप से)

(129) वही, पृष्ठ सं.–12

(130) वही, पृष्ठ सं.–17

(131) वही, पृष्ठ सं.–31

(132) वही, पृष्ठ सं.–82

(133) वही, पृष्ठ सं.–41

(134) वही, पृष्ठ सं.–43

(135) वही, पृष्ठ सं.–44

(136) वही, पृष्ठ सं.–44

(137) वही, पृष्ठ सं.–45

(138) वही, पृष्ठ सं.–62

(139) वही, पृष्ठ सं.–59

(140) वही, पृष्ठ सं.–90

(141) वही, पृष्ठ सं.–66

(142) वही, पृष्ठ सं.–91

(143) वही, पृष्ठ सं.–60

सप्तम् अध्याय

राही मासूम रज़ा के कथेतर गद्य

7.1 सिनेमा और संस्कृति – वैचारिकी

7.2 लगता है बेकार गए हम – व्यंग्यात्मक निबंध

7.3 ख़ुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़

7.1 सिनेमा और संस्कृति वैचारिकी :–

'सिनेमा और संस्कृति' राही मासूम रज़ा के बिखरे हुए आलेखों का संकलन है। उन्होंने पच्चीस वर्षों तक सिनेमा में अपना योगदान दिया। सिनेमा को वह, अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम मानते थे। उन्होंने सिनेमा को मनोरंजन तक सीमित नहीं समझा। सिनेमा समाज का दर्पण है और साहित्य समाज का अभिन्न अंग। इसलिए सिनेमा को साहित्य में एक विषय के रूप में स्थान मिलना चाहिए, यही उनका उद्देश्य था। राही मासूम रज़ा को अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सिनेमा और पाठ्यक्रम पर व्याख्यान देने के लिए हिन्दी विभाग की तरफ से आमंत्रित किया गया था। 25 नवम्बर 1991 को राही मासूम रज़ा ने अंतिम सार्वजनिक व्याख्यान दिया, जो ऐतिहासिक और प्रासंगिक दोनों था। इस व्याख्यान माला के संयोजक प्रो. कुँवरपाल सिंह थे। इस ऐतिहासिक व्याख्यान का संकलन 'सिनेमा और संस्कृति' वैचारिक निबंधों के अंतर्गत किया गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दृश्य माध्यमों में एक सिनेमा और दूसरा दूरदर्शन ही था, जिसने भारत की मध्यमवर्गीय मानसिकता को प्रभावित किया। प्रभावित करने के साथ–साथ यह कई बिन्दुओं से हेय दृष्टि से भी देखा गया। जब राही मासूम रज़ा ने सिनेमा में अपना भाग्य आजमाया, तब इस विधा में कई तरह की भ्रांतियाँ थी। चूँकि वर्तमान में मीडिया, सिनेमा, दूरदर्शन, सोशल मीडिया हमारी दिनचर्या के अभिन्न अंग हैं। वर्तमान में यह एक स्वतंत्र विषय है, परन्तु उस समय सिनेमा एक नवीन विधा थी, जिसका प्रचलन सिर्फ मनोरंजन तक सीमित था। दृश्य माध्यमों को साहित्य का अंग नहीं माना जाता था। राही मासूम रज़ा दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने इसकी प्रासंगिक व्याख्या प्रस्तुत की, वह कहते हैं "मेरे विचार में साहित्य, साहित्यकार और पाठक रचनात्मक कला का त्रिभुज है। पाठक की अनुपस्थिति में साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। साहित्य पाठक के पास पहुँच कर ही साहित्य बनता है।"[1] राही मासूम रज़ा ने 90 के दशक में इन प्रगतिशील विचारों की पैरवी की थी। उनकी दूरदर्शिता आज भी सटीक बैठती है। उनके सिद्धान्त बेबुनियाद नहीं थे। उन्होंने परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल लिया और भारतीय सिनेमा में एक सफल संवाद, लेखक के रूप में अमर हो गए। राही मासूम रज़ा ने संवाद लेखन को सेमिक्रिएटिव कार्य माना है और उन्हें इस बात का भी मलाल है, "यह बात अटल है कि हम साहित्यकार अपना बजूद तसलीम करवाने में अभी तक सफल नहीं हुए है। इसका कारण यह है, कि आधुनिक भारतीय समाज ने साहित्यकार को वह आदर नहीं दिया है जो उसका अधिकार है।"[2] इसीलिए सिनेमा हेय दृष्टि का नहीं अपितु सृजनात्मकता का सेतु है।

इस पुस्तक में कई संस्मरण भी सम्मिलित किए गए हैं, जो तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे, जिसमें दिलीप कुमार पर उनका लिखा संस्मरण रोचक है। अमृता प्रीतम की कविताओं के प्रतीकों की व्याख्या भी राही मासूम रज़ा ने की थी। अध्यापक का गुण तो राही मासूम रज़ा में पहले से ही था अब वह समीक्षक के रूप में भी नजर आने लगे थे। उनके आलेख तत्कालीन विषयों से लेकर साहित्य तक थे जैसे – 'भाषा और राष्ट्रीयता', 'साहित्यकार और देश की चिन्ताएँ', 'कहानी लेखक और पाठक के अंतःसंबंधों की पड़ताल', 'धर्म संस्कृति और राष्ट्रीयता', 'तिलिस्मे होशरूबा : अवध की तहजीब' उनके चर्चित निबंध हैं। 'तिलिस्मे होशरूबा : अवध की तहजीब' एक ऐतिहासिक निबंध है। राही मासूम रज़ा ने अपना शोधकार्य इसी विषय पर किया था, और उन्होंने कहा है कि, "मैंने अपने शोध प्रबंध में ऐसी अट्ठावन मिसालें दी हैं.... वह उर्दू नहीं है, यानि इन्हें इस दास्तान से निकाल कर देखा जाये तो ये हिन्दी काव्य की मिसालें हैं। मगर 'नासिख' का लखनऊ खिचड़ी भाषा नहीं बोलता था और इसलिए मैं यह कहने का हौसला कर रहा हूँ कि वे तमाम कवित्त और दोहे उर्दू जगत में सिक्के की तरह चल रहे थे और इसीलिए उन दास्तानगोयों ने लखनऊ के 'अशराफ' के सामने ये दोहे पढ़ने का हौसला किया। तिलिसम में तो ऐसे अट्ठावन की मकामात हैं, परन्तु इनकी गवाही मान ली जाये तो यह सोचना गलत न होगा की उर्दू में डिंगल और अवधी के इन्हीं अट्ठावन शेरों का चलन न रहा होगा, बल्कि अट्ठावन सौ शेरों में से इन दास्तानगोयों ने सिर्फ अट्ठावन शेरों का प्रयोग किया है।''[3]

उनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'तिलिस्में होशरूबा : अवध की तहजीब' हमारे हिन्दुस्तान की तहजीब है। इसमें उपयोग में आए शब्द उर्दू के न होकर अपभ्रंश है। वह आंचलिक शब्द भण्डार है, जो हमारी संस्कृति को उन्नत किए हुए है। इसका एक उदाहरण पठनीय है। देखिए "आइए अब भाषा की दुनिया में चलें दास्तानगोयों ने अभ्रक अतीत, अचरज (आश्चर्य), अर्थी, अढ़ोरी, स्त्री, स्नान, अगियार, अन्न, अनंद, ओर, इक्षा, उढ़ाई, स्थान, उत्तम, असीम।"[4] आदि ऐसे कई शब्दों का प्रयोग हुआ है जो हिन्दी उर्दू के अपभ्रंश और आंचालिक शब्द है। अवध हमारी सांस्कृतिक राजधानी है। राही मासूम रज़ा हिन्दुस्तान की सामासिक संस्कृति के पक्षधर है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि हिन्दी काव्य के दोहे, कवित्त, चौपाईयों का भी 'तिलिस्मे होशरूबा' में प्रयोग हुआ है। यह ग्रंथ सिर्फ उर्दू तक सीमित नहीं है यह हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक विविधता का उदाहरण है।

'कहानी : लेखक और पाठक के अन्तःसंबंधों की पड़ताल' निबंध में राही मासूम रज़ा ने लेखक और पाठक के मनोविज्ञान की पड़ताल की है। साथ ही साथ गद्य और पद्य में

अंतर भी स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा, "लोग इस युग को जब गद्य का युग कहते है तो उनका मतलब कहानियों और उपन्यासों से नहीं होता। सच पूछिये तो कहानी और उपन्यास और अन्य दूसरी विधाएँ गद्य की शर्तो को पूरा नहीं करते, क्योंकि गद्य ठोस और निश्चित शब्दों का प्रयोग करती हैं परन्तु काव्य में शब्दों को पिघला कर तब उनका प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि काव्य का अर्थ निश्चित नहीं होता जिस तरह गणित के किसी फार्मूले का होता है। गद्य विज्ञान का माध्यम है और उसका आधार शब्दकोश में लिखे हुए शब्दों पर होता है, परन्तु कविता जीवन का अध्ययन है और उसका आधार रूपक होता है।"[5] "कहानियाँ चाहे वे कविता के किसी रूप में क्यों न हो अपने चरित्रों में बंधी हुई होती है, क्योंकि वे अपने चरित्रों का नाम रखने पर मजबूर होती है।"[6] ''कहानीकार का कर्त्तव्य ये है कि वह जड़ दिखाई देने वाली वास्तविकता को डाईनैमिक बनाकर देखे और दिखाए।"[7]

राही मासूम रज़ा का विचार था कि, ''कहानी और उपन्यास की परम्परा हमारी नहीं है, योरोप की है। इन्हें अपनाने में कोई हानि नहीं परन्तु इन्हें भारतीय रूप देना जरूरी है। भारत में छोटी घरेलू कहानियाँ और लम्बी कथाओं की परम्परा मौजूद है, परन्तु अंग्रेजी की धुन में हमने उनको भूला दिया है। ये बड़ी दिलचस्प बात है कि उर्दू में आधुनिक कहानी लेखन शार्ट स्टोरी से शुरू नहीं हुआ बल्कि नॉबिल से शुरू हुआ और ऐसा इसलिए हुआ कि उर्दू में दास्तानों और मसनवियों की परम्परा मौजूद थी, परन्तु इन परम्पराओं से दामन छुड़ा लिया गया। नतीजे में हमारी आधुनिक कहानी के पाँव के नीचे से जमीन निकल गई और अगर दो विचार धाराओं में यानी सर सैयद की विचारधारा और फिर मार्क्सवाद ने हमारी आधुनिक कहानी को सहारा न दिया होता तो ये कहानी कब की मर–खप चुकी थी।"[8]

इस निबंध में राही मासूम रज़ा ने कहानी के शिल्पगत सौन्दर्य पर गंभीर तत्त्वालोचन किया है। चूंकि कहानी मानव जीवन का एक अंग है। इसलिए गद्य की परिपाटी की समीक्षा नितांत आवश्यक विषय है। उन्होंने अपने फिल्मी अनुभव भी साझा किए है कि किस प्रकार एक हिन्दी लेखक को अपनी रचनात्मकता के साथ समझौता करना पड़ता है। उसकी लेखनी पर निर्देशक की कैंची चलती रहती है। कभी–कभी बिना शब्दों के माध्यम से भी दर्शकों को संतुष्ट करना होता है। संवाद लिखना एक कठिन कार्य है। लेखक पर पूरे समाज की जिम्मेदारी होती है। कभी–कभी निर्देशक ही कथाकार बन जाता है और लेखक का व्यक्तित्व गौण हो जाता है। एक लेखक को निर्देशक के अनुरूप चलना पड़ता है।

इस पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार राही मासूम रज़ा और अली सरदार जाफ़री के मध्य है। यह एक गुफ्तगू है, जो 18 अप्रैल, 1990 को इन दो महान लेखकों के मध्य हुई, जिनमें साहित्य, कला, राजनीति से लेकर तत्कालीन, परिस्थितियों के बारे में गंभीर सवाल–जवाब किए गए हैं।

7.2 लगता है बेकार गए हम :–

'लगता है बेकार गए हम' राही मासूम रज़ा के आलेखों का तीसरा व अंतिम संग्रह है। इस संग्रह में अधिकतर आलेख राजनीतिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक विमर्शों पर हैं। राही मासूम रज़ा बहुत ही संवेदनशील व्यक्ति थे। इन आलेखों में उनके विचार ज्वलंत और विचारणीय हैं। वे समाज के ठेकेदारों से गंभीर प्रश्न करते हैं। औपनिवेशिक ताकतों के द्वारा किए गए विभाजन का समाज पर जो प्रभाव पड़ा है, वह उसका उत्तर हर बूझी और बुढ़ी आँखों के रूप में माँगते हैं। राही मासूम रज़ा को लिपि के बँटवारे का बहुत दुःख है। वह बम्बई में हुए साम्प्रदायिक दंगों से भी आहत हैं और राज ठाकरे से गंभीर प्रश्न करते हैं। इस संग्रह में उनके कई खत भी हैं, जिसमें उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी, अल्ला मियाँ, राजठाकरे कई व्यक्तियों को लिखे हैं और उनसे कई प्रश्न भी किए हैं।

इसके अतिरिक्त जब कृष्णा सोबती का 'जिन्दगी नामा' उपन्यास प्रकाशित हुआ, तो इस उपन्यास ने साहित्य की धरती पर धूम मचा दी। इस उपन्यास में गालियों का भरपूर प्रयोग किया गया। उसी समय अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती के बीच मौन वैचारिक युद्ध चल रहा था। इसके बारे में राही मासूम रज़ा ने कहा, "लगता ऐसा है कि कृष्णाजी और अमृताजी में किसी बात पर अनबन हो गई है। यदि ऐसा है तो हिन्दी और पंजाबी के बड़े–बूढ़ों को बीच बचाव करवा देना चाहिए, क्योंकि, खासतौर पर आज जबकि हिन्दुस्तान के दरवाजे पर एक गहरा अंधेरा दस्तक दे रहा है, कवियों और कथाकारों को यह शोभा नहीं देता कि वह अपने कर्त्तव्य को पीछे ढकेलकर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने का काम शुरू कर दें, कीचड़ उछालना यूँ भी कोई साफ सुथरी हॉबी नहीं है।"[9] इस तरह कई प्रसंगों के साक्षी रहे हैं राही मासूम रज़ा।

राही मासूम रज़ा ने संवाद लेखक बनने के बाद कई तरह के बदलाव देखें। जब राही मासूम रज़ा ने 'महाभारत' के संवाद लिखे तो उनके ऊपर कई तरह के आरोप–प्रत्यारोप लगाए गए, परन्तु वह अपने कर्मक्षेत्र से कभी पीछे नहीं हटे। राही मासूम रज़ा द्वारा 24 मार्च, 1964 को 'गंगा और महादेव' शीर्षक कविता लिखी गई जिसमें उनका

व्यक्तित्व और समाज के प्रति गुस्सा साफ झलकता है। कविता की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार है –

"मेरा नाम मुसलमानों जैसा है
मुझको कत्ल करो
और मेरे घर में आग लगा दो ।
लेकिन मेरी नस–नस में गंगा का पानी दौड़ रहा है ।
मेरे लहू से चुल्लु भर कर
महादेव के मुँह पर फेंको
और उस जोगी से कह दो
महादेव !
अब इस गंगा को वापस ले लो
यह मलिच्छ तुर्कों के बदन में गाढ़ा गर्म लहू बन कर दौड़ रही है ।"[10]

7.3 ख़ुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़ :–

राही मासूम रज़ा फिल्मी लेखन के साथ साहित्य की दुनिया से भी जुड़े रहे। उनकी आत्मा हिन्दी में बसती थी। इतनी व्यस्त दिनचर्या होते हुए भी तत्कालीन विषयों पर उनका लेखन लगातार चलता रहा। राही मासूम रज़ा 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'गंगा' आदि कई समकालीन पत्रिकाओं में लेखन कार्य करते रहे। उन्होंने हिन्दी–उर्दू के युद्ध में लिपि को महत्वपूर्ण बताया। 'खुदा हाफ़िज कहने का मोड़' राही मासूम रज़ा के इन्हीं प्रकाशित लेखों का संग्रह है। मैं 29 मई 2019 को जब नमिता सिंह जी से मिलने अलीगढ़ गई तब उन्होने कहा, "राही साहब अपने प्रकाशित लेखों को बड़ा सहेज कर रखते थे। जब वे अंतिम बार अलीगढ़ आए, तब वह अपने सभी प्रकाशित आलेखों की पेपर कटिंग जो मूलतः जैसी छपी थी, वैसी काट कर कुँवरपाल सिंह जी को दे गए थे। कुँवरपाल सिंह जी ने सभी प्रकाशित आलेखों का संचयन करके उन्हें 'लगता है बेकार गए हम', 'खुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़' और 'सिनेमा और संस्कृति' पुस्तकों में संपादित किया।

इन तीनों पुस्तकों को पढ़ कर ऐसा लगता है राही मासूम रज़ा के लिपि, कविता, उर्दू शायरी पर लिखे विचार मौलिक और तटस्थ हैं। उन्होंने साहित्य में परिवर्तन देखा जो आज़ादी के पहले और आज़ादी के बाद अलग था। उन्होंने साहित्य की दिशा का निर्णायक मोड़ सन् 57 की क्रान्ति को माना। इसके बाद ही साहित्य का रुख राष्ट्रीय हुआ तथा इसके बाद 1936 में प्रगति लेखक संघ की स्थापना हुई।

राही मासूम रज़ा को हम संवाद लेखक के रूप में न देखे तो उनकी आलोचक की भूमिका प्रबल और रोचक है। उन्होंने स्वयं को किसी बंधन में नहीं बाँधा, शायद इसीलिए आजीवन उर्दू कवियों का विरोध झेला। एक स्वस्थ समाज की परिभाषा क्या होती है? यही ना कि उस समाज के लोग नवोन्मेष की ओर बढ़ें। वह आलोचना और समालोचना दोनों को स्वीकार करें। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दुस्तान किसी जाति विशेष या धर्म विशेष को लक्षित नहीं करता है। वह तो धार्मिक और सामाजिक मतभेदों से ऊपर पूरे आर्यावृर्त को संबोधित करता है।

राही मासूम रज़ा हिन्दी के लेखक होने से पहले उर्दू शायर थे। उनकी पहचान एक शायर के रूप में थी। हिन्दी में लेखन उन्होंने बाद में प्रारम्भ किया। उर्दू साहित्य की भारतीय आत्मा वाले प्रसिद्ध लेख में राही मासूम रज़ा कहते हैं, "लिपि का झगड़ा तो अंग्रेजी की देन है।"[11] औपनिवेशिक ताकतों ने आर्यावृर्त को विभाजन का जख़्म दिया। उनकी रणनीति सफल रही। जहाँ हिन्दी और उर्दू एक ही माँ की दो बोटियों की तरह हैं। जब हिन्दुस्तान आजाद हुआ तो लिपियों का बड़ा संकट था। सभी धार्मिक आधार पर अपना राग आलाप रहे थे। उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों में राही मासूम रज़ा का यह आलेख ज्वलंत मुद्दों को सही दिशा देता है।

राही मासूम रज़ा भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता थे। 'पाकिस्तानी उर्दू कविता पर भारतीय प्रभाव' आलेख में उन्होंने पाकिस्तानी उर्दू कविताओं की समीक्षा की है। चूंकि एक माँ के दो बच्चों की शक्ल–सूरत तो अलग–अलग हो सकती है पर उनके संस्कार एक ही होंगे। यही बात पाकिस्तानी की उर्दू कविता पर लागू होती है, जिसमें भारतीय संस्कृति के रंग बिखरे हुए हैं। जिसकी नायिका राधा और नायक कृष्ण हैं। जिनको मथुरा के कीर–कुंजो, हवा–पानी, पहाड़ों सभी से प्रेम है। इसलिए वह पाकिस्तानी शायरी कैसे हुई। राही मासूम रज़ा एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

"मैं विंध्याचल की आत्मा
मेरे माथे चंदन चंदरमा
मेरी मांग सांझ की धूप
मैं चित्रकार का अंतिम चित्र
कला का उत्तम रूप।"[12]

प्रस्तुत पंक्तियाँ पाकिस्तान के शायर असद मुहम्मद खाँ की है। राही मासूम रज़ा इन पक्तियों के उदाहरण से पूछते हैं कि इसमें वर्णित लिपि कहाँ से उर्दू हुई। इस कविता

की शब्दावली कहाँ से पाकिस्तानी मालूम होती है। "प्रश्न यह नहीं है कि पाकिस्तान की उर्दू कविता भारतीय परम्पराओं से नाता तोड़ रही है या जोड़ रही है। बल्कि प्रश्न यह है कि संस्कृति, सभ्यता और परम्पराएँ भी बाँटी जा सकती हैं? क्या घर के बंटवारे से बुनियाद की ईंटें भी बंटवारे की लपटों में आ जाती हैं।"[13]

राही मासूम रज़ा लिपि के झगड़े को भाषा तक ही सीमित नहीं मानते। उनके अनुसार अब यह भयानक बात हो गई है। "हिन्दी या उर्दू भी दो लिपियों में लिखी जाती है। यह तो अंग्रेजों का चमत्कार है कि उन्होंने लिपि को भाषा बना दिया और हम आज तक लिपि की लकीर पीटने में लगे हुए हैं। प्रश्न यह भी उठेगा कि हिन्दी केन्द्र का बहुमत इन दोनों में से कोई एक लिपि को भी नहीं जाता तो इसका फैसला कैसे हो कि उनकी भाषा क्या है। यदि उनकी भाषा हिन्दी है तो वह आले अहमद सुरूर की समझ में कैसे आ जाती है और यदि उनकी भाषा उर्दू है तो उसे यशपाल और अमृतलाल नागर और सेठ गोविन्द दास कैसे समझ लेते हैं। यही वह लोग हैं जिन पर उर्दू और हिन्दी वालों ने धावा बोल रखा है।"[14]

"भाषा आवाज है। भाषा लिपि नहीं है। मेरी भाषा वही है जो कबीर, सूर, तुलसी और जायसी की भाषा थी। यशपाल और कृश्नचंदर की भाषा एक ही है। हम ग़ालिब के परिवार के लोग हैं और ग़ालिब ने उर्दू लिपि में लिखी हुई अपनी भाषा को हिन्दी ही कहा था। हम इंशा के वारिस है। जिन्होंने एक ऐसी भाषा में 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जिसमें हिन्दी छोड़ किसी और ज़बान का पुट ही नहीं है।"[15]

राही मासूम रज़ा ने नयी कविता पर कई लेख लिखे। सन् 1960 के बाद साहित्य में नयी कविता का आवागमन हुआ। नये प्रतीक नये चिन्हों का प्रयोग हुआ। जिसमें आम आदमी के जीवन की नीरसता, उसका खालीपन था। इसके अलावा उन्होंने आग का दरिया (उपन्यास, लेखक कुर्रतुलऐन हैदर) की लम्बी समीक्षा की। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। जिसने कई जड़ परम्पराओं को तोड़ा। सरदार जाफ़री की देवनागरी में लिखी कविताओं की समीक्षा की। तुलसी के रामचरित मानस की भावनात्मक एकता का विश्लेषण किया। भक्तिकाल के इस महाकाव्य की जो आलेचना राही मासूम रज़ा ने प्रस्तुत की हैं वह पठनीय है।

"मुहर्रम एक ठेठ भारतीय त्यौहार है", निबंध में मुहर्रम को एक भारतीय त्योहार बताया गया है। वह दिवाली, होली, दशहरे की तरह ठेठ भारतीय त्योहार है। उन्होंने मुहर्रम के पैगंबर मुहम्मद की कहानी महाभारत के कर्ण से प्रतिबिम्बित की है। भारतीय समाज में

'महाभारत' एक पौराणिक महाकाव्य है। इसकी कथाओं से हमारा समाज शिक्षा लेता है। उसी तरह कर्बला की जंग भी एक संदेश देती है, एक वीर सिपाही के बलिदान का। राही मासूम रज़ा ने 'महाभारत' की कथा और कर्बला की कथा में कई समानताएँ प्रस्तुत की है। मुहर्रम के ताज़िए हिन्दुओं द्वारा बनाए जाते हैं। दशहरे का चंदा मुसलमानों द्वारा दिया जाता है। यह भारत की सामाजिक और भावनात्मक एकता का प्रतीक है।

निष्कर्ष :–

राही मासूम रज़ा ने भारतीय संस्कृति की हर जगह पैरवी की है। उन्होंने लिपि, भाषा, त्योहार, साहित्य, संस्कृति सभी में अक्षुण्ण मानवता, सौहार्द का वर्णन किया है। वह कहते हैं, "मेरे पुरखों ग़ालिब और मीर के साथ सूर, तुलसी और कबीर के नाम भी आते हैं। लिपि के झगड़े में मैं अपनी विरासत और अपनी आत्मा को कैसे भूल जाऊँ? न मैं एक लिपि की तलवार से अपने पुरखों का गला काटने को तैयार हूँ और न मैं किसी को यह हक देता हूँ कि वह दूसरी लिपि की तलवार से मीर, ग़ालिब और अनीस की गर्दन काटें। आप खुद ही देख सकते हैं कि दोनों तलवारों के नीचे गले है मेरे ही बुजुर्गो के।"[16] अतः उनके वैचारिक निबंधों का फलक विस्तृत है। वह पाठक और लेखक के विचारों के मध्य सांस्कृतिक सेतु का कार्य करते हैं। भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों को समझने और आत्मसात करने में यह वैचारिक निबंध पाठक को नए सिरे से सोचने पर मजबूर करते हैं। इन निबंधों का दृष्टिकोण संकुचित नहीं अपितु विस्तृत है।

संदर्भ ग्रन्थ

(1) राही मासूम रज़ा, सिनेमा और संस्कृति, पृष्ठ सं.–17

(2) वही, पृष्ठ सं.–48

(3) वही, पृष्ठ सं.–131

(4) वही, पृष्ठ सं.–131

(5) वही, पृष्ठ सं.–177

(6) वही, पृष्ठ सं.–177

(7) वही, पृष्ठ सं.–178

(8) वही, पृष्ठ सं.–180

(9) राही मासूम रज़ा, लगता है बेकार गए हम, पृष्ठ सं.–84

(10) वही, पृष्ठ सं.–59

(11) राही मासूम रज़ा, खुदा हाफ़िज कहने का मोड़, पृष्ठ सं.–31

(12) वही, पृष्ठ सं.–59

(13) वही, पृष्ठ सं.–51

(14) वही, पृष्ठ सं.–104

(15) वही, पृष्ठ सं.–104

(16) वही, पृष्ठ सं.–32

अष्टम् अध्याय

उपसंहार

उपसंहार :–

राही मासूम रज़ा यथार्थवादी लेखक थे। उन्होंने ऐसे समय में अवतरण लिया जब हिन्दुस्तान अपनी संस्कृति की अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहा था। राही मासूम रज़ा ने उन परिस्थितियों को बहुत नजदीक से देखा, जब मानव समाज को एक मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। उनका जीवन सपाट सड़क नहीं अपितु उबड़–खाबड़ पगडंडी है, जिस पर चलते हुए उन्होंने नित नयी परीक्षाएँ दीं। धारा के विरुद्ध जाना उनका स्वभाव था। उनका साहित्य एक सांस्कृतिक सेतु है, जो हिन्दुस्तान को उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक एक ही धारा में जोड़ता है।

उन्होंने विभाजन को नजदीक से देखा और भोगा भी। उन्हें अपनी भारतीय संस्कृति से बहुत प्रेम है। वे इस पर लांछन बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उनके साहित्य में एक विद्रोह देखने को मिलता है। विभाजन का दर्द, उन्हें अंतिम समय तक सालता रहा। उनके लेखन कर्म में विभाजन एक प्रमुख समस्या बनकर उभरा है। लगभग उनके सभी उपन्यासों में विभाजन की समस्या को उकेरा गया है। 'आधा गाँव' इसका ज्वलंत उदाहरण है। विभाजन पर साहित्य में कई रचनाएँ उपलब्ध हैं, पर 'आधा गाँव' शिया मुसलमानों के जीवन पर केन्द्रित अपनी तरह की कृति है, जिनका दर्द अश्वत्थामा के रिसते घाव के समान है। शिया मुसलमानों के आन्तरिक जीवन का वर्णन जैसा 'आधा गाँव' उपन्यास में किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले का वातावरण और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वातावरण का वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। आंचलिकता भी इस उपन्यास की अन्यतम विशेषता है।

राही मासूम रज़ा ने हिन्दी में तो रचना कर्म किया ही, परन्तु वे मूलतः उर्दू के शायर थे। उनका प्रारम्भिक रचनाकर्म उर्दू भाषा में ही मिलता है। जीवन के पूर्वाद्ध में वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय में शोधार्थी थे, बाद में उन्होंने वहाँ के उर्दू विभाग में अस्थाई अध्यापक के रूप में अपनी सेवाएँ दी। राही मासूम रज़ा को बचपन से ही सामासिक वातावरण मिला, जिसने उनके मन–मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी।

जब हम राही मासूम रज़ा के सृजन का विश्लेषण करते हैं तो एक बात प्रमुख रूप से उभर कर आती है 'सामासिक संस्कृति'। उनके लेखन की यह प्रमुख विशेषता है। उनके उपन्यास, निबंध, कविता, उर्दू शायरी और महाकाव्य में सामासिक संस्कृति के दर्शन होते हैं। राही मासूम रज़ा का दृष्टिकोण व्यापक था। उन्होंने 'आधा गाँव' उपन्यास में भी

भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक विरासत का वर्णन किया है। उनके स्तम्भ लेखन में भी भारत की गौरवमयी संस्कृति के दर्शन होते हैं।

जब भारत के लोकतंत्र पर आपातकाल के बादल गहराने लगे, तो उन्होंने इंदिरा गाँधी के फरमान को भी मानने से इंकार कर दिया। 'कटरा बी आर्ज़ू' आपातकाल का साक्ष्य है। देशराज और बिल्लो की जो दुर्गति इस उपन्यास में हुई है, वह हर भारतवासी की दुर्गति थी। उन्होंने उपन्यास में जिन परिस्थितियों का वर्णन किया है, वह सत्य घटनाओं पर आधारित है। आपातकाल के समय जब फिल्म लेखक संघ के सदस्य तत्कालीन सरकार के फरमानों को स्वीकार कर रही थे, तब राही मासूम रज़ा ने उन्हें सिरे से नकार दिया। आपातकाल हमारे लोकतंत्र का काला अध्याय है। जब अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गई, तब साहित्यकारों ने अपने लेखन कौशल का परिचय दिया।

राही मासूम रज़ा का दृष्टिकोण व्यापक था। उनका समग्र लेखन मानवता का पर्याय है। उन्होंने हिन्दी की सभी विधाओं में लेखन किया है। 'क्रांति कथा–1857' महाकाव्य भी उनकी बहुमुखी प्रतिभा का उदाहरण है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम पर महाकाव्य का सृजन उनके जीवन की बड़ी उपलब्धियों में से एक है। इसमें उन्होंने पद्यमयी भाषा में सम्पूर्ण क्रांति का वर्णन किया है। अवध से लेकर राजस्थान तक और दिल्ली से लेकर बंगाल तक क्रांति का जो प्रभाव रहा, उसका वर्णन किया गया है। अंत में 'गोमती' नाम से लघु नाटिका भी प्रस्तुत की गई है। इस महाकाव्य में भी राही मासूम रज़ा ने हिन्दू–मुस्लिम एकता के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनका पूरा लेखन मानवता के प्रति प्रतिबद्ध लेखन है।

राही मासूम रज़ा जीवन के उत्तरार्द्ध में बम्बई चले गए। उन्होंने वहाँ अपने जीवन की दूसरी पारी में संवाद लेखन में अपना भाग्य आजमाया। 'महाभारत' का संवाद लेखन उन्हें जीवन की नई ऊँचाइयों पर ले गया। वे दृश्य माध्यमों के प्रयोगधर्मी पुरुष थे। उन्होंने 300 से अधिक फिल्मों के संवाद लिखे। राही मासूम रज़ा की भाषा हिन्दी सिनेमा में एक नया गवाक्ष खोलती है। उन्होंने भारतीय सिनेमा में अपनी भाषा के द्वारा नवीन आयामों को स्थापित किया। 'महाभारत' की संवाद योजना संस्कृत निष्ठ थी, जो किसी चुनौती से कम नहीं थी। भारतीय सिनेमा में राही मासूम रज़ा का योगदान अतुलनीय है।

राही मासूम रज़ा ने हिन्दी में कुल 9 उपन्यास लिखें, जिनमें 'आधा गाँव' विभाजन की पृष्ठभूमि पर, 'कटरा बी आर्ज़ू' आपातकाल की पृष्ठभूमि पर, 'हिम्मत जौनपुरी' एक चरित्रात्मक उपन्यास है। 'टोपी शुक्ला' उपन्यास अलीगढ़ विश्वविद्यालय की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। 'दिल एक सादा कागज' उपन्यास पाकिस्तान, हिन्दुस्तान और बांग्लादेश

की त्रिकोणीय संबंधों की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। 'असंतोष के दिन' उपन्यास इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के बाद बम्बई में हुए साम्प्रदायिक दंगों केन्द्रित, 'ओस की बूंद' उपन्यास हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों पर है। 'सीन–75' एक छोटा उपन्यास है, जिसका केन्द्र फिल्मों की सतरंगी दुनिया है। 'नीम का पेड़' उपन्यास सर्वप्रथम धारावाहिक के रूप में लिखा गया था। इसको उपन्यास के रूप में बाद में प्रकाशित किया गया। राही मासूम रज़ा के सभी उपन्यास में विभाजन और अलीगढ़ विश्वविद्यालय की झलक देखने को मिलती है। विभाजन से कभी वे उभर नहीं पाए। भोजपुरी–अवधी भाषा उनके उपन्यासों की विशेषता है। भाषा की मिठास उनके लेखन को और आकर्षक बनाती है।

राही मासूम रज़ा ने कई पत्र–पत्रिकाओं में आलेख लिखे। 'सारिका', 'धर्मयुग', 'गंगा' जैसे उस समय की उत्कृष्ट पत्रिकाओं में उनके विचार आते थे। उनके लेखन में तत्कालीन राजनीति के प्रति बहुत आक्रोश था। उनके सभी आलेखों का संग्रह 'खुदा हाफिज़ कहने का मोड़', 'सिनेमा और संस्कृति', 'लगता है बेकार गए हम' पुस्तकों में संकलित हैं। उनका लेखन समाज के प्रति प्रतिबद्ध लेखन था। उन्होंने हिन्दुस्तान में एक अभिजात्य समाज की कल्पना की थी, जिसके पुरखे तुलसी और गालिब दोनों थे। वे किसी भी साम्प्रदायिक भेद–भाव को स्वीकार नहीं करते हैं। संवाद लेखन के साथ वे साहित्य में भी सृजन करते रहे और तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं में भी महत्वपूर्ण विषयों पर लिखते रहे। उनके साहित्य में हमें कई विविधताएँ देखने को मिलती हैं। वे किसी भी एक परिपाटी से बँध कर नहीं रहे। उनका साहित्य मानव इतिहास में गालिब, तुलसी, कबीर, प्रेमचंद की परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

राही मासूम रज़ा की भाषा, भारतीय समाज में एकता का प्रतीक बनकर उभरी है। उनकी भाषा समाज, परिवेश एवं पात्रों के अनुकूल है। भोजपुरी उर्दू सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। उनके पात्र हिन्दू हों या मुसलमान, उनकी भाषा एक ही रहती है। उन्होंने जिस अंचल विशेष की भाषा का प्रयोग किया, वह प्रयोग उन्हें प्रयोगधर्मी उपन्यासकार के रूप में परिभाषित करता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में राही मासूम रज़ा एक प्रयोगधर्मी उपन्यासकार थे। उनका लेखन मानव जीवन की एक उदात्त प्रस्तुति है। उनका दृष्टिकोण भविष्यदर्शी था। वे अतीत और वर्तमान का समन्वय लेखन में बहुत खूबसूरती से करते हैं, वह असाधारण है। उन्होंने सिनेमा में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। वे सिर्फ लेखन तक सीमित नहीं थे, अपितु हिन्दुस्तान के सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का निर्वहन दृश्य माध्यमों में भी किया। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में संस्कृति

और साहित्य का यह अद्‌भुत संगम परम्परा के इस प्रयोगधर्मी लेखक ने ही रोचक ढंग से किया है। निस्संदेह राही मासूम रज़ा इस बौद्धिक परम्परा के अद्वितीय रचनाकार हैं, जिन्होंने साहित्य के साथ भारतीय सिनेमा को भी अपने लेखन से समृद्ध किया। भविष्य में अगर सामासिक संस्कृति के सपनों के भारत की जड़ें तलाशने की आवश्यकता पड़ेगी तो उसमें अग्रणी नाम राही मासूम रज़ा का होगा।

शोध सारांश

राही मासूम रज़ा अपनी परम्परा के धनी साहित्यकार थे। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उनके साहित्य के अनेक पक्षों का आंकलन किया गया है। उनके साहित्य में विविधता है, उसी विविधता का समग्र रूप विभाजन जैसे विषय के रूप में उभर कर आया है। 'आधा गाँव' उपन्यास विभाजन से उभरी परिस्थितियों का जीवंत दस्तावेज है, जिसने विभाजन के परिदृश्य को समय के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया। इस उपन्यास में शिया सम्प्रदाय के अभिजात्य वर्ग का ताना–बाना प्रस्तुत किया गया है। विभाजन को सभी साहित्यकारों ने अपनी तरह से अलग–अलग अभिव्यक्ति दी है, परन्तु राही मासूम रज़ा ने जिस तरह डूब कर वर्णन किया है, वह अद्वितीय है। शिया सम्प्रदाय की वह अनौपचारिक भाषा, जो गाली की सीमा तक अश्लील होने के बावजूद मार्मिक है, जिस भाषा के अभाव में शायद उपन्यास के पात्र यांत्रिक लगते। गंगौली एक गाँव नहीं है अपितु विभाजन की त्रासदी का सत्य है। इसमें शिया सम्प्रदाय का सांस्कृतिक और सामाजिक ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है। विभाजन के पहले का परिदृश्य कैसा था और समय के साथ उसमें कैसे परिवर्तन आए, उनका सजीव चित्र अंकित किया गया है। जमींदारी प्रथा, द्वितीय विश्व युद्ध और विभाजन से राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आए हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् दलित उत्थान की जो लहर चली, वह अपना विकृत रूप लेने लगी। समाज के ढाँचे में एक निर्णायक मोड़ आया। जो जमींदार थे, उनका रुतबा घटने लगा, रोजगार के साधन खत्म हो गए, जमीनों का बँटवारा हो गया। गंगौली के सैय्यद स्वयं की अस्मिता के लिए संघर्ष करने लगे। विभाजन, विस्थापन और पलायन से शरणार्थियों की स्थिति त्रिशंकु के समान हो गई। विभाजन के पहले जमींदार वर्ग के लिए रोजगार की कोई समस्या नहीं थी। समाज में एक न्यायिक व्यवस्था थी, परन्तु धीरे–धीरे अराजकता का माहौल उत्पन्न होने लगा। एक मानसिक द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न की गई, जिससे डरकर लोग पलायन करने लगे। स्वयं के परिवारों को छोड़कर पाकिस्तान चले गए। पाकिस्तान में भी शिया–सुन्नी विवाद का अंत नहीं हो रहा था और हिन्दुस्तान से गए मुस्लिम भी वहाँ शरणार्थी के रूप में रह रहे थे। फुन्नन मियाँ, फुस्सू मियाँ, छिकुरिया, झिंगुरिया सभी की लड़ाई, स्वयं की लड़ाई नहीं अपितु भारतीय अस्मिता की लड़ाई है, जिसे हम सिर्फ विभाजन की त्रासदी कह कर समाप्त नहीं कर सकते, यह तो भारत की सामासिक संस्कृति के लिए सतत संघर्ष है।

राही मासूम रज़ा भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन से बहुत क्षुब्ध थे। वे स्वयं को भारतीय संस्कृति का प्रवक्ता मानते थे और उन्हें अपनी सामासिक धरोहर से बहुत प्रेम था। उनके लेखन में भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम, समर्पण, त्याग का स्वर मुखरित हुआ है। 'आधा गाँव' उपन्यास स्वयं में तो अद्वितीय है ही, साथ ही साथ यह भारतीय समाज की एक धुंधली तस्वीर प्रस्तुत करता है। सैय्यद खानदानों में ईद एक रूहानी याद है, तो मोहर्रम भी किसी पर्व से कम नहीं है। नोहों की वह 'मिट्ठी' धुन और मातम करने का फन आज लुप्त होता जा रहा है। ग्रामीण परिवेश से ओत–प्रोत मोहर्रम का वर्णन, भारत की सामासिक संस्कृतिक का वह पक्ष प्रस्तुत करता है, जिसे वर्तमान में बिसार दिया गया है। भोजपुरी–उर्दू की वह मिठास, जिसमें गंगौली की ग्रामीण महिलाएँ मोहर्रम के जुलूस के पीछे–पीछे चलकर 'ज़ारी' (भोजपुरी–उर्दू में कर्बला की कहानी बोलते चलना) पढ़ती हैं और जब ताज़िये के नीचे से सभी धर्म के लोग निकलकर इमाम साहिब की दुआएँ लेते हैं तो ऐसा लगता है, गंगौली ही हमारी संस्कृति का प्रस्थान बिन्दु है।

उपन्यास की भाषा तो अन्यतम है, जो असभ्य, अनौपचारिक और अपनत्व से भरी है। इस भाषा की अनुपस्थिति में शायद गंगौली के लोगों का, उस सामाजिक संरचना का सूक्ष्म आत्मान्वेषण नहीं हो सकता। उपन्यास का कथ्य और शिल्प नवीन है। शायद इसीलिए पाठक स्वयं को आत्मीय होने से नहीं रोक सकता। 'आधा गाँव' पर अश्लीलता के आरोप लगने के बाद भी राही मासूम रज़ा का रास्ता अवरूद्ध नहीं हुआ अपितु उनकी सृजन यात्रा दुगुनी गति से चलनी लगी।

राही मासूम रज़ा के अन्य उपन्यासों में भी विभाजन की समस्या देखने को मिलती है। 'हिम्मत जौनपुरी' चरित्रात्मक उपन्यास है। 'दिल एक सादा कागज' उपन्यास का वर्ण विषय ढाका, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान है, जिसमें जैदी विला की कहानी को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'ओस की बूँद' उपन्यास में शहला की कहानी है। शहला के दादा के जीवन संघर्ष के साथ–साथ हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों का यथार्थ वर्णन किया है। 'टोपी शुक्ला' उपन्यास में बलवद्र नारायण शुक्ला के जीवन की कहानी है। वह बचपन से अकेला होता है। उसके जीवन का निर्णायक मोड़ अलीगढ़ विश्वविद्यालय है। इसी विश्वविद्यालय में उसका नाम टोपी शुक्ला पड़ा। जीवन के इन्हीं संघर्षों से गुजरकर वह अंत में आत्महत्या कर लेता है। टोपी शुक्ला का पूरा जीवन उपेक्षित होता है। टोपी शुक्ला देश के हर उस बेरोजगार युवक का प्रतिनिधित्व करता है, जो समय चक्र से स्वयं को बचा नहीं पाता है और अंत में आत्महत्या कर लेता है। 'असंतोष के दिन' उपन्यास का वर्ण्य विषय 1986 के हिंसात्मक दंगे हैं। जब इन्दिरा गाँधी की हत्या उनके अंग रक्षकों के द्वारा की जाती है तो

पूरा देश फिर से हिंसक दंगों की आग में सुलग जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में अब्बास मूसवी और उसके परिवार के संघर्ष की कहानी है। साम्प्रदायिक दंगों के कारण एक मुस्लिम परिवार को किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, उसका यथार्थ वर्णन किया गया है। 'सीन पिचहत्तर' उपन्यास बम्बई की फिल्मी दुनिया की कहानी है। चार दोस्तों की कहानी, जो सिनेमा की दुनिया में स्वयं की पहचान बनाने का संघर्ष करते हैं। इस उपन्यास में भारतीय संस्कृति के पतन का भी वर्णन किया गया है। 'नीम का पेड़' राही मासूम रज़ा का अंतिम उपन्यास है। सर्वप्रथम यह उपन्यास दूरदर्शन के धारावाहिक के रूप में लिखा गया था। इसके पश्चात् 2003 में राजकमल प्रकाशन के द्वारा इसका लघु उपन्यास के रूप में सम्पादन किया गया। सन् 1946–1979 तक के कालखण्ड का इस उपन्यास में वर्णन है। इस उपन्यास की सम्पूर्ण कहानी का वक्ता 'नीम का पेड़' है।

राही मासूम रज़ा ने जिस फुरर्सत के साथ 'आधा गाँव' उपन्यास लिखा था, वह फुरर्सत उन्हें बम्बई जाने के बाद नहीं मिली। बम्बई उनके जीवन का एक निर्णायक मोड़ था, जिसने राही मासूम रज़ा के रचनात्मक जीवन की दिशा ही बदल दी थी। 1967 के बाद उनके जीवन में सिनेमा ने दस्तक दी, इसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। 'महाभारत' के संवाद लेखक के रूप में उन्होंने अपनी नई पहचान बनाई। राही मासूम रज़ा का जलवा बड़े पर्दे के साथ–साथ छोटे पर्दे पर भी चला। उनका रचना संसार बहुत व्यापक है। उन्होंने साहित्य की हर विधा में रचना की। राही मासूम रज़ा की किस्सागोई की शैली निराली थी। उनका चंचल मन साहित्य के किस दरवाजे पर दस्तक देगा यह तो सिर्फ वे ही बता सकते थे।

'1857–क्रांति कथा' भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम पर लिखा महाकाव्य है। उन्होंने इस महाकाव्य की रचना सर्वप्रथम उर्दू लिपि में की थी। इसके पश्चात् इसका लिप्यन्तरण हिन्दी में किया गया। अवध (लखनऊ) 1857 की क्रांति का प्रमुख केन्द्र रहा था। उन्होंने क्रांति का वर्णन अवध राज्य से ही शुरू किया था। जब समूचा भारतवर्ष '1857 की क्रांति' को सिपाही का विद्रोह कहने पर तुला था, जब राही मासूम रज़ा ने हिम्मत की कि यह मात्र सिपाही विद्रोह नहीं अपितु मानव के संघर्षों की क्रांति थी। 1857 की क्रांति का केन्द्र हिन्दी भाषी राज्य थे। सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश इस क्रांति में सक्रिय था, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम एक होकर लड़े। राही मासूम रज़ा का दृष्टिकोण भविष्यदर्शी था, उन्होंने इस क्रांति की मूल संवेदना को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा हमारी दृष्टि का अपहरण किया गया। उन भ्रमों से पर्दा राही मासूम रज़ा ने उठाया। वे राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत कवि थे।

'कटरा बी आर्ज़ू' उपन्यास का कथानक आपातकाल है। पूरे में उपन्यास आपातकालीन परिस्थितियों का व्यंग्यात्मक रूप में वर्णन करता है। आपातकाल में अभिव्यक्ति की आजादी पर अंकुश लगा दिया गया। 19 महीनों की वह अमावस की रात, जनता के उदय पर आकर खत्म हुई। इन विपरीत परिस्थितियों में भी राही मासूम रज़ा की संवेदना जनता के साथ थी। उन्होंने इसका खुलकर विरोध किया। इसके साथ ही हिन्दी के साहित्यकारों ने भी आपातकाल का विरोध किया था, जिसमें फणीश्वरनाथ 'रेणु', भवानी प्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, महादेवी वर्मा थे। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में साहित्यकारों के प्रतिरोध और समर्पण की खुलकर चर्चा की गई है।

सिनेमा में राही मासूम रज़ा का योगदान स्मरणीय है। उन्होंने 300 से भी अधिक फिल्मों में संवाद लिखे। आलाप (1977), गोलमाल (1979), कर्ज़ (1980), जुदाई (1988), हम पाँच (1980), अनोखा रिश्ता (1986), बात बन जाए (1986), नाचे मयूरी (1980), आवाज (1987), लम्हें (1991), परम्परा (1992), आइना (1993), किसी से ना कहना (1983), मैं तुलसी तेरे आँगन की (1993) तवायफ़ (1985) जैसी अनगिनत फिल्मों के संवाद लिखे। कहना नहीं होगा कि इसकी सूची बहुत लम्बी है।

'मैं समय हूँ' की अवधारणा राही मासूम रज़ा ने प्रस्तुत की। उनका रचना संसार विपुल है। एक तरफ जहाँ वे उर्दू में कविताएँ, नज़्म और शायरी लिखते हैं। वहीं दूसरी तरफ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में महाभारत के संवाद लिखते हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। 'महाभारत' की पटकथा और संवाद लेखन ने उन्हें नवीन पहचान दी। 'महाभारत' भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। बी.आर. चोपड़ा ने जब इस ग्रन्थ पर धारावाहिक बनाने का निर्णय लिया तो इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त पात्र राही मासूम रज़ा थे। उन्होंने इसकी पटकथा और संवाद लेखन के लिए भूमिका बनानी शुरू कर दी। उन्होंने महाभारत के हिन्दी और उर्दू अनुवाद भी पढ़े और लगभग 8000 पृष्ठों की पाण्डुलिपि तैयार की। उन्होंने जिस सहजता के साथ महाभारत के पात्रों का संवाद लेखन किया था। वह तो आज हम सबके समक्ष प्रस्तुत है। उनकी भारतीय संस्कृति में पैठ गहरी थी। वे भारतीय जनमानस को भलीभाँति समझते थे। राही मासूम रज़ा ऐसे व्यक्तित्व थे जो हिन्दुस्तान की सामासिक संस्कृति के दर्पण थे। वेदव्यास ने महाभारत को हिन्दुस्तान के कोने–कोने तक पहुँचाया तो राही मासूम रज़ा ने उसको विश्व के हर कोने में पहुँचाया। इस बात की सार्थकता इससे सिद्ध होती है कि वर्तमान में जब पूरा विश्व कोरोना जैसी महामारी से जूझ रहा है। तब दूरदर्शन द्वारा 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे कालजयी धारावाहिक का पुनः प्रसारण किया गया, जिससे वर्तमान पीढ़ी ने भारतीय संस्कृति के मूल्यों और आदर्शों का फिर से

साक्षात्कार किया। कोरोना काल में 'महाभारत' का पुनः प्रसारण किसी संजीवनी बूटी से कम नहीं था। वर्ष 2020 के अप्रैल माह के प्रथम सप्ताह में यह धारवाहिक टी.आर.पी. (टेलीविजन रेटिंग पॉइन्ट) के शीर्ष स्थान पर था। इससे हम इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगा सकते हैं।

राही मासूम रज़ा की सृजनात्मक यात्रा बहुत लम्बी है। इस यात्रा के प्रथम पड़ाव में वे प्राध्यापक के रूप में रहना चाहते थे। अलीगढ़ में उनकी पहचान एक प्रतिष्ठित शायर की बन गई थी, परन्तु नियति को कुछ और ही मंजूर था। जीवन का यह द्वितीय पड़ाव लम्बा और संघर्षों से भरपूर था। इन संघर्षों में वे दृश्य माध्यमों के प्रयोगधर्मी पुरुष बनकर उभरे। साहित्य और सिनेमा, दोनों ही विधाओं को राही मासूम रज़ा ने अपनी प्रतिभा से समृद्ध किया। उनका जलवा साहित्य से लेकर सिने संसार तक विस्तृत था। उनके रचनात्मक प्रस्थान का अंतिम छोर कौन–सा है, इसका निर्णय करना एक दुष्कर कार्य है। ऐसी कोई विधा नहीं, जहाँ उनकी कल्पना ने बसेरा न बसाया हो। अंत में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उनकी सृजन यात्रा की जो खोज और अन्वेषण मेरे द्वारा किया गया है। वह आप सभी के समक्ष प्रस्तुत है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ एवं सहायक ग्रंथ सूची

(अ) राही मासूम रज़ा की मौलिक रचनाएँ

- **उपन्यास**

1. आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवीं आवृत्ति–2008
2. हिम्मत जौनपुरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1969
3. टोपी शुक्ला, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण–2011
4. ओंस की बूंद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवी आवृत्ति–2013
5. दिल एक सादा कागज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2012
6. सीन पिचहत्तर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1977
7. कटरा बी आर्ज़ू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2015
8. असंतोष के दिन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1986
9. नीम का पेड़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2014

- **जीवनी**

1. छोटे आदमी की बड़ी कहानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966

- **महाकाव्य**

1. 1857 क्रांतिकथा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय आवृत्ति, 2009

- **लेख/निबन्ध**

1. खुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011
2. सिनेमा और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2011
3. लगता है बेक़ार गये हम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013

- **काव्य संग्रह**

1. मैं एक फेरीवाला, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2004
2. शीशे के मकां वाले, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2008
3. गरीबे शहर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2005

- **अनुदित रचनाएँ**

1. कारोबारे तमन्ना (उपन्यास), उर्दू से हिन्दी में अनुवादित (संपादक : डॉ. एम. फिरोज खान व डॉ. शगुफ्ता नियाज़)
2. कय़ामत (उपन्यास), उर्दू से हिन्दी में अनुवादित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2013

(ब) सहायक संदर्भ सूची

1. सुमन केशरी : जे एन यू में नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2009
2. कमलेश्वर : गर्दिश के दिन, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2013
3. कुमार पंकज : रंजिश ही सही, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2017
4. निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी : हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, संस्करण–1983
5. डॉ. पारूकान्ता देसाई : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास, सूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1984
6. राकेश नारायण द्विवेदी : राही मासूम रज़ा और उनके औपन्यासिक पात्र, विनय प्रकाशन, कानपुर, संस्करण–2019
7. रमाकान्त राय : हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों के बहाने राही के उपन्यास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण–2014
8. डॉ. लाल साहब सिंह : हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1998
9. डॉ. दिलशाद जिलानी : साठोत्तरी हिन्दी के मुस्लिम उपन्यासकार, दिलप्रीत पब्लिशिंग, नई दिल्ली, संस्करण–1998
10. राजेन्द्र यादव : उपन्यास स्वरूप एवं संवेदना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1997
11. परमानंद श्रीवास्तव : उपन्यास का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1995

12. डॉ. दिलशाद जिलानी : आधा गाँव एक आलोचनात्मक अध्ययन, दिलप्रीत पब्लिशिंग, नई दिल्ली, संस्करण–1994

13. विजय कुमार अग्रवाल : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामन्ती जीवन, विक्रम प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1990

14. ताराचंद : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास खण्ड–I, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण–2007

15. समीक्षा ठाकुर : बात–बात में बात, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006

16. इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, संस्करण–2004

17. भीष्म सहानी : तमस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2001

18. कुँवरपाल सिंह : राही और उनका रचना संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2004

19. नमिता सिंह, कुँवरपाल सिंह : 1857 और जन प्रतिरोध, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2008

20. महात्मा गाँधी : हिन्दी स्वराज, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

21. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, राजपाल एण्ड संस पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण–2010

22. कुलदीप नैयर : इमरजेंसी की इनसाइड स्टोरी, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2020

23. कुलदीप नैयर : एक जिन्दगी काफी नहीं, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2020

24. जनार्दन ठाकुर : सब दरबारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1977

25. एस.एम. जोशी : यादों की जुगाली एक आत्मकथा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण–1985

26. धर्मवीर भारती : कुछ चेहरे–कुछ चिन्तन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–1995

27. विवेकी राय : आधुनिक उपन्यास–विविध आयाम, अनिल प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण–1990

28. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, संस्मरण–1956

29. प्रो. राम बुझावन सिंह, डॉ. रामवचन राय : रेणु – संस्मरण और श्रृद्धांजलि, नवनीता प्रकाशन, पटना, संस्करण–1978

30. पुष्पा भारती : यादें, यादें और यादें, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2017

31. शम्सुल इस्लाम : 1857 की हैरतअंगेज़ दास्तानें, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008

32. पी.सी. जोशी : इंकलाब 1857, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण–2011

33. वेद प्रकाश सोनी : भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 भाग–2, विद्यापीठ पब्लिकेशन हाउस, दिल्ली, संस्करण–2007

34. कुँवरपाल सिंह : राही मासूम रज़ा, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, संस्करण–2015

35. भगवतीशरण मिश्र : हिन्दी के चर्चित उपन्यासकार, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण–2010

36. फणीश्वरनाथ रेणु : जुलूस, ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1965

37. डॉ. त्रिभुवनसिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, संस्करण–1979

38. डॉ. मोहम्मद फरीरुद्दीन : राही मासूम रज़ा के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, नागरी प्रिन्टर्स शाहदरा, दिल्ली, संस्करण–1984

39. यशपाल : झूठा सच भाग–I, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहबाद, संस्करण–2014

40. यशपाल : झूठा सच भाग–II, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहबाद, संस्करण–2014

41. बलवंत सिंह : काले कोस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–1999

42. कमलेश्वर : लौटे हुए मुसाफिर, लोकभारती पेपरबैक्स, इलाहबाद, संस्करण–2015

43. कमलेश्वर : यादों के चिराग, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2016

44. कमलेश्वर : जलती हुई नदी, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण–2015

45. रामविलास शर्मा : परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि., दिल्ली, संस्मरण–1981

46. अमृतलाल नागर : आँखों देखा गदर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण–1998

47. विनायक दामोदर सावरकर : 1857 का स्वातन्त्र्य समय, प्रभात पेपर बैग्स, प्रभात प्रकाशन, संस्करण–2000

48. रामविलास शर्मा : सन् 57 की राज्य क्रांति, विनोद पुस्तक मन्दिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा, संस्करण–1957

पत्र–पत्रिकाएँ –

1. वाङ्मय त्रैमासिक
2. अभिनव कदम
3. ज्ञानोदय
4. आलोचना
5. बनास जन
6. अक्सर

शोध आलेख

उनचास : जुलाई-सितम्बर, 2019 ISSN : 2278-2338

अक्सर

मानव संघर्ष की रचनात्मक अभिव्यक्ति

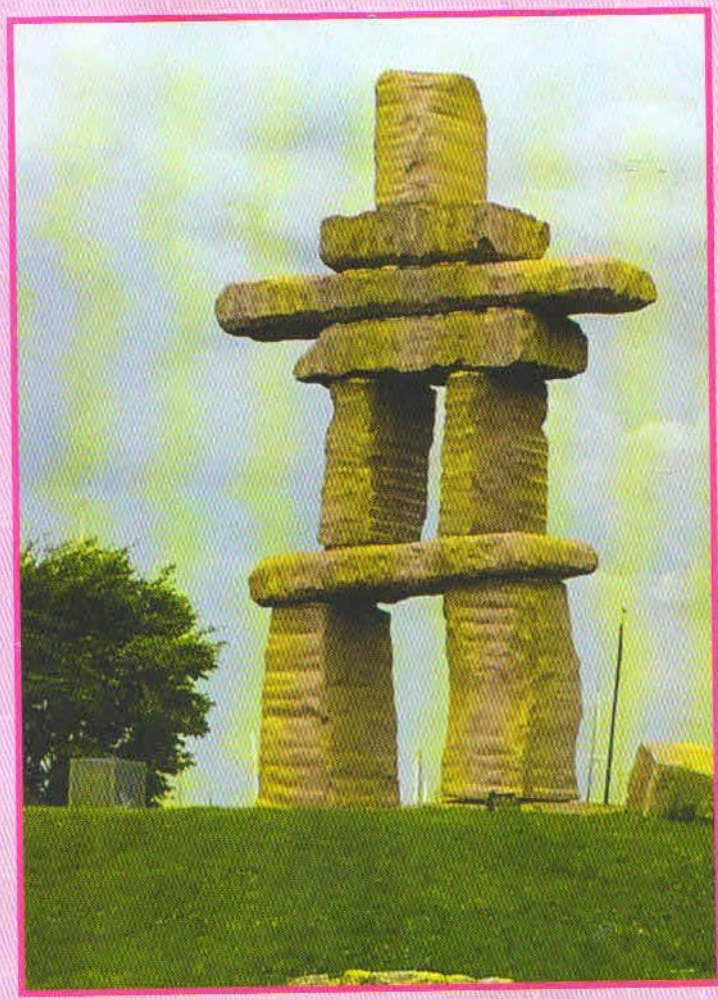

असल में एक तरफ समाजवादी विचारधारा के लोग थे, दूसरी तरफ नामवर सिंह जी के विरुद्ध पुरातनवादी सोच के लोग थे। पुरातनवादियों ने ही यह सब विवाद खड़ा किया था। उन पुरातनवादियों ने ही उमरावमल से यह सब करवाया था। विश्वविद्यालय में ही कुछ ऐसे लोग थे जो नहीं चाहते थे कि प्रगतिशील विचारों के लोग यहाँ हों।

''आधा गाँव'' के खोये पलों की खोज में जोधपुर प्रवास

अनुकृति तम्बोली

27 मार्च 2019 को मैं और पिताजी एक दिन के जोधपुर प्रवास पर थे। कारण था कुछ टूटे बिखरे सूत्रों की तलाश और इसका संबंध मेरे शोध कार्य से था। 1971 में जब नामवर सिंह जोधपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष थे तब उनके कार्यकाल के समय राही मासूम रज़ा का उपन्यास ''आधा गाँव'' पाठ्यक्रम में शामिल किया गया था। इस उपन्यास पर अश्लीलता का आरोप लगा था। इस कृति ने घनघोर विवाद का रूप ले लिया था। जब मुझे मेरे शोध निर्देशक शशि प्रकाश चौधरी ने राही मासूम रज़ा पर शोध कार्य करने को कहा तो ''आधा गाँव'' का अतीत जीवंत हो उठा। इन्हीं बिखरे सूत्रों की तलाश में मैं भटकती जोधपुर चली गई । जोधपुर में सर्वप्रथम सम्पर्क किया, राजस्थानी मासिक 'माणक' के सह सपांदक जुगल परिहार जी से। जुगल परिहार बहुत ही सहृदय और नि:स्वार्थ सेवा करने वाले व्यक्ति हैं। बिखरे सूत्रों की तलाश में जुगल परिहार ही वह कड़ी हैं, जिनसे अन्य कड़ियों को मैं जोड़ पायी। जुगल परिहारजी के माध्यम से मैं वहाँ दो-तीन प्रोफेसरों से मिली। ये सभी नामवर सिंह के समकालीन थे। इनसे ''आधा गाँव'' विवाद के संबंध में कई नई जानकारियाँ प्राप्त हुईं। इस कड़ी में सर्वप्रथम मिलने का अवसर कृष्णा मोनोट मैडम से मिला। कृष्णा मोनोट मैडम 1971 में जोधपुर वि.वि. में सह आचार्य के रूप में रही। उनकी सेवानिवृत्ति 2004 में हुई। ''आधा गाँव बनाम नामवर सिंह विवाद'' में उनसे कुछ खास जानकारी तो नहीं मिल पाई परन्तु

उन्होंने बहुत से नाम बताए जो उस समय विश्वविद्यालय में सक्रिय रूप से अध्यापन का कार्य कर रहे थे। डॉ. रामप्रसाद दाधीच उस समय विश्वविद्यालय में थे। अब प्रो. दाधीच की अवस्था 90 वर्ष के ऊपर हो गयी है। उन्होंने बताया कि 1971 में जोधपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति वी.वी. जोन थे और हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. नामवर सिंह थे। उस समय ''आधा गाँव'' राही मासूम रज़ा का उपन्यास पाठ्यक्रम में लगा था और उसमें बेशुमार गालियाँ थीं। इस कारण विवाद हुआ। यह विवाद उपन्यास के माध्यम से नामवर सिंह पर था क्योंकि वह कम्युनिस्ट थे। कुछ लोग उनके विरोध में थे । फिर स्थानीय अखबारों में यह विवाद प्रचारित किया गया। महावीर सिंह गहलोत ने ''आधा गाँव'' उपन्यास में जितनी भी गालियाँ थीं उसको लेकर 40 पन्नों की एक पुस्तिका छाप दी। उस पुस्तिका की 50-60 प्रतियाँ थीं। जो सभी को वितरित की गई। मैंने उनसे पूछा आपके पास उस पुस्तिका की प्रति है क्या? तो वे बोले मुझे सेवानिवृत हुए 32 साल हो गए, अब वह मिलना कठिन है। उन्होंने यह बताया कि उनका शिष्य महावीर चंद भण्डारी ''अभयदूत'' स्थानीय अखबार में कार्य करता था उन्हीं के माध्यम से यह छोटी पुस्तिका छपी और विवाद को बढ़ाया गया। इसके पश्चात हम डॉ. सावित्री डागा मेडम के घर गए। उनकी स्थिति गंभीर थी। वह बिस्तर से उठ भी नहीं पा रही थीं। उनकी बेटी से बात करने का अवसर मिला तो उन्होंने कहा माताजी का स्वास्थ्य गंभीर है अभी वह बात करने की स्थिति में नहीं हैं। इस यात्रा की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी प्रो. जहूर खाँ मेहर हैं। प्रो. मेहर जोधपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के आचार्य रहे। प्रो. मेहर से बात करना एक सुखद अनुभव था। प्रो. मेहर सिंधी मुसलमान हैं। उनके घर में सर्वप्रथम उनकी नवासी के दर्शन हुए जो स्नातक की परीक्षा की तैयारी कर रही थी। उनके घर का वातावरण और उनके संस्कार देखकर कोई नहीं कह सकता कि वे सिन्धी मुसलमान हैं। श्रीमती मेहर का पहनावा ठेठ राजस्थानी था। प्रो. मेहर राजस्थानी संस्कृति और इतिहास के लेखक रहे हैं। प्रो. मेहर की 24 से अधिक पुस्तकें राजस्थानी में प्रकाशित हो चुकी हैं। जब मैं प्रो. मेहर से मिलने गई तो मुझे नहीं पता था कि आप इतने बड़े लेखक हैं उनके व्यक्तित्व में जरा सा भी अभिमान नहीं था। जैसे ही हम उनके पास बैठे उन्होंने मुझसे बोला आजा बेटी, पूछ क्या पूछना है बेटी केवल शब्द नहीं है अपनत्व का ''रसगुल्ला'' है। मैंने जल्दी से अपना रिकॉर्डर चालू कर दिया । इस विवाद के बारे में जो प्रो. मेहर से जानकारी मिली वह दुर्लभ और संग्रहणीय है। जैसा उन्होंने मुझे बताया शायद 1971 की बात है उस समय राजस्थान के मुख्यमंत्री बरकत साहब थे और नामवर सिंह हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा कि विधानसभा में ''आधा गाँव'' के संबंध में प्रश्न उठेगा ऐसी संभावना है तो आप इसका समर्थन करना। यहाँ उस समय एक कमाण्डर थे उमराव मल जो एक आँख से काणे थे। वो एक अखबार निकालते थे ''कयामत''। उन्होंने ''कयामत'' में यह छापा कि ''आधा गाँव'' में अश्लीलता परोसी जा रही है। देखिए,

विश्वविद्यालय अश्लीलता का अड्डा बन गया है। ऐसे वह ताँगों में घूमकर अखबार बेचने लग गये। इस कारण नामवर सिंह परेशान हो गए कि यह क्या है? उनको आशंका थी कि विधानसभा में इस प्रसंग में कोई प्रश्न जरूर उठेगा। इसलिए उन्होंने मुझे बुलाया और कहा कि अगर यह प्रश्न उठे तो बरकत साहब से आप कहना कि वह इसका समर्थन करें। असल मैं बात यह है कि मैं एक सिंधी मुसलमान हूँ। हमारे यहाँ दो दल थे एक था दल्ले खाँ का और एक था मथुरादासजी का। मेरे पिताजी मथुरादासजी के दल में थे तो वह बरकत साहब के विरोधी थे। मैंने नामवर सिंह को कहा कि मैं बरकत साहब को जानता नहीं हूँ तो नामवर सिंह थोड़े निराश हो गए। जब मैं बाहर आया तो मैंने सोचा कि यह मुझसे कुछ अपेक्षा रख रहे हैं तो मैंने नामवर सिंह के समर्थन में दो लेख लिखे।

असल में एक तरफ समाजवादी विचारधारा के लोग थे, दूसरी तरफ नामवर सिंह जी के विरुद्ध पुरातनवादी सोच के लोग थे। पुरातनवादियों ने ही यह सब विवाद खड़ा किया था। उन पुरातनवादियों ने ही उमरावमल से यह सब करवाया था। विश्वविद्यालय में ही कुछ ऐसे लोग थे जो नहीं चाहते थे कि प्रगतिशील विचारों के लोग यहाँ हों। मैंने सोचा कि नामवर सिंह अपने से कुछ सहायता चाहते हैं। मैं बरकत साहब को तो कुछ कह नहीं सकता था, तो मैंने ''आधा गाँव'' के समर्थन में एक लेख लिखा। लेख छपवाने के लिए मैं 'जनगण' अखबार के उमरावजी बोहरा के पास गया। वह उस कमाण्डर के आदमी थे। उन्होंने लेख छापने से मना कर दिया। उस समय जय नारायण व्यास जो मुख्यमंत्री रहे थे, उनके बेटे देव नारायण व्यास एक अखबार 'तरुण राजस्थान' निकालते थे। तरुण राजस्थान के सम्पादक यूसुफ साहब थे। जब मैं अपना लेख यूसुफ साहब के पास लेकर गया तो उन्होंने लेख छापने की बात कही और मुझे कहा कि अगर आप और लिख सकते हो तो लिख दो, मैं उसे भी प्रकाशित कर दूँगा। लेख लिखने के बाद मैं थोड़ा घबरा गया कि जो लोग नामवर सिंह को डरा सकते हैं, वह तो मुझे विश्वविद्यालय की नौकरी से ही हटवा देंगे। मैं अस्थायी रूप से कार्यरत था। उस समय मेरे एक अनपढ़ मित्र थे जगदीश भाटी। वे हमारे वार्ड के पार्षद थे। मैंने लेख के अन्त में उनका नाम दिया, क्योंकि अगर मैं अपने नाम से लिखता तो मेरी भी नौकरी संकट में आ जाती। लेख पढ़ने के बाद नामवर सिंह जी ने जगदीश भाटी को फोन किया और मिलने के लिये बुलाया। जगदीश भाटी भागते हुए मेरे पास आया। मैंने उसे नामवर सिंह के पास नहीं जाने दिया। क्योंकि उससे बात करते ही नामवर सिंह को पता चल जाता कि यह लेख जगदीश भाटी ने नहीं बल्कि किसी और ने लिखे हैं। मैंने उन दो लेखों में मुख्य रूप से बताया था कि विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में जो रचना रखी जाती है उनकी क्या प्रक्रिया होती है? सबसे पहले विभाग की समिति पाठ्यक्रम का स्तर निश्चित करती है। उपकुलपति उस समिति की प्रक्रिया का अनुमोदन करते हैं। फिर उस रचना को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाता है। इस प्रक्रिया में विभाग का अध्यक्ष शामिल नहीं होता है। तथाकथित लोगों की कमेटी का सामूहिक निर्णय पाठ्यक्रम की रचनाओं को शामिल करने का

विचार प्रस्तुत करता है। कतिपय लोग अपने निजी कारणों से इस कृति का विरोध कर रहे हैं। इस विवाद का सूत्रपात महावीर सिंह गहलोत ने किया था और इसके पीछे प्रच्छन्न रूप से नित्यानंद शर्मा थे। नामवर सिंह के बाद नित्यानंद शर्मा विभागाध्यक्ष के दावेदार थे। वह चाहते थे कि कब नामवर सिंह हटें और मैं अध्यक्ष बनूँ। इसके पश्चात मैंने उपन्यास के लेखक का परिचय दिया। मैंने राही मासूम रज़ा का उपन्यास 'आधा गाँव' पढ़ा, 'टोपी शुक्ला' और '1857 की क्रांति कथा' के साथ-साथ 'छोटे आदमी की बड़ी कहानी' भी पढ़ी थी। मैंने इन तीनों का हवाला देकर लेखक का परिचय दिया। उस समय महाभारत नहीं बनी थी, नहीं तो इस पर अश्लीलता के साथ साम्प्रदायिकता के आरोप भी लगते। राही मासूम रज़ा एक समन्वयकारी, सहृदय और स्नेह रखने वाला व्यक्ति है। उस पर आप लेबल लगा रहे हो। यह लेबल नामवर सिंह पर नहीं है बल्कि पुस्तक के लेखक पर है। इसके बाद हिन्दी विभाग में यथार्थ का वैकल्पिक रूप में अलग प्रश्न पत्र था। एक प्राचीन डिंगल, एक पत्रकारिता और एक यथार्थ का प्रश्नपत्र था। तीनों में से विद्यार्थी को एक प्रश्नपत्र का चुनाव करना होता था। जो विद्यार्थी यथार्थ का प्रश्नपत्र लेते थे उन्हें ही 'आधा गाँव' उपन्यास पढ़ना पड़ता था। सभी विद्यार्थियों को नहीं पढ़ना पड़ता था। यथार्थ के प्रश्नपत्र में से गालियाँ हटा देंगे तो वह यथार्थ नहीं रह जाएगा, वह तो एक आदर्श बन जाएगा। यथार्थ में गालियाँ होना स्वाभाविक है। इसकी आलोचना उचित नहीं है। आप यथार्थ का प्रश्नपत्र स्वेच्छा से ले रहे हैं। भारत देश जिसमें अजंता भी है, एलोरा भी है, जिसमें ऐसे चित्र हैं, ऐसे ग्रंथ हैं जिनका अपना एक दर्शन है। एक ओर तो हम इन चर्चाओं में हैं कि क्या विद्यालयों में सेक्स एजुकेशन होनी चाहिए दूसरी और हम यथार्थ के प्रश्नपत्र की आलोचना कर रहे हैं। यह उचित नहीं है। यह विवाद कहीं से प्रायोजित है। इन बिन्दुओं को लेकर मैंने नामवर सिंह के पक्ष में दो लेख लिखे। अत: यह सारी आलोचना और विवाद कहीं से प्रायोजित है। एक सही सोच रखने वाले व्यक्ति को बदनाम करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह मैंने जगदीश भाटी पार्षद संख्या 30 के नाम से लिखा। इसके बाद जगदीश भाटी के पास कुछ पत्र भी आए कि आपने सही लिखा। उन्होंने वह पत्र सँभाल कर भी रखे। परन्तु नामवर सिंह को इसका अंत तक पता नहीं लगा। यही है बेटी संक्षेप में स्टोरी । इसके पश्चात 1992 में मैं राही मासूम रज़ा से मिला भी। मुझे 1992 को मेवाड़ फाउण्डेशन का महाराणा कुंभा अवार्ड मिला और राही मासूम रज़ा को हकीम खाँ सूरी अवार्ड दिया गया। कृपाल सिंह शेखावत ने मुझे आकर कहा कि सभी पुरस्कार प्राप्तकर्ता की तरफ से मैं धन्यवाद संदेश दूँ। मैं करीब 15 मिनट बोला, उसके बाद राही मासूम रज़ा को आमंत्रण दिया संदेश देने के लिए। राही मासूम रज़ा उठे उनकी चाल में वही लचक अचकन लटकती हुई, माईक के पास जाकर बोले धिक्कार है धिक्कार है ऐ ! मेरे महापरवर दिगार वतन धिक्कार है और वह वापस आकर बैठ गए। लोगों ने 10 मिनट तक तालियाँ बजाई। उनका अभिप्राय यह था कि उनको पुरस्कार दिया जा रहा है सामंजस्य और सौहार्द के लिए परन्तु इस देश की स्थिति ऐसी हो

गई कि सामन्जस्य और सौहार्द रखने वाले को चुनकर पुरस्कार दिया जाता है जबकि ऐसा तो सभी को होना चाहिए। तेरे यहाँ ढूँढ़ने पड़ते हैं कि देश में प्रेम और सौहार्द, एकता और सामंजस्य में कौन विश्वास रखता है।'

मैंने प्रो. मेहर से पूछा आप राजस्थानी में ही लिखते हैं? उन्होंने कहा मैं राजस्थानी में ही लिखता हूँ। मैंने पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से की परन्तु मैंने पढ़ाया हिन्दी माध्यम से और आजीवन लिखा राजस्थानी में। मुझे राजस्थानी के हजारों शब्द मालूम हैं जिन्हें मैं हू-ब-हू राजस्थानी में ही लिख और बोल सकता हूँ । जिन्हें शायद मैं हिन्दी में ना तो बोल सकूँ और न लिख सकूँ । मेरी राजस्थानी में कुल 24 पुस्तकें प्रकाशित हैं। भारतीय भाषा परिषद से एक मोनोग्राफ भी छपा है । इसको लिखा जुगल परिहारजी ने है। मुझे लेखक बनाने में जुगल परिहार भी शामिल हैं।

मेरा दूसरा प्रश्न था राजस्थानी भाषा को 8वीं अनुसूची में जोड़ने के लिए क्या-क्या प्रयास किए जा रहे हैं? उन्होंने कहा 'संक्षिप्त बात यह है बेटी जो भाषा की जरूरतें हैं वे सभी हमारे पास हैं। पाठ्यक्रम है, व्याकरण है, क्षेत्र है, परम्परा और इतिहास है। हमारी विधानसभा ने एक मत से विधेयक पास करके भेजा हुआ है। अब संसद में उसका पास होना बाकी है। जब संसद में कोई मजबूत मत होगा तब ही यह संभव है। कभी वह कहते हैं नोट पर इतनी जगह नहीं है कि एक और भाषा को शामिल किया जाए। कभी वह कहते हैं कि यू.जी.सी. जो परीक्षा ले रही है उस परीक्षा में इसका प्रारूप कैसे बैठेगा। जब 8वीं अनुसूची में 22 भाषाएँ हो सकती हैं तो 23 क्यों नहीं।'

इसके पश्चात प्रो. मेहर ने पिताजी और जुगल परिहारजी के लिए चाय बनवाई। मैं मौका पाकर श्रीमती मेहर के पास चली गई। राजस्थानी परम्परा के अनुसार उनके घर में पोल थी और उस पोल के आगे बरामदा और बरामदा के बाद एक खुला रसोई घर। जिसमें श्रीमती मेहर हमारे लिए चाय बना रही थीं। उन्होंने मुझे पास में बिठा लिया, सिर पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दिया। थोड़े ही समय में वह अपनी बातें बताने लगीं। वह कहने लगीं लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत और जोधपुर की महारानी हेमलताजी मेरी सखी हैं। ऐसी कई अनगिनत यादें जो उनके श्रीमुख से चासनी की तरह सुनाई दे रही थीं। मारवाड़ी का पुट उनके शब्दों को और कर्ण प्रिय बना रहा था। फिर उनकी नवासी आ गई जो एल.एल.बी की परीक्षा दे रही थी, कल उसकी परीक्षा थी। मेरे जीवन की यह शोध से संबंधित प्रथम यात्रा थी जो सुखद और अविस्मरणीय बन पड़ी। श्रीमती मेहर ने जाते-जाते कहा अपनी अम्मी को मेरा सलाम कहना। यह सुनते ही मुझे राही मासूम रज़ा के आधा गाँव उपन्यास की सामासिक संस्कृति की याद आ गई। जो हमारे हिन्दुस्तान का भविष्य और वर्तमान दोनों हैं।

11-12, 'पुष्पक'
विनायक विहार, आकाशवाणी, कोटा (राजस्थान)

OUR PUBLICATIONS

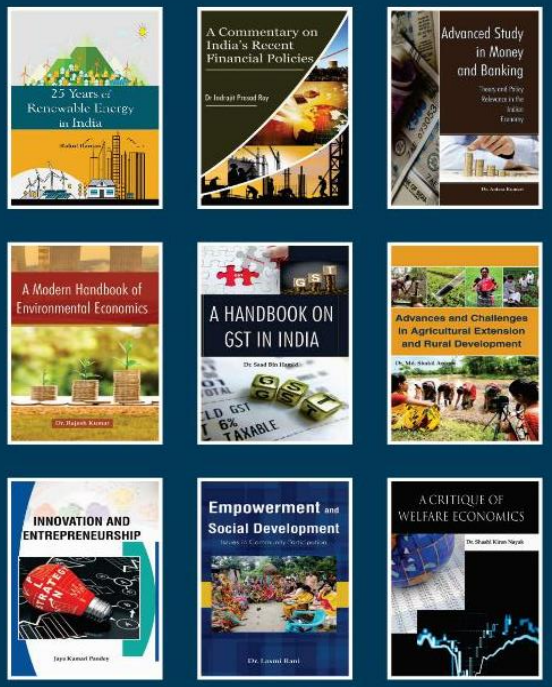

Jobus Press

448, Pocket-V, Mayur Vihar, Phase-I, Delhi-110091 (INDIA)
Ph.: 011-22753916

ISSN 0975-119X

UGC-CARE GROUP I LISTED

वर्ष 12 अंक 2 मार्च-अप्रैल 2020

दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

India's Leading Referred Hindi Language Journal

राही मासूम रज़ा की चिन्तन भूमि में क्रांतिकथा-1857

अनुकृति तम्बोली

शोधार्थी, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

1857 की क्रांति को लेकर साहित्य में कई तरह की रचनाएँ लिखी गई। जिनमें कविता, नाटक, निबंधा, कहानी शामिल हैं, परन्तु इस संग्राम पर कोई कहाकाव्य नहीं लिखा गया। इसकी कमी राही मासूम रज़ा ने पूरी की। उन्होंने 'क्रांति कथा: 1857' लिख कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। 'क्रांतिकथा: 1857' मूलत: उर्दू में लिखा गया था। 1957 में इस महाकाव्य का अनुवाद हिन्दी भाषा में वाणी प्रकाशन द्वारा किया गया। राही मासूम रज़ा द्वारा लिखित इस महाकाव्य में कई भ्रांतियों को दूर किया गया । चूंकि 1857 की क्रांति को लेकर इतिहासकारों में कई तरह के मतभेद रहे है, परन्तु राही मासूम रज़ा का दृष्टिकोण इस दिशा में सहज हैं। वह कहते है 'इस बात का वाज़ा करने के लिए हिन्दुस्तानी तवारीख ने मुझे 1857 से कोई बेहतर मिसाल नहीं दी इसलिए मैंने 1857 का इन्तखाब किया लेकिन 1857 की इस नज़र का मौजूं इंसान है। जो कभी नहीं हारता। इंसान के न हारने का यकीन मुझे इंसान की तवील तवारीख ने दिलाया हैं।'[1] अर्थात वह इस क्रांति का विषय मानव को मानते है। मानव की अदम्य जिजीविज़ा को मानते हैं।

'क्रांतिकथा 1857' एक काव्यात्मक प्रस्तुति हैं। जिसमें रागात्मकता के साथ-साथ भावों का संचयत भी अदभूत हैं। राही मासूम रज़ा के लेखन में एक विद्रोह हमेशा से देखने को मिलता हैं। वह विद्रोह समाज के ठेकेदारो के प्रति भी हो सकता हैं और राजनीति के प्रति भी। प्रस्तुत क्रांतिकथा इसी विद्रोह का परिणाम हैं। राही हमेशा गंगा-जमनी संस्कृति के पक्षधार रहे हैं। वे कहते हैं, 'मैंने यह नज्म चंद किताबों की मदद से अपने कमरे में बैठकर नहीं लिखी हैं। मैंने इस लड़ाई में शिरकते की हैं मैंने जख़्म लगाये हैं। मैं दरख्त पर लटकाया गया हूँ, मुझे मुर्दा समझकर गिद्धों ने नोचा हैं। मैंने उस बेबसी को महसूस किया है, जब आदमी गिद्धों से और गीदड़ो से बचने के लिए अपना जिस्म नहीं हिला सकता और जब आँखो से एक बेपनाह खौ बेपनाह बेवसी झलकने लगती हैं।'[2] किसी भी कवि की पीड़ा का एहसास इन्हीं पंक्तियों से लगाया जा सकता है कि वह स्वयं उस युग की पीड़ा का अनुभव करके आया हैं। उसकी संवेदना युगों की यात्र करती हैं। तभी तो वह उस अतीत को जीवंत कर देता हैं। उसका दर्द, दु:ख, सुख, हँसी, क्रोधा, क्षोभ, क्षमा, सब जी उठते हैं। राही मासूम रज़ा ने भी उस पीड़ा की कलात्मक अभियक्ति की हैं। उन्होंने इस महाकाव्य को अलग-अलग उपविषयों में विभक्त किया हैं। अंत में 'गोमती' नाम से लघु नाटिका इस महाकाव्य में भी सम्मिलित की गई हैं।

क्रांतिकथा का आरम्भ कुछ यूं हुआ हैं
'हर तरफ अंधेरा है रोशनी नहीं मिलती
दूर-दूर ढूँढे से जिन्दगी नहीं मिलती।'[3]

एक अनंत उदासी छाई हैं। एक मौन शायद किसी तूान के पहले की चेतावनी। राही मासूम रज़ा भारत विभाजन का कारण औपनिवेशिक ताकतों को मानते हैं। उन्हें अपने हिन्दोस्तान से बहुत प्रेम हैं। संग्राम के पहले का दृष्ठय का वर्णन करते हुए राही कहते हैं कि -

'उदास उदास है पीपल, खामोश है बरगद
कि ज़ेरे साया कोई शिव विराजमान नहीं

किसी गली में खनकती नहीं कोई पायल
नदी के तट पे किसी बंसरी की तान नहीं।[4]

सम्पूर्ण भारत असंतोष की ज्वाला में जल रहा हैं। सभी के मन में एक अविश्वास घर कर गया हैं। राही कहते है कि इस क्रांति का उद्देश्य कोई लालच नहीं था। इस क्रांति का उद्देश्य तो वतन की आज़ादी था। वह आज़ादी जिसे पाने के लिए हमने दो सौ वर्षो का अविराम संघर्ष किया।

'कोई लड़ता है लाले यमन के लिए
यह लड़े सिर्फ अपने वतन के लिए।[5]

राही मासूम रज़ा के लेखन की एक सबसे बड़ी विशेषतता ग्रामीण परिवेश और आंचलिकता हैं। वे महाकाव्य में देश की परिस्थितियों का भी वर्णन करते हैं अंर गाँव की आत्मा का भी। जब अंग्रेजी हुकूमत का आंतक भारतीय जनता को अन्दर तक तोड़ गया तो सिर्फ वह ग्रामीण अँचल के गीत ही यादें बन कर रह गए जो उन ग्रामीण आत्माओं में जान ड़ाल देते थे। प्रस्तुत गीत में एक लड़की की पीड़ा की अभिव्यक्त किया गया है। अवधी में गीत की मिठास कुछ इस प्रकार हैं-

'दमड़ी का सेनुर भयल बाबा
चुनरी भयल अनमोल
ए ही रे सेनुरवा के कारन बाबा
छोड़ लौं मैं देस तुहार
डोलिया का बाँस पकड़े रोयें बीरन भैया
बहना मोरी दूर देसी भई
परदेसी भई
कौन लगइ है बजरिया में आखिर
बीरन के अँसुअन का मोल रे बाबुल
चुनरी भयल अनमोल।[6]

अंग्रेजी हुकूमत के बढ़ते अत्याचार ने जनता के मौन को ललकारा हैं। सभी के मन में असंतोष बढ़ने लगा हैं। लगभग हिन्दुस्तान की सभी राज्यों में विद्रोह का बिगुल बज गया। 1857 की क्रांति का श्री गणेश 25 फरवरी, 1957 को बंगाल की बैरकपुर छावनी से हो गया था। जब मंगलपाण्ड़े व अन्य सिपाहियों ने चरबीयुक्त कारतूसों को उपयोग में लाने से मना कर दिया था। 8 अप्रेल, 1957 को मंगलपाण्डे को फांसी दे दी गई। जिस कारण सभी जगह इस मूक हत्या का विरोधा किया गया। दिल्ली, अवधा, झाँसी, बिहार, फैजाबाद, इलाहबाद, राजस्थान, असम लगभग सभी जगह इस तानाशाही शासन के खिलाफ मोर्चा लाया गया।

इस महाकाव्य में 'दिल्ली' की तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया हैं। राही ने दिल्ली को एक सुहागन स्त्री के रूप में संबोधित किया हैं। क्रांति के बाद दिल्ली पर अंग्रेजों ने अपनी पकड़ मजबूत कर ली थी। दिल्ली के रंग-ढ़ग अब बदले-बदले थे।

'दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तख़ाब
दिल्ली ज़रूर है पे वह दिल्ली नहीं है यह
हँसती तो है ज़रूर मगर अपने हाल पर
अब वैसे बात-बात पर हँसती नहीं है यह।[7]

'अब भी सिगांर करती है बेवा नहीं है यह
पर इस दुल्हन में अगली सी, जिन्दादिली नहीं।

दीवाने आम अब भी है दीवाने खास भी
लेकिन वह एक खिंची दुई तलवार ही नहीं।[8]

भारत के राजा, जमींदार भी किसानों से लगान लेते थे। परन्तु वह अपनी जनता का पालन-पोषण भी करते थे। अंग्रेजों के आने से शोषण बढ़ता गया, करों की संख्या दुगुनी होती गई। जब किसान अंग्रेजों द्वारा लगाए गए करों को नहीं चुका पाता तो अपनी पत्नी के गहने बेचकर अपना कर्ज़ा चुकाता हैं। जिन आँखो के जादू में किसान सुकून पाता था, अब आँखो से आँखें नहीं मिला पाता हैं। राही कहते है-

'पिछले राजा जैसे भी थे अच्छे थे अंग्रेजों से
आँख निकल आई खेतों की सख्त लगान के फन्दों से
घर की दुनिया उजड़ी-उजड़ी उन नैनों का जादू बंद
एक लगान अदा करने में खुल-खुल जाये बाजूबंद।[9]

अंग्रेजों द्वारा किए गए अत्याचार कुछ कम नहीं थे। उन्होंने भारतीयों की धार्मिक और सामाजिक भावनाओं को आहात करने का कोई अवसर नहीं छोड़ा। लगान भी कई तरह के होते थे। जिसने भारतीय किसानों की कमर तोड़ दी। इस लड़ाई में निम्नवर्ग से लेकर उच्च वर्ग के लोगों ने एक जुटता का परिचय दिया।

झाँसी तो 1857 के संग्राम में वीरता का पर्याय बन गई। लक्ष्मीबाई के योगदान ने इस संग्राम में चार चाँद लगा दिए। राही मासूम रज़ा ने लक्ष्मीबाई के संघर्ष, वीरता का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। इस संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई ने इस बात का परिचय दिया कि महिला किसी भी पुरूष से कम नहीं। वह उसी कुशलता से सेना का नेतृत्व कर सकती हैं जिस कुशलता से पुरूष करता हैं। रानी की वीरता का वर्णन राही मासूम रज़ा ने कुछ इस प्रकार किया है-

'उठ भी जा जेहन रसा खैंच भी मिस्त्रों की कमाँ
चुन वह मैदाँ कि फिरंगी से लड़ाई हो जहाँ
जो अलिफ़ हो वह ही बढ़ती हुई फ़ौजों का निशाँ
नुकते हो शोख कि सरदार की हिम्मत है जबाँ
चुन लें जिस लफ्ज़ की तकदीर बने
लक्ष्मीबाई की चलती हुई शमशीर बने।[10]

जब रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों को धाुल चटा दी। अंग्रेजों को जब झाँसी की धारती पर मुँह की खानी पड़ी तब जनरल स्मिथ भी हार गया। वह उस शेरनी के वार से घायल हुआ जिसे वह एक कमजोर स्त्री समझ रहा था। जिसके शारीरिक और मानसिक बल का अंग्रेजों को भान नहीं था। जनरल स्मिथ की मनोस्थिति का लेखक ने कुछ इस प्रकार वर्णन किया हैं-

'जनरल स्मिथ सा जबाँ हौसला हैरान हुआ
अपनी बिगड़ी हुई बाँज़ी से परीशान हुआ
पीछे हटने का बहरहाल जो इम्कान हुआ
छाती पर झूलते तमगो से परेशान हुआ।[11]

जब सिंधिया परिवार ने अंग्रेजों का साथ दिया। अपनी मातृभूमि से विश्वासघात किया तब झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने हुँकार भरी।

'बोली मैदान में मैं अपने कदम धारती हूँ।
सिंधिया, आ, मैं भी बारिज़ तलबी करती हूँ।[12]

अंत में जब लक्ष्मीबाई घायल हो जाती है, तो मातृभुमि भी उनका स्वागत ऐसा करती है, जैसे माता सीता का धारती माँ ने किया था।

'ए ज़मीं। देख तेरी सिक्त ये कौन आता है
तुझमें ये किसका लहू जज़्ब हुआ जाता हैं।

जंग के शोर में सन्नाटें-सा सन्नाटा है
यह फरहरा है, कि लाषा है यह आखिर क्या है
हम न इसको कभी यूँ जाँ से गुजरने देंगे।
हम इसे याद बना लेंगे, न मरने देंगे।"[13]

'क्रांतिकथा-1857' की यह काव्यात्मक प्रस्तुति बहुत ही रोचक हैं। इसके अंत में राही मासूम रज़ा ने 'गोमती' नाम से लघु नाटिका भी लिखी हैं। जिसका मूल विषय लखनऊ शहर हैं। 1857 के समर के बाद लखनऊ की क्या स्थिति थी। जनमानस में किस प्रकार क्षोभ था। सभी स्वयं को असफल महसूस कर रहे थे। इसी असफलता के मधय राही मासूम रज़ा नवचेतना का संचार करना चाहते है। वे कहते हैं कि अब भी कुछ संभावनाए है, जो हमें हारने नहीं देती।

'मेरी आवाज़ पे आवाज़ दे ऐ आरज़े वतन
वादिए गंगो-जमन! मेरे ख्यालों के चमन
देख वह सुबह हुई, फूट रही है वह किरन
सुन मेरे पैरों की चाप और मेरे दिल की धाड़कन
जाग! दीवानों के दामन की हवा लाया हूँ
तोहफएं खून शहीदाने क़ा लाया हूँ।"[14]

महाकाव्य का भाषा अनुवाद हुआ है इसीलिए कहीं-कहीं लय टूटती हुई दिखाई देती है। फिर भी भावों का संचयन अद्‌भूत हैं। उर्दू के ष्टाब्दों की बहुलता हैं। राज़्ट्रीय चेतना का स्वर प्रबल हैं। स्वदेशी आन्दोलन में आम भारतीयों की भुमिका को प्रमुखता से रेखांकित किया गया हैं और अंत में महाकाव्य की वह पंक्तियाँ जो सभी संभावनाओं को लिए एक उम्मीद की किरण हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं।

'वह काग़ज ज़्नार की दोड़ी और तस्बीह का दाना
हिन्दू-मुस्लिम ऐके का था एक अमिट अफसाना।"[15]

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. 1857 क्रांतिकथा, राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन, तृतीय संस्करण -2009 पृ.13
2. वही, पृ.16
3. वही, पृ.21
4. वही, पृ.24
5. वही, पृ.144
6. वही, पृ.26
7. वही, पृ.43
8. वही, पृ.43
9. वही, पृ.47
10. वही, पृ.176
11. वही, पृ.199
12. वही, पृ.197
13. वही पृ.203
14. वही पृ.227
15. वही, पृ.55

परिशिष्ट

स्व. कुँवरपाल सिंह जी की पत्नी श्रीमती नमिता सिंह जी से राही मासूम रज़ा के संदर्भ में लिया गया साक्षात्कार का सार

दिनांक 30.05.2019

अलीगढ़ : एक अंतर्यात्रा

सन् 1966 में जब राही मासूम रज़ा ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग से त्यागपत्र दिया, तब से ही अलीगढ़ शहर ने उनके साहित्य में स्थायी निवास बना लिया। वे अलीगढ़ को अपने साहित्य से कभी अलग नहीं कर पाए। मैंने जब राही मासूम रज़ा के साहित्य पर शोध कार्य करने का निर्णय लिया, उसी क्षण से अलीगढ़ मेरे लिए एक तीर्थ और चुनौती दोनों हो गए। मेरे मन में यह इच्छा रही कि एक बार अलीगढ़ शहर और अलीगढ़ विश्वविद्यालय के दर्शन जरूर करूँ। राही की दृष्टि से उस विरासत शहर को निहारूँ और राही की मनीषा का पीछा करूँ, जिसे राही ने अपने साहित्य में अमर कर दिया है। इसी सिलसिले में मैं पिछले दिनों नमिता सिंह जी से मिली। नमिता जी के साथ बिताये दो दिन बहुत अविस्मरणीय हैं। नमिता जी का घर चलता–फिरता संग्रहालय हैं। प्रथम दर्शन में ही मैंने पूरे घर का अवलोकन कर लिया। मेहमानों वाले कमरे में ''कश्मीरनामा'' (लेखक अशोक कुमार पाण्डे) रखी हुई थी, शायद पुस्तक अभी पूरी पढ़ी नहीं गयी थी, मध्य में एक कागज लगा हुआ था। दीवार पर सामने कुँवरपाल सिंह जी की स्मित मुस्कान वाली तस्वीर लगी हुई थी। उनकी तस्वीर देखकर मैंने सिर झुकाया और अपनी माताजी को उनके बारे में बताने लगी कि किस प्रकार कुँवरपाल सिंह जी जब अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में थे तब विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग बहुत समृद्व और प्रसिद्व था। कुँवरपाल सिंह जी के साहित्यिक योगदान अतुलनीय हैं। दूसरी दीवार पर मंटो का कोलाज टँगा हुआ था । पूछने पर नमिता जी ने बताया ''मंटो मेरे प्रिय लेखकों में से एक हैं। यह कोलाज मेरी बेटी ने दिल्ली में जहाँ "रेख़्ता" उर्दू का कार्यक्रम होता है ना वहाँ से लाई है।"

नमिता जी पंत परिवार से हैं। नमिता सिंह जी के पिता गिरीश पंत अपने समय के चर्चित छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत के भतीजे थे। इसलिए यह तो स्वाभाविक ही है उन्होंने साहित्यिक संस्कारों के साथ जन्म लिया। नमिता जी के पिता गिरीश पंत कवि के साथ–साथ ऑल इण्डिया रेडियो में सलाहकार भी थे। नमिता जी से बात करने पर कई ऐसे रोचक प्रसंग सुनने को मिले , जिनसे मैं आज तक अनजान थी। जब वे अपने परिवार के बारे में बता रहीं थीं तो उन्होंने बताया ''मेरे पिता के गुरू निराला जी थे। वे निराला के शार्गीदों में थे।" मुझे आश्चर्य हुआ, पंत जी के भतीजे और निराला के शार्गीर्द। मैंने पूछा

आपने सुमित्रानंदन पंत से कविताएँ सुनी हैं, वे बोली ''हाँ जरूर सुनी हैं। मुझे याद है उस समय एक ट्रेन चलती थी ''अपरइण्डिया''। मैं उस ट्रेन में बैठ कर पहले लखनऊ से इलाहबाद जाती और पंत जी से मिलती फिर अलीगढ़ लौटती थी''।

नमिता जी को साहित्यिक मूल्य पिता से विरासत में मिले थे तो नैतिक मूल्य माता से। उन्हें दादी रेवती पंत और माता दयावती पंत से स्वतंत्र निर्णय लेने का प्रोत्साहन मिला। नमिता जी बताती हैं ''मेरी दादी रेवती पंत का एक ही शगल था किताब पढ़ना। वह हर तरह की किताबें पढ़ती थीं दैनिक कार्यों से निपटने के बाद हम हमेशा उनके हाथ में किताब ही देखते थे हमारा घर लखनऊ में अमीनाबाद के पास था। जब भी कोई हमारे घर से अमीनाबाद जाता तो एक अनकहा नियम था कि वह कम से कम दो पुस्तकें जरूर खरीद कर लाता और हम जब कभी बाहर जाते तो पुस्तकें खरीदना और उनको पढ़ना हमारी प्राथमिकताएँ थीं।'' नमिता जी की पढ़ाई लखनऊ में हुई है। जब उन्होंने बीएस.सी. कर लिया तब उनका मन आगे पढ़ाई करने का नहीं था। उन्होंने अपने पिता गिरीश पंत को पत्र लिखा और कहा ''मैं अब आगे नहीं पढ़ना चाहती हूँ, आप मुझे ऑल इण्डिया रेडियो में कहीं लगवा दीजिए।'' तब मेरे पिताजी ने कहा ''पहले तुम अपनी पढ़ाई पूरी करो। उसके बाद नौकरी कर लेना, फिर मैं तुम्हारी कविताएँ भी देखूँगा।'' नमिता जी का शुरू से ही रूझान लेखन की तरफ था। घर का वातावरण उनकी रूचियों को बल देता गया। उन्होंने इसके बाद बताया "मैंने एमएस.सी. किया और स्वर्णपदक भी प्राप्त किये। मुझे स्टेट सी.एस.आई.आर. की शोधवृत्ति भी मिल गई। उसके बाद एक चलन–सा होता है कि अब शोध करना है और ज़ाहिर–सी बात है अध्यापन करना है। बहरहाल मेरा मन इसमें नहीं लगा। इस दौरान मैंने लखनऊ में कई जगह साक्षात्कार दिए। मेरा सभी जगहों पर चयन हो गया। परन्तु मैंने कहीं अध्यापन कार्य नहीं किया। इसी समय मेरा रूझान मार्क्सवाद की तरफ हुआ। देखो हमारे घर में एक समस्या थी, जो उस समय नहीं हुआ करती थी। हम जो भी कार्य करते हमें पूरी स्वतंत्रता थी करने की। जब भी मैं कहती मुझे राजनीति में जाना है या मुझे यह करना है तो मुझे पूरी स्वतंत्रता थी। अलीगढ़ मेरे लिए एक विचित्र संयोग था। मेरी एक सहेली के कहने पर मैं अलीगढ़ आई थी। मैंने यहाँ साक्षात्कार दिए और मेरा चयन हो गया। मैं अलीगढ़ अक्टूबर 1966 में आई थी। एक बार वापस मेरा मन डावाँ–डोल हुआ। मैंने अप्रेल के बाद महाविद्यालय ज्वाइन नहीं किया और सी.पी.आई. पार्टी को पूरा समय देने लगी।उस समय सी.पी.आई का एक अखबार निकलता था ''जनयुग''। उसमें भी मैं लिखती थी। फिर कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हुई कि मुझे इस बात का एहसास हुआ कि मुझे नौकरी नहीं छोड़नी चाहिए। मैं राजनीतिक रूप से बहुत संवेदनशील रही हूँ और जनता के मध्य काम करने के लिए उत्सुक। मुझे लगा कि अगर मैंने नौकरी छोड़ दी तो मैं आत्मनिर्भर नहीं रह पाउँगी। मुझे अपनी आवश्यकताओं के लिए

दूसरों पर आश्रित रहना पड़ेगा। इसलिए नौकरी करना मेरा प्रथम सूझ बूझ भरा निर्णय था। जब मेरी जमीन पुख़्ता है तो मैं कोई भी कार्य कर सकती हूँ। अलीगढ़ में मैं जहाँ लड़कियों के छात्रावास में रहती थी वहीं मेरे साथ दो तीन हिन्दी की शोध छात्राएँ भी रहती थीं। कुँवरपाल सिंह उनसे मिलने आते और वे भी वामपंथी विचारों के समर्थक थे। हमारी वैचारिक पृष्ठभूमि एक ही थी। हमारा प्रेम विवाह था, परन्तु परिवार की सहमति से यह षादी हुई थी। जब मैं अलीगढ़ आई थी तब राही साहब अलीगढ़ छोड़कर बम्बई चले गए थे। मैं बी.एससी. में पढ़ती थी तब ''धर्मयुग'' पत्रिका या शायद ''हिन्दुस्तान' थी। उसमें राही साहब का लेख ''उर्दू कविता की भारतीय आत्मा'' आया। उस लेख के साथ राही साहब, की तस्वीर भी थी। वही हीरो टाईप काला चश्मा लगाकर। मैंने सोचा कौन है यह राही जो उर्दू कविता में भारतीय आत्मा की बात कर रहे हैं। लेख पढ़ा, लेख रोचक था। राही की शैली भी अलग थी। इसलिए अलीगढ़ आने के पहले राही मासूम रज़ा के नाम से मैं भली भांति परिचित थी। फिर कुँवरपाल सिंह ने बहुत–सी बातें बतायी कि जब राही चलते हैं तो उनके साथ पूरा झुण्ड चलता है। राही की लँगड़ाहट की लोग अनुकरण करते हैं। राही को कभी अकेला नहीं पाओगी, वह लोगों से घिरे रहते हैं। उनका एक शायराना अंदाज था। राही साहब खुद भी सी.पी.आई के समर्थक थे और कुँवरपाल भी। इसलिए दोनों की विचारधारा बहुत कुछ मिलती थी। इसी कारण दोनों घनिष्ठ मित्र भी थे। मुझे याद है कुँवरपाल सिंह बताते थे, शायद 1965 की बात है, अलीगढ़ में दंगे हुए थे। कुँवरपाल सिंह ''अग्निशिमा'' में रहते थे। राही ने कुँवरपाल सिंह से कहा तुम अपना सामान समेटो और मेरे साथ ''वली मंजिल'' चलो। ''राही बहुत संवेदनशील व्यक्ति थे। कुँवरपाल सिंह और अपने दोस्तों को राही हमेशा गंगौली के बारे में बताते थे। वहाँ जमींदारी प्रथा खत्म होने के बाद क्या परिवर्तन हुए। फिर वर्तमान समय में वहाँ क्या मानसिकता है। यह सभी बातें राही साझा करते थे। फिर उनके दोस्तों ने कहा तुम गंगौली के बारे में इतना बताते हो उस पर कुछ क्यों नहीं लिखते। ''आधा गाँव'' उपन्यास प्रकाशित होने के पहले राही साहब उर्दू लिखते थे। वह शायर के रूप में प्रतिष्ठित थे। जहाँ तक गद्य का प्रश्न है वह लिखते तो थे, एक–दो रातों में पूरा उपन्यास लिख देते थे। उनकी लिखने की गति बहुत तेज थी। मुझे याद है पहले ''जासूसी दुनिया" और ''रूमानी दुनिया'' पत्रिकाएँ बहुत पढ़ी जाती थीं। उसमें राही रोमांटिक विषय लेकर लिखते थे। उससे उनको रूपये मिलते थे और राही अपना खर्च चलाते थे। बचपन में मैं बहुत "जासूसी दुनिया'' पढ़ती थी। मैं आज भी जासूसी किताबें पढ़ती हूँ और जासूसी धारावाहिक देखती हूँ। ''आधा गाँव'' राही ने उर्दू में लिखा था। जिसका लिप्यांतरण कुँवरपाल सिंह ने हिन्दी में किया। कुँवरपाल सिंह बताते थे उस समय दोनों के मध्य घण्टों बहसें होती रहती थीं। राही को लगता था कि इस उपन्यास को हिन्दी में प्रकाशित होना चाहिए क्योंकि उर्दू में इसकी कितनी स्वीकार्यता होगी यह संदिग्ध

है। फिर कुँवरपाल सिंह जी ने कुछ अंश ''कल्पना'' पत्रिका को भेजे। उस समय इसके कुछ अंश छपे भी। जब यह उपन्यास लगभग पूरा हो गया तो कुवँरपाल सिंह जी ने इसके कुछ हिस्से कमलेश्वर को भेजे। कमलेश्वर अक्सर अलीगढ़ आते रहते थे। कमलेश्वर ने इसकी पाण्डुलिपि ली और पढ़ी। उस समय तक ''अक्षर प्रकाशन'' बन चुका था। उसमें तीन लोग थे कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव। ''आधा गाँव'' का प्रथम प्रकाशन 1966 में ''अक्षर'' प्रकाशन से हुआ। इस उपन्यास को रातों रात बहुत प्रसिद्वि मिली । इसके बाद ''अक्षर'' प्रकाशन की स्थिति डावाँ–डोल हो गई। कमलेश्वर इस प्रकाशन से अलग हो गए। इसके पश्चात यह उपन्यास फिर ''राजकमल प्रकाशन'' से छपा। राही फिर हिन्दी की मुख्य धारा के लेखकों में आदर के साथ शामिल कर लिए गए। बहुत से लोगों के पत्र आए। यशपाल ने भी पत्र लिखा। इसके बाद राही के सभी उपन्यास राजकमल प्रकाशन से ही प्रकाशित हुए। राही ''आधा गाँव'' को उर्दू में भी छपवाना चाहते थे। कुँवरपाल जी ने फिर कोशिश की। कुँवरपाल सिंह जी ने सभी जगह पाण्डुलिपि भेजी, लेकिन सभी उर्दू प्रकाशकों ने मना कर दिया। उर्दूवालों की निगाह में राही बहुत बाग़ी रचनाकार थे। वह एण्टी उर्दू माने जाते थे , परन्तु वे वास्तव में एण्टी उर्दू नहीं थे। कहने का अभिप्राय यह है कि राही उर्दू की राजनीति के मुफीद नहीं बैठते थे । परन्तु ''अभिनव कदम'' पत्रिका का राही पर विशेषांक आया तो उस विशेषांक का लोकार्पण जामिया विश्वविद्यालय में हुआ। उस अवसर पर वहाँ के उपकुलपति ने कहा इसको हम छापेंगे। लेकिन इत्तेफाक यह हुआ कि उनके ऑफिस से इसकी पाण्डुलिपि गायब हो गई। समझ रही हो ना, राही के प्रति उर्दूवालों का विरोध। उसके बाद विभूतिनारायण राय से बात हुई। उन्होंने कहा "आप मुझे दीजिए, मैं इसे छपवाउँगा।" विभूतिनारायण उस समय मेरठ में एस. एस.पी. थे। उन्होंने असलम जमशेदपुरी से सम्पर्क किया जो मेरठ कॉलेज के उर्दू विभाग में कार्यरत थे। उन्होंने ''आधा गाँव'' को उर्दू में प्रकाशित करने के लिए एडिट कर दिया। अर्थात् उसमें से सभी गालियाँ निकाल कर संशोधित संपादित संस्करण करके जमशेदपुरी के नाम से प्रकाशित करवा दिया। जब यह प्रकाशित हुआ और उर्दू की एक प्रति हमारे पास आई तब हमें पता चला कि यह तो एक भ्रष्ट संस्करण है। हमने जमशेदपुरी साहब से कहा कि अगर बेगम रज़ा को पता चल गया तो वह आप पर मुकदमा कर देगी। यह उर्दू वालों की मानसिकता कहो या नित्यानंद तिवारी ने गालियों को लेकर जो समूचा अभियान चलाया, उसका परिणाम। लेकिन ''आधा गाँव'' को जिस तरह उर्दू में छपना चाहिए वह आज भी उसके लिए मोहताज है। राही बहुत सहृदय व्यक्ति थे। वे जब भी अलीगढ़ आते, कायदे से पहले हमारे घर आते। उसके बाद हम उनके घर जाते। राही साहब को मेरे हाथ के ''दही बड़े'' बहुत पसन्द थे। वे मुझसे इसकी फरमाइश आने से पहले ही कर देते थे। राही बम्बई चले गये तब पत्रों के माध्यम से बातें होती थीं। बाद में कुँवरपाल जी की

लिखावट खराब हो गयी थी, क्योंकि उनके हाथ लिखते समय काँपते थे। एक बार राही साहब का खत मेरे पास आया और उसमें लिखा था, "देखो, नमिता यह जो के.पी. ने खत लिखा है। मुझे बिल्कुल समझमें नहीं आया। अगली बार के.पी.से कहना कि पत्र तुम से लिखवाये।"

इसके बाद मैंने नमिता सिंह जी से राही मासूम रज़ा की पत्नी नैय्यर रज़ा के बारे में पूछा और उनसे मिलने की इच्छा बताई?

उन्होंने कहा ''देखो, नैय्यर रज़ा तो अब अमेरिका में अपनी बेटी मरियम के पास रहती हैं। वह पिछले दस वर्षों से हिन्दुस्तान नहीं आईं। अभी उनकी तबियत बहुत खराब है। अभी वह डायलेसिस पर हैं। बेगम रज़ा रामपुर घराने की बेटी हैं। इसलिए जब राही ने नैय्यर भाभी से विवाह किया तब उनका विरोध विश्वविद्यालय में और अधिक बढ़ गया था। फिर उन्होंने कहा तुम कुमार पंकज की ''रंजीश ही सही'' पुस्तक पढ़ो। उसमें कुँवरपाल जी पर भी संस्मरण है। जिसमें राही मासूम रज़ा से जुड़ी हुई कई रोचक बातें हैं। भारत के विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग की लड़ाइयाँ और उनकी आपसी रंजीश हिन्दी साहित्य के हर विद्यार्थी को पढ़नी चाहिए।"

मेरा दूसरा प्रश्न था आपने राही मासूम रज़ा का उपन्यास ''कटरा बी आर्जू'' पढ़ा है? आपकी तरफ से इमरजेन्सी में क्या–क्या विरोध हुए थे। उन्होंने कहा हाँ, मैंने ''कटरा बी आर्जू'' पढ़ा है। आपातकाल में मैं सक्रिय रही और हमारी तरफ से विरोध भी बहुत हुए। मैंने उस समय प्रतीकात्मक कहानियाँ लिख कर इसका प्रतिरोध किया। मथुरा से सब्यसाची ''उत्तरार्द्ध'' पत्रिका निकालते थे। उन्होंने ''उत्तरार्द्ध'' का प्रतिरोधी विशेषांक निकाला।'' मैंने पूछा ''सब्यसाची'' क्या बंगाली थे। वे बोली, नहीं, सब्यसाची उपनाम से लिखते थे। उनका मूल नाम श्यामलाल वशिष्ट था। वह बुलंद शहर यू.पी. के रहने वाले थे। मथुरा के बहुत यशस्वी व्यक्तित्व रहे हैं। वे कविताएँ भी लिखते थे। एक बार के.पी. ने उनसे कहा भी ''तुम कविताएँ मत लिखा करो बहुत बुरी कविताएँ लिखते हो।'' लेकिन सब्यसाची का योगदान यह है कि वे छोटी–छोटी पुस्तिकाएँ लिखते थे। जो बहुत प्रचलित भी हुईं। कम से कम 20–25 पुस्तिकाएँ लिखीं। जैसे राहुल सांस्कृत्यान लिखते थे ना कि ''साम्यवाद क्या है'','बदलो, दुनिया से भागो मत'' उसी प्रकार से । वे मथुरा के डिग्री कॉलेज में पढ़ाते थे। उसके बाद मैंने आपातकाल पर ''ठहरा हुआ सवेरा'' प्रतीकात्मक कहानी लिखी। उस समय भय का वातावरण था। हमने कई भूमिगत बैठकें की। मैंने फिलीस्तीनी कहानियों का अनुवाद आपातकाल में किये। चूंकि उस समय प्रतीकात्मकता का बहुत महत्व था, क्योंकि प्रतीकात्मकता उर्दू में बहुत प्रचलित थी। परन्तु आपातकाल में सिर्फ प्रतीकात्मकता के माध्यम से ही विरोध किया जा सकता था। उस समय हमारे पास कई हस्तलिखित पत्रिकाएँ आईं । मैंने इथन ब्रेक और महमूद दरवेश की कविताओं के अनुवाद भी आपातकाल के

विरोध में किए। कुँवरपाल जी के पास एक फिलीस्तीन का लड़का पढ़ने आया था। उसका राजनीतिक रूझान भी था।उसने मुझे फिलीस्तीनी साहित्य लाकर दिये। मैंने उसमें से भी कई कविताओं के अनुवाद किए। यह सब जनवादी लेखक संघ बनने से पहले की बात है। हमनें तीन दिनों की बैठक अलीगढ़ में की। आपातकाल के समय सी.पी.आई. कांग्रेस सरकार का समर्थन कर रही थी। वह इन्दिरा गाँधी के साथ थीं। उस समय सभी लेखक प्रगतिशील साहित्य संघ में ही थे। उसके बाद1980 में जलेस अर्थात जनवादी लेखक संघ की स्थापना हुई थी।"

इसके बाद मैंने नमिता जी से ''वर्तमान साहित्य'' पत्रिका के संबंध में पूछा कि सम्पादन का अनुभव कैसा रहा ?

नमिता जी ने कहा,''मैंने 2004 से 2014 तक सिर्फ दस वर्ष पत्रिका के सम्पादन का दायित्व लिया था। इस अवधि में हमने कई विशेषांक निकाले। जैसे ''यशपाल पुनर्मूल्यांकन'' ''रांगेय राघव मूल्यांकन'' 1857 के स्वतंत्रता संग्राम पर भी एक विशेषांक निकाला। एक बार हमने प्रवासी साहित्य अंक भी निकाला। जो कुछ कारणवश विलम्बित हो गया था। कुँवरपाल जी तनाव में आ गए क्योंकि कुँवरपाल जी साहित्य के प्रति बहुत समर्पित व्यक्ति थे। उनका प्रवासी साहित्य के प्रति बहुत आग्रह था। उन्होंने मुझसे कहा ''तुम अपने प्रोविडेन्ट फण्ड पर ऋण ले लो। कुछ भी हो यह प्रवासी साहित्य अंक पाठकों तक जरूर पहुँचेगा। सभी जगह अफवाहें फैल गईं कि अब "वर्तमान साहित्य" बन्द हो गया है । 2014 अगस्त का अंतिम अंक निकालने के बाद इसका दायित्व मैंने विभूतिनारायण राय को पुनः सौप दिया।"

मैंने नमिता जी से पूछा कि राही मासूम रज़ा के साहित्य के हस्तलिखित नमूने हैं तो आप मुझे दीजिए।

उन्होंने कहा ''राही मासूम रज़ा ने अपनी मृत्यु से पहले अपनी हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ, पत्र, कहानियाँ, स्तम्भ, आलेख सभी कुँवरपाल जी को दे दी थीं। कुँवरपाल जी ने अपने जीते जी राही मासूम रज़ा के साहित्य का विभाजन करके समग्र निकालने के लिए समस्त लिखित सामग्री की अनुक्रमाणिका बना दी थीं। कुँवरपाल जी ने राही मासूम रज़ा के शोध ग्रंथ का भी हिन्दी में अनुवाद करवाया था। डॉ. सीमा सगीर ने उनके शोध ग्रंथ का भी हिन्दी में अनुवाद किया । उनकी पाण्डुलिपि "वाणी प्रकाशन'' के पास कई सालों से पड़ी है । राही मासूम रज़ा का एम.ए में विनिबंध ''यागाना चंगेजी'' पर था । उसका हिन्दी अनुवाद मेहताब हैदर नकवी द्वारा किया गया है। इसकी पाण्डुलिपि षिल्पायन प्रकाषन के पाास है । उसे भी कुँवरपाल ने उनके समग्र में शामिल किया है। सम्पूर्ण साहित्य का विभाजन कर उसकी अनुक्रमाणिका बनाकर अरूण माहेश्वरी जो''वाणी

प्रकाशन'' के संचालक हैं उनको दे दी थी। यह 2009 से पहले की बात है। इसके बाद बेगम रज़ा ने एक शपथ पत्र बनवाया जिसमें लिखा था कि राही के समग्र का संपादन कुँवरपाल सिंह करेगें परन्तु उसका कॉपी राईट नैय्यर रज़ा का होगा। राजकमल प्रकाशन के अशोक माहेश्वरी ने बेगम रज़ा को कहा कि ''मैं राही मासूम रज़ा की ग्रंथावली छाप दूँगा। ''अब हुआ क्या कि वाणी प्रकाशन और राजकमल प्रकाशन में केस–बाजी हो गई। दोनों प्रकाशकों के झगड़े में राही मासूम रज़ा का साहित्य उलझ गया। ना अब वह किसी शोध छात्र के काम आ रहा है ना ही पाठक के। उसमें राही मासूम रज़ा का एक अधूरा उपन्यास भी है। यही हमारे समय के साहित्यकों की दुर्गति है। राजकमल प्रकाशन जब शीला संधु जी के पास था तब ऐसी स्थिति नहीं थी। शीला संधु एक समझदार महिला थीं। वे साहित्यकारों को प्रोत्साहन देती थीं।

नमिता जी से मेरी बहुत लम्बी बातें हुईं। उन्होंने अनेक रोचक अनजाने पहलुओं से मुझे अवगत करवाया। मुझसे बातें करने के साथ वह मेरी माताजी से भी लगातार बातें करती रहीं। उन्होंने हमें सुस्वादु भोजन भी करवाया। मेरे गुरूजी शशि प्रकाश चौधरी जी ने मुझसे एक बार कहा था जो कार्य कॉल मार्क्स के लिए एंगेल्स ने किया वही कार्य कुँवरपाल सिंह जी ने राही मासूम रज़ा के लिए किया। उनको हिन्दी साहित्य की दहलीज पर लाने का श्रेय कुँवरपाल सिंह जी को है। तभी तो राही मासूम रज़ा ने कुँवरपाल सिंह को ''आधा गाँव'' में आधे सफर का पूरा दोस्त कहा था।

निस्संदेह ऐसे सार्थक क्षण जीवन में बहुत काम आते हैं जब आप सावन के बादलों की तरह भरे हुए अनुभव करें। जब मैं कोटा के लिए लौट रही थी, तब नमिता सिंह जी के साथ बिताये पल भँवर लपेटे हुए मेरी चाल सुस्त कर रहे थे। नमिता जी एक पूरे काल खण्ड की सजीव प्रतिनिधि हैं। नमिता जी के नयन से मैंने कुँवरपाल सिंह और राही मासूम रज़ा दोनों के दर्शन किए। विद्यापति की पंक्ति याद आयी ''नयन न तिरपित भेल।''

अनुकृति तम्बोली

राही मासूम रज़ा द्वारा हस्तलिखित आलेख की प्रतिलिपि

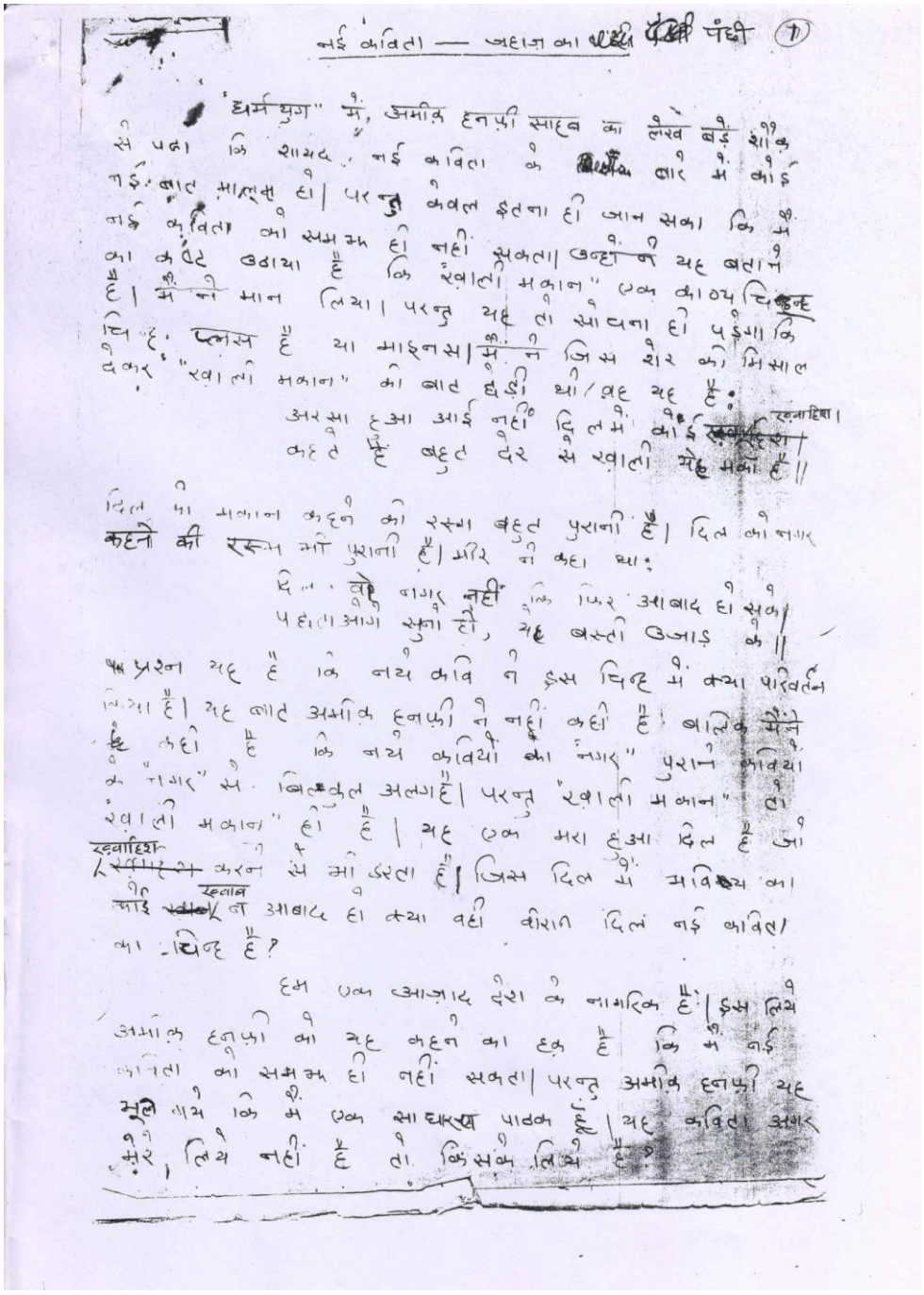

"धर्मयुग" में, अमीक़ हनफ़ी साहब का लेख बड़े शौक़ से पढ़ा कि शायद नई कविता के बारे में कोई नई बात मालूम हो। परन्तु केवल इतना ही जान सका कि मैं नई कविता को समझ ही नहीं सकता। उन्होंने यह बताने का कष्ट उठाया है कि "ख़ाली मकान" एक काव्य चिह्न है। मैंने मान लिया। परन्तु यह तो सोचना ही पड़ेगा कि चिह्न प्लस है या माइनस। मैंने जिस शेर की मिसाल देकर "ख़ाली मकान" की बात छेड़ी थी/वह यह है:

अरसा हुआ आई नहीं दिल में कोई ~~ख़्वाहिश~~ ख़्वाहिश।
कहते हैं बहुत देर से ख़ाली ये मकाँ है॥

दिल को मकान कहने की रस्म बहुत पुरानी है। दिल को नगर कहने की रस्म भी पुरानी है। मीर ने कहा था:

दिल वो नगर नहीं कि फिर आबाद हो सके।
पछताओगे सुनो हो, यह बस्ती उजाड़ के॥

प्रश्न यह है कि नये कवि ने इस चिह्न में क्या परिवर्तन किया है। यह बात अमीक़ हनफ़ी ने नहीं कही है। बल्कि मैंने कही है कि नये कवियों का "नगर" पुराने कवियों के "नगर" से बिल्कुल अलग है। परन्तु "ख़ाली मकान" तो "ख़ाली मकान" ही है। यह एक मरा हुआ दिल है जो ~~ख़्वाहिश~~ ख़्वाहिश करने से भी डरता है। जिस दिल में भविष्य का कोई ~~ख़्वाब~~ ख़्वाब न आबाद हो क्या वही वीरान दिल नई कविता का चिह्न है?

हम एक आज़ाद देश के नागरिक हैं। इस लिये अमीक़ हनफ़ी को यह कहने का हक़ है कि मैं नई कविता को समझ ही नहीं सकता। परन्तु अमीक़ हनफ़ी यह भूल न जायें कि मैं एक साधारण पाठक हूँ। यह कविता अगर मेरे लिये नहीं है तो किसके लिये है?

एक साधारण पाठक की तरह मुझे यह कहने का हक़ नहीं कि नई कविता के नाम पर लिखी जाने वाली कवितायें जीने का हौसला नहीं देतीं। ये कवितायें अँधेरा बढ़ा रही हैं। यह तो मैं भी मानता हूँ कि हमारा समाज एक खण्डहर है। हमें यह जानने के लिये किसी नई कविता की ज़रूरत नहीं है। क्या कवि का कर्त्तव्य केवल यह है कि वह यह कहकर कविता को समाप्त करदे कि हम एक खण्डहर में रह रहे हैं? खण्डहर में रहने वालों को भी यह बात मालूम है। कवि का कर्त्तव्य तो यह है कि वह खण्डहर वालों को एक घर का ख़्वाब दे — ख़्वाब केवल कवि दे सकता है। नये कवि के पास कोई ख़्वाब नहीं है। कई सौ बरस पहले मीर तक़ी मीर ने कहा था:

एक उठता है तो सौ मरने को आ बैठे हैं।
मुद्दतों से है ये दस्तूर हमारे हाँ का॥

नये कवियों में मरने का यह दस्तूर नहीं है। और यही कारण है कि नई कविता को पाठक नहीं मिल रहे हैं।

मैं नई कविता का विरोधी नहीं हूँ। परन्तु कहीं नई कविता दिखाई दे तब तो उसका इस्तकबाल करूँ। मैंने अमीक़ हनफ़ी के महा-काव्य "सिन्दबाद" को भी चार बार पढ़ कर समझने की कोशिश की परन्तु समझ में नहीं आया कि नया कवि केवल उन्हीं चीज़ों को देख सकता है जिन्हें साधारण आदमी भी देख लेते हैं। और यह समझ में आया कि "नई कविता" के ये नये कवि साधारण आदमियों के साधारण ख़्वाबों की भाषा नहीं जानते। पाठक को ईलियट, सूरदास और मीर के पत्थर मारने से काम नहीं चलेगा। ये कवि जहाज़ के पंछी हैं। अपनी ज़ात के जहाज़ में गिरफ़्तार हैं और चारों ओर जो विशाल जीवन-सागर ठाठें मार रहा है ये उस पर उड़ान लेने से डरते हैं।

नई कविता नई चेतना के साथ आयेगी। और जब नई चेतना दिखाई देगी तो मैं उसे पहचान लूँगा। मैं नई कविता की राह

तब से देख रहा हूं जब अमीक़ हनफ़ी ने नई कविता लिखना शुरू भी नहीं किया था।

नई कविता के लिये प्रगतिशील होना ज़रूरी नहीं है। जो कविता प्रगतिशील नहीं वह कुछ और तो हो सकती है परन्तु नई नहीं हो सकती।

मैं नये कवियों की रचनाओं को बड़े प्यार और शौक़ से पढ़ता हूं परन्तु उसमें मुझे आज तक कोई नयापन नज़र नहीं आया है। नये कवियों ने कविता के सिनेरियो को अवश्य बदला है। यह बात मैं कई बार कह चुका हूं। परन्तु यह नया मंज़र अभी तक उनकी काव्य आत्मा का अंग नहीं बना और इसी लिये नये कवि नये सिनेरियो के साथ पुरानी कविता ही लिख रहे हैं।

यह तो ठीक है कि व्यक्ति दिन-ब-दिन मजबूर होता जा रहा है यह भी ठीक है कि उसके पैरों में पड़ी हुई ज़ंजीरों का बोझ दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। यह भी ठीक है कि इस समाज का आकाश बहुत नीचा है और उसके नीचे कोई पूरा खड़ा नहीं हो सकता। परन्तु किया क्या जाये? नई कविता इसी "परन्तु" के पास रुक जाती है। नया कवि जब तक इस 'परन्तु' से आंखें नहीं मिलाता उसे अपने आप को नया कवि कहने का हक़ नहीं पहुंचता।

मैं केवल एक लेखक ही नहीं हूं। मैं एक पाठक भी हूं और मुझे यह पूछने का हक़ है कि साहित्य में अंधेर क्यों मचाया जा रहा है। मैं अगर बुरा शायर हूं तब भी पाठक होने के नाते मुझे जो हक़ मिलता है उसे मेरी शायरी की खराबी के कारण नहीं छीना जा सकता। किताब इसी लिये छापी जाती है कि लोग उसे खरीदें और पढ़ें। मैं भी किताबें खरीदता और उन्हें पढ़ने की कोशिश करता हूं। और अगर हम कोई चीज़ खरीदते हैं तो हमें अपनी समझ के अनुसार उसे अच्छा या बुरा कहने का हक़ है। अमीक़ हनफ़ी अगर अपनी किताब लेकर बाज़ार

मैं आये हैं तो उन्हें ख़रीदार की बात बड़े दिल से सुननी पड़ेगी। कोई दुकानदार ख़रीदार से यह नहीं कह सकता कि तुम क्या जानो? ख़रीदार एक्सपर्ट नहीं होता परन्तु पैसा उसी की जेब से निकलता है. इस लिये वह मांग कर सकता है कि उससे तमीज़ के साथ बात की जाये। किसी बदतमीज़ दुकानदार की दुकान नहीं चल सकती। नये कवियों को पाठक का आदर करना पड़ेगा। मैं अमीक़ हनफ़ी से अधिक पढ़ा-लिखा होने का दावा नहीं करता। परन्तु मैं भी ख़ासा पढ़ा-लिखा आदमी हूँ — परन्तु मैं बे-मानी कविता को मानी पहनाने का काम नहीं करता। जिस दिन यह "नई कविता" मेरी समझ में आ जायेगी उस दिन मैं इसी ज़ोर-शोर से यह भी कहूँगा कि मैं ग़लती पर था। परन्तु मैं रौब में आकर किसी ख़राब ~~चीज़~~ चीज़ को अच्छा नहीं कह सकता।

बात अमीक़ हनफ़ी की हो रही है इस लिये मैं उनके "महाकाव्य" "सिन्द बाद" के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ।

ग्रामर

कविता/~~ग्रामर~~ की किताब नहीं होती परन्तु हम ये फ़र्ज़ करते हैं कि कवि "था" और 'है', और 'था' और 'तो' का फ़र्क़ जानता है। सिन्द बाद की बातें सुनिये:

मैं सैलानी सिन्द बाद
अपनी और पराई धुन में
सागर तट पर घूम रहा था।
मैंने देखा
भूरी रेत,
~~उस~~ उजला आकाश,
कुहरे के काले परदों में दबी छुपी सा
इक सूरत पाता जाता है
और इक बूढ़ा ...
कुहरे से बाहर आता है
कुहरे से बाहर आकर वह कुबड़ा बूढ़ा

मुझसे बोला...

कथा एक ही है। कुबड़ा बूढ़ा बाहर "आता है" "और बोला"
* या तो यह होता कि कुबड़ा बाहर आया और बोला। या फिर यूँ ही कि कुबड़ा बाहर आता है और यह कहता है। "आता है" और "बोला" का कोई मेल नहीं है। क्या "नई कविता" इसी का नाम है कि भाषा के साधारण नियम भी भुला दिये जायें? काव्य भाषा-विज्ञान का नाम नहीं है परन्तु काव्य भाषा ही पर निर्भर होता है। भाषा साहित्य का बदन भी है और एक हद तक आत्मा भी क्योंकि ख़्याल शब्द ही का वस्त्र पहनता है — कोई नंगा ख़्याल मैंने तो अब तक देखा नहीं। इस लिये मैं उन कवियों की इज़्ज़त नहीं कर सकता जो भाषा की इज़्ज़त न करते हों — बल्कि जो भाषा से प्यार न करते हों। भाषा की गुलामी अलग चीज़ है और भाषा से प्यार अलग।

अब इस सिन्दबाद के उस व्यक्तित्व को देखिये जिसकी बात ये नये कवि बड़े चाव से करते हैं। सिन्दबाद लड़ता नहीं बल्कि जब वह बूढ़ा पीठ पर लद गया तो:

एक एक कदम उठाता गया मौत की वादी की पैमाइश।
ज़ेहन पे तारीकी की चादर
सिम्तें, घड़ियाँ, राहें, मंज़िल
सब लायानी...
वक़्त का पहिया...
* और शऊर के ख़ायफ़ घोड़े
पीछे, उलटी जानिब, उलटे पैरों भाग रहे थे।

जब यह हालत हुई तो सिन्दबाद ने क्या किया?
* मैंने उस बूढ़े को रेत के इक तूदे पर
अपनी पीठ से झटका देकर पटक दिया
और मैं भागा।

यह नया सिन्दबाद भी पुराने सिन्दबाद की तरह भागा।

(6)

मैं अपनी तरफ़ से कुछ कहूँगा तो अमीक़ हनफ़ी ख़फ़ा होकर यह बताने लगेंगे कि उनके बुक-शेल्फ़ में कौन-कौन-सी किताबें हैं। इस लिये मैं उन्हीं की बात उन्हें और आप को सुनाना चाहता हूँ:

आर्ज़ू ही नहीं, जुस्तजू भी नहीं
आर्ज़ू जिस जगह थी वहाँ ज़ख़्म है
ज़ख़्म है और सीना भी रोशन नहीं

इस अँधेरे सीने का नतीजा यह हुआ कि:

आज ईमान का कोई मसकन नहीं।
कोई मावा नहीं कोई मामन नहीं।।

अमीक़ हनफ़ी के पास कोई आइडियल नहीं है। उन्हें किसी चीज़ की तलाश नहीं है। उनके ईमान के पास रहने के लिये कोई घर नहीं है। उनके पास कोई आर्ज़ू नहीं है; उनके सीने में कोई चिराग़ नहीं जल रहा है। उनके पास कोई रास्ता नहीं है। उनके पास कोई मन्ज़िल नहीं है। नाराज़गी, "नहीं" के जाल ने उन्हें जकड़ रक्खा है। ऐसे कवियों से उम्मीद ही क्या हो सकती है।

इन शायरों को अपने ख़ोल से बाहर आना पड़ेगा। जीवन का मूल्य, उनके व्यक्तित्व के मूल्य से बहुत ज़्यादा है। व्यक्तित्व जीवन धारा से कट कर जीवित नहीं रह सकता। यह तो मालूम हो गया कि उन की झोली में क्या-क्या नहीं है। अब कोई जियाला यह बताने का कष्ट उठायेगा कि उनकी झोली में है क्या?

राही मासूम रज़ा

राही मासूम रज़ा द्वारा लिखित 'महाभारत' के संवाद की दुर्लभ मूल प्रतिलिपि

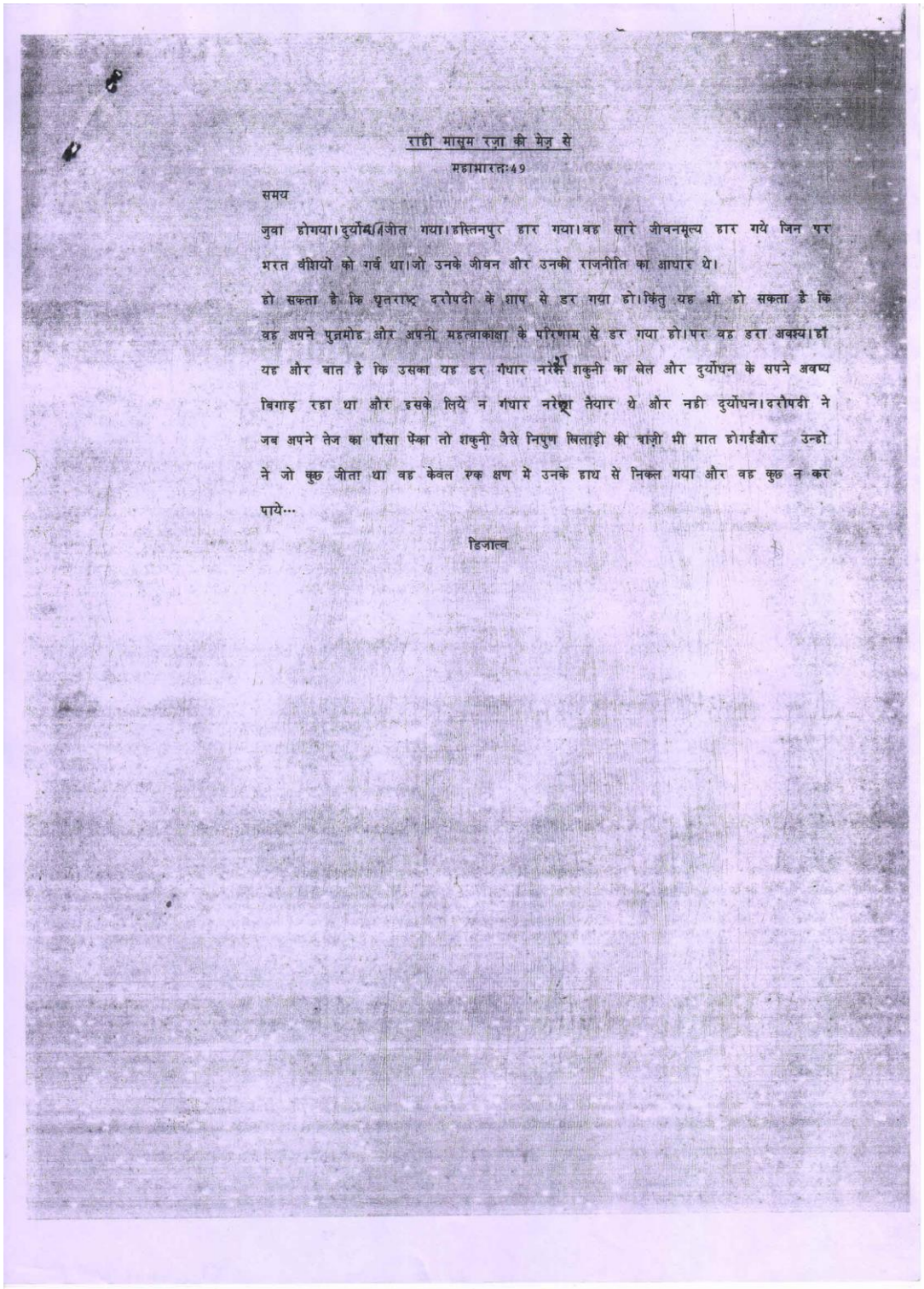

राही मासूम रज़ा की मेज़ से

महाभारतः49

समय

जुवा होगया। दुर्योधन जीत गया। हस्तिनपुर हार गया। वह सारे जीवनमूल्य हार गये जिन पर भरत वंशियों को गर्व था। जो उनके जीवन और उनकी राजनीति का आधार थे।

हो सकता है कि धृतराष्ट्र दरौपदी के शाप से डर गया हो। किंतु यह भी हो सकता है कि वह अपने पुत्रमोह और अपनी महत्वाकांक्षा के परिणाम से डर गया हो। पर वह डरा अवश्य। हाँ यह और बात है कि उसका यह डर गंधार नरेश शकुनी का खेल और दुर्योधन के सपने अवश्य बिगाड़ रहा था और इसके लिये न गंधार नरेश तैयार थे और नही दुर्योधन। दरौपदी ने जब अपने तेज का पाँसा फेंका तो शकुनी जैसे निपुण खिलाड़ी की बाज़ी भी मात होगईऔर उन्हो ने जो कुछ जीता था वह केवल एक क्षण में उनके हाथ से निकल गया और वह कुछ न कर पाये...

डिज़ाल्व

राही मासूम रज़ा की मेज़ से

महाभारत:50

समय

इस कथा का अंतिम अध्याय तो लहू से लिखा जायेगा परंतु जो अध्याय मै सुनाने जा रहा हूँ वह मै ने अपने आँसुओं से लिखा है।क्योंकि यह बिदाई की घड़ी है।क्योंकि क्योंकि यह सभ्यता और राजनीति ,दोनो ही के लज्जित होने की घड़ी है।…हे देवी देवताओं की भूमि,भारत वर्ष,क्षण भर के लिये अपनी आँखें बंद करले क्योंकि क्षत्रानियों की क्षत्रगानी कुंती अपने पुत्रों और पुत्रग चधु द्रौपदी को लेकर,कुरु राज्यसभा सभा,गंगापुत्र भीष्म,कुलगुरु कृपाचार्य,आचार्य द्रोण और अपने ज्येष्ठश्री,हस्तिनापुर नरेश,धृतराष्ट्र से वन की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा माँगने आने वाली है…यदि कुंती चाहती तो राज्य सभा मे आये बिना भी जा सकती थी।परंतु वह राज्य सभा मे जान बूझ कर आ रही है।उसे यह बताने कि उसका परिवार अपमानित नही हुवा है।कि अपमानित तो हुवा है हस्तिनापुर का सिंहासन।अपमानित तो हुये है गंगापुत्र भीष्म,अपमानित तो हुये है कुलगुरु कृपाचार्य।अपमानित तो हुये है आचार्य द्रोण।और अपमानित तो हुई है कुरुवंश की मर्यादा।इसलिये अपनी आँखें झुका कर कुंती के आने की प्रतीक्षा की जिये…

डिज़ाल्व

राही मासूम रज़ा की मेज़ से

महाभारत:5।

समय
मनुष्य भी बड़ा विचित्र प्राणी है. वही सुनता है जो सुनना चाहता है और

महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र को यह बताया तो अवश्य कि अहंकार के वृक्ष पर विनाश का फल
धृतराष्ट्र ही भी तो जानते थे

परंतु धृतराष्ट्र के कानों में तो उसकी महत्वाकांक्षा ने अपनी उंगलियाँ दे रखी है। उन्होंने तो शायद महऋषि का वाक्य सुना भी नही।और दुर्योधन तक उनकी आवाज़ पँहुची नही।तो इस बात के केवल दो साक्षी है।गांधारी और मै।और हम दोनो ही विवश है।दुर्योधन गांधारी को कहा मानेगा नही और मै दुर्योधान से कह नही सकता क्योंकि मै तो कर्मभूमि हूँ।मै चेतवसनी देकर स्वयं अपनी मर्यादा का उलंघन नहीं कर सकता।शायद इसी लिये लोग घट जाने वाली दुर्घटना को होनी कह कर अपने दायित्व को नकारने का प्रयत्न करते है।परंतु **होनी** अपने आप मे कुछ नही है।होता वही है जो **व्यक्ति** स्वयं चाहता है और करता है।वह तो **होनी** या **भाग्य** को ढाल बना कर अपने कर्मों का दायित्व विधाता की ओर सरका देने का प्रयत्न करता है।क्योंकि यदि भाग्य रेखा ही कर्तव्य रेखा है तब तो सभी ठीक हैं। फिर पाप क्या और पुण्य क्या?स्वर्ग क्यों और नरक क्यों?मनुश्य के पास चुनने का अधिकार है और इसी लिये अपने कर्मों का दायित्व स्वयं उसी पर है।युधिष्ठिर ने धर्म को चुना है और दुर्योधन ने अभिमान को।और यह तो महऋषि व्यास कह ही चुके है कि अभिमान के वृक्ष पर विनाश का फल आता है।और उन दिनों दुर्योधन से बड़ा तो अभिमान का कोई वृक्ष था ही नही। धृतराष्ट्र पर आता है. परंतु उसके (डिजाल्व) कानों में उसकी महत्वाकांक्षा ने उंगली दे रखी है.

Samay
मनुष्य भी बड़ा ही विचित्र प्राणी है. वही सुनता है जो सुनना चाहता है. और इसीलिये घट जाने वाली दुर्घटना को "होनी" कह कर वह अपने दायित्व को नकारने का प्रयत्न करता है. परंतु "होनी" अपने आप में कुछ नहीं. होता वही है जो व्यक्ति स्वयं चाहता है और करता है. वह "होनी" या "भाग्य" को ढाल बना कर अपने कर्मों का दायित्व विधाता की ओर सरका देता है. परंतु यदि भाग्य रेखा ही कर्तव्य रेखा है तब तो सभी ठीक है. फिर पाप क्या और पुण्य क्या? स्वर्ग क्यों और नरक क्यों? धृतराष्ट्र भी पर आता है किंतु उसके कानों में उसकी महत्वाकांक्षा ने उंगली दे रखी है.

है. वह तो महऋषि व्यास की आवाज भी ठीक से नहीं सुन पायेगा.
Dissolve.

'महाभारत' के संवाद लिखने से पूर्व एक सीरीयल 'बहादुर शाह जफर' और एक सौ अस्सी फिल्में लिख चुके हैं। साहित्य से फिल्म लेखन में आए हैं और 'महाभारत' को एक महत्वपूर्ण व गंभीर सीरीयल मानते हैं।

प्रस्तुत हैं राही मासूम रजा से संक्षिप्त बातचीत—

'आपने 'महाभारत' से पहले कभी कोई धार्मिक नाटक, कहानी, उपन्यास या फिल्म लिखी है ?'

'नहीं, मैंने आज तक कोई धार्मिक फिल्म या प्ले नहीं लिखा है। 'महाभारत' ही लिख रहा हूँ और मैं इसे धार्मिक नहीं मानता।'

'क्या आपको इतना लंबा सीरीयल लिखते समय किन्हीं खास बातों या कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ?'

'एक ही कठिनाई है, टेंशन। इस सीरीयल के संवाद लेखन ने मुझे तनाव में डाला है। ऐसी टेंशन मैंने कभी फिल्म लिखने में महसूस नहीं की। जहाँ तक चरित्रों के तारतम्य, उनकी कंटीन्यूटी का प्रश्न है हमने पंडित जी (नरेंद्र शर्मा) और अन्य लेखकों के साथ मिल कर काफी रिसर्च-वर्क और होमवर्क किया

'महाभारत' सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन पर प्रभाव डालता है'

□ नरेंद्र उपाध्याय

डा. राही मासूम रजा

है। इसीलिए कोई ऐसी कठिनाई विशेष नहीं आई।'

'आप 'महाभारत' के चरित्रों के लिए चुने गए कलाकारों से संतुष्ट हैं ?'

'हाँ, इसलिए भी संतुष्ट हूँ क्योंकि हर प्रमुख पात्र की कास्टिंग के समय मैं खुद भी मौजूद रहा हूँ। 'महाभारत' के महत्वपूर्ण चरित्रों के लिए एक-एक कलाकार को चुन लिया जा रहा है। कलाकारों के चयन में मुझे संतोष है।'

'कोई चीज संपूर्ण नहीं होती। 'महाभारत' में भी बहुत-सी कमियाँ हैं। आपकी दृष्टि में यह कमियाँ या कमजोरियां क्या हैं ?'

'मुझे कमियां साफ दिखाई देती है। हमने कभी यह दावा नहीं किया कि हमने सर्वश्रेष्ठ 'महाभारत' बनाया है और हमसे अच्छा कोई नहीं बना सकता। मुझे सीरीयल में दो कमियां महसूस होती हैं। एक तो कन्टीन्यूटी की गलतियां हैं और दूसरे : लिमिटेड रीसोर्सेज है। सीरीयल में कुछ चीजों के लिए हम सीमा से बंधे हैं। चाह कर भी उसी धन या अधिक साधन नहीं जुटा सकते। कई चीजें दिखाना भी संभव नहीं हैं। इस सीमा के कारण ही कई चीजें अपने पूरे उभार, प्रभाव के साथ नहीं आ पाती हैं।'

'संवाद लिखते समय आप किन सावधानियों को सामने रखते हैं ?'

'सबसे अधिक सावधानी मैं इस बात पर देता हूँ कि संवादों में अरेबियन और पर्शियन शब्दों का प्रयोग ज्यादा न हो। जो कुछ कामन शब्द हैं, वे तो मूल संस्कृत में भी हैं, तो वे तो हिन्दी में भी आएंगे। किंतु मैं शब्दों को इतना प्रभावित भी नहीं होने देता कि वे सीरीयल के वातावरण को ही बदल दें।'

''रामायण देखते हैं ?'

'यैस।'

'कैसा लगता है ?'

'नो कमेंट।'

''महाभारत और 'रामायण' में से किसे श्रेष्ठ मानते हैं ?'

'फिर नो कमेंट।'

'क्या आप ऐसा महसूस करते हैं कि 'महाभारत' एक ऐसा सीरीयल है जो आम दर्शक के सामाजिक और निजी जीवन पर प्रभाव डालता है ?'

'जरूर डालता है और डाल रहा है। इसके निर्माण करने का सबसे बड़ा मकसद ही यह है कि यह दर्शक पर असर डाले। यह असर बराबर पड़ रहा है। 'महाभारत', के चरित्र और उनका दर्शन हर हालत में प्रभाव छोड़ता है। कभी कम, नहीं ज्यादा।'

'सीरीयल का कौन-सा एपीसोड लिखते समय आपको अधिक मुश्किल महसूस हुई ?'

'असल में हर वो एपीसोड मुश्किल होता है जिसमें ड्रामा न हो। कई एपीसोड ऐसे हैं जिनमें चरित्र तो कई हैं लेकिन वे नाटकीय स्थितियाँ नहीं हैं जो संवादों को धारदार और स्पर्शी बनाती हैं। मैं तो ऐसे दृश्यों में भी कोशिश करता हूँ कि प्रभाव बना रहे।'

'क्या यह कहना सही नहीं है कि 'महाभारत' जितनी विशाल स्क्रिप्ट है टी.वी. का पर्दा उतना ही छोटा है, और टीवी. के पर्दे पर यह सीरीयल उतना विराट महसूस नहीं होता ?'

'टी.वी. दरअसल संवाद का ही माध्यम है। इसलिए अन्य बातों से पहले महत्वपूर्ण यह है कि संवाद कितने सटीक और प्रभावशाली हैं। अब बड़े पर्दे पर भी कोई 'महाभारत' बनाएं तो वह भी चार सौ घंटे की फिल्म नहीं बना सकता। किंतु सीरीयल लंबाई के हिसाब से जहाँ विराट है वहीं उसकी घटनाएं और चरित्र उसे विशाल बनाते हैं।'

'क्या आपको ऐसा महसूस होता है कि 'महाभारत' को जितनी लोकप्रियता मिलनी चाहिए थी, उतनी नहीं मिली है ?'

'नहीं, मैं ऐसा बिल्कुल नहीं सोचता। क्योंकि 'महाभारत' जिस तरह लोकप्रिय हुआ है। वह हमारी उम्मीद से कहीं ज्यादा है। हमने वास्तव में यह नहीं सोचा था कि यह इस सीमा तक लोकप्रिय होगा।'

''महाभारत' के अलावा भी कोई सीरीयल लिख रहे हैं ?'

'हाँ, एक तो बी.आर. फिल्मस् का टी.वी. सीरीयल 'सौदा' है। दूसरा सीरीयल जो मैंने अभी लिखकर दिया है, वह 'पंचतंत्र' है।'

'लेखन के दौरान कोई घटना ?'

'क्या 'महाभारत' लिखना अपने आपमें एक घटना नहीं है ? (मुस्कान)

पटकथा लेखक राही मासूम रजा

पंडित नरेंद्र शर्मा

बाएँ से स्व. जुगल परिहार जी ('माणक' राजस्थानी मासिक पत्रिका, के उपसंपादक), प्रो. जहूर खाँ मेहर (सेवानिवृत्त आचार्य–इतिहास, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर) और पिताजी डॉ. प्रकाश कुमार तम्बोली के सानिध्य में दिनांक 27.03. 2019 को जोधपुर में प्रो. जहूर खाँ मेहर के आवास पर साक्षात्कार लेते हुए।

30 मई 2019 को अलीगढ़ में डॉ. नमिता सिंह जी से उनके आवास पर डॉ. राही मासूम रज़ा के संदर्भ में साक्षात्कार लेते हुए